THE BOOK WAS DRENCHED

आधुनिक हिंदी साहित्य

आधुनिक हिंदी साहित्य

[१८५०-१९०० ई०]

लेखक

डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, एम० ए०, डी० फिल०, डी० लिट्०,

हिन्दी विभाग, इलाहाबाद यूनीवर्सिटी

[संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण]

हिंदी परिषद्

इलाहाबाद यूनीवर्सिटी

१९४८ ई०

प्रथम संस्करण, अप्रैल १९४१ ई०
संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण
अप्रैल, १९४८ ई०

मूल्य ६)

मुद्रक—मगनकृष्ण दीक्षित, दीक्षित प्रेस, इलाहाबाद।

स्वर्गीया माता जी

देवी छवि कुँवरि

तथा

स्वर्गीय पिता जी

सेठ गणेशीलाल जी

की पुण्य एवं पावन

स्मृति

में

परिचय

स्वर्गीय पं० रामचन्द्र शुक्ल ने हिंदी साहित्य के इतिहास की प्रथम पूर्ण आलोचनात्मक रूपरेखा तैयार की थी। उसके बाद से इस आवश्यकता का अनुभव प्रतिदिन होने लगा कि अब हिंदी के प्रतिनिधि कवियों, साहित्य की विशेष धाराओं तथा कालों का विस्तृत अध्ययन होना चाहिए। प्रयाग विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में खोज करने वाले विद्यार्थियों को इस दृष्टि से भिन्न-भिन्न कार्यों में लगाया गया। हिंदी साहित्य के आधुनिक काल के विशेष अध्ययन को डी० फ़िल्० के दो विद्यार्थियों ने चुना था—डॉ० लक्ष्मी-सागर वार्ष्णेय ने १८०० से १९०० ई० तक के काल को छाँटा था तथा उनके सहपाठी डा० श्रीकृष्ण लाल ने १९०० से १९२५ ई० तक के काल का अध्ययन प्रारम्भ किया था।

उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध की सामग्री के प्रचुर मात्रा में न मिलने के कारण आगे चलकर डॉ० वार्ष्णेय ने अपने थीसिस के विषय को उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक ही सीमित रखना उचित समझा। "हिंदी साहित्य का विकास (१८५०-१९०० ई०)" शीर्षक थीसिस पर प्रयाग विश्वविद्यालय ने उन्हें डी० फ़िल्० की उपाधि दी। यहाँ यह उल्लेख कर देना अनुचित न होगा कि डॉ० वार्ष्णेय के थीसिस के परीक्षकों में हिंदी के लब्ध-प्रतिष्ठ तथा अनुभवी विद्वान् स्वर्गीय राय बहादुर (बाद को डॉ०) श्याम-सुन्दर दास तथा स्वर्गीय पं० रामचन्द्र शुक्ल भी थे और दोनों ही सज्जनों ने डॉ० वार्ष्णेय की इस कृति के सम्बन्ध में अपना पूर्ण संतोष प्रकट किया था।

डॉ० वार्ष्णेय के अँगरेज़ी में लिखे हुए इस डी० फ़िल्० के मूल थीसिस का संक्षिप्त हिंदी रूपान्तर पहले प्रकाशित हुआ। हिंदी जनता, विद्यार्थी वर्ग तथा विद्वान् पाठक विश्वविद्यालयों के खोज सम्बन्धी कार्य के संपर्क में रह सकें इस दृष्टि से प्रयाग विश्वविद्यालय हिंदी परिषद् ने इसे प्रकाशित करना उचित समझा। इस उद्देश्य की पूर्ति में यह प्रकाशन सहायक सिद्ध हुआ यह इससे स्पष्ट है कि इसका प्रथम संस्करण शीघ्र ही समाप्त हो गया और द्वितीय संस्करण प्रकाशित करने की आवश्यकता पड़ी। जैसा ऊपर उल्लेख किया गया है इस ग्रंथ का प्रथम संस्करण थीसिस का संक्षिप्त

रूपान्तर था। इस द्वितीय संस्करण में पूर्ण थीसिस पहली बार दिया जा रहा है तथा साथ ही अनेक आवश्यक संशोधन तथा परिवर्द्धन भी सुयोग्य लेखक ने किए हैं। फलस्वरूप इस संस्करण की पृष्ठसंख्या काफ़ी बढ़ गई है।

थीसिस की इस माला में परिषद् ने डॉ० वार्ष्णेय के ग्रंथ के उपरान्त निम्नलिखित ग्रंथ प्रकाशित किए: डॉ० माताप्रसाद गुप्त का 'तुलसीदास', डॉ० श्रीकृष्ण लाल का 'आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास (१६००-१६२५)' तथा डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा का 'सूरदास—जीवनी तथा कृतियों का अध्ययन'। इन सभी को विद्वान् पाठकों ने उपयोगी पाया क्योंकि लगभग सभी के एक से अधिक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

अन्त में मुझे यह सूचित करते हुए हर्ष है कि डॉ० वार्ष्णेय ने इस बीच डी० लिट्० की उपाधि निम्नलिखित विषय पर प्राप्त की है:—'हिंदी साहित्य १७५७ से १८५७ तक—तथा उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि।' आशा है कि विद्वान् लेखक की इस दूसरी महत्वपूर्ण कृति के हिंदी रूपान्तर को भी हिंदी परिषद् सहृदय हिंदी पाठकों के संमुख शीघ्र उपस्थित कर सकेगा।

चैत्र शुक्ल २, संवत् २००५ धीरेन्द्र वर्मा

वक्तव्य

आधुनिकता की दृष्टि से उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध का हिन्दी साहित्य के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। इस काल में हमारा साहित्य प्राचीनता को छोड़ कर नवीनता और विषयों की अनेकरूपता की ओर अग्रसर हुआ; उसने इस काल में करवट बदली। नवीन और परिवर्तनकालीन होने के साथ ही तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों का अध्ययन करने की दृष्टि से भी वह अत्यन्त उपयोगी है। अन्य विद्वानों ने हिन्दी साहित्य के सम्पूर्ण इतिहास का अध्ययन करते समय उस पर भी कुछ-कुछ कह दिया है, अथवा उनका उसके अति आधुनिक काल या प्राचीन और मध्य युगों की ओर ध्यान गया है। आश्चर्य है कि साहित्य के इस महत्वपूर्ण काल पर विचार करने की अब तक कोई चेष्टा न हुई। उसके जिन अङ्गों का अध्ययन करके मैंने खोज की है उसे विद्वानों के सामने रखना प्रस्तुत ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य है। हिन्दी साहित्य के किसी भी विशेष काल का यह प्रथम विस्तृत अध्ययन है।

प्रस्तुत ग्रन्थ इलाहाबाद यूनीवर्सिटी द्वारा स्वीकृत डी० फ़िल्० थीसिस 'The Growth and Development of Hindi Literature from 1850 to 1900A.. D.' (१६४०) के रूप में लिखा गया था। अविकल अनुवाद होते हुए भी इसमें ऐसे अनेक नवीन अंश जोड़ दिए गए हैं जो थीसिस लिखने की वैज्ञानिक परम्परा के अनुसार मूल में नहीं दिए जा सकते थे। साथ ही यह ग्रन्थ १६४१ में प्रकाशित 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' का संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण है। उपलब्ध सामग्री का संकलन और उसकी परख दोनों की दृष्टि से इसमें मौलिकता है। अध्ययन करते समय ऐतिहासिक समीक्षा का आश्रय ग्रहण किया गया है। लेखकों और कवियों का उल्लेख कर इसे सांगोपांग बनाने की चेष्टा की गई है। विषय को यथासम्भव स्पष्ट करने और बहुत-सी नवीन सामग्री को पाठकों के सामने प्रस्तुत करने की दृष्टि से गद्य और पद्य के आवश्यकता से अधिक अवतरण देने में किसी प्रकार के संकोच से काम नहीं लिया गया। विषय की दृष्टि से मूल थीसिस में कविता की पुरानी धारा का विवेचन नहीं है।

नवीन धारा के साथ तुलना और प्राचीन साहित्यिक सम्पत्ति का अध्ययन करने की दृष्टि से आवश्यक समझ कर परिशिष्ट के अन्तर्गत 'पुरानी धारा' शीर्षक एक अलग अध्याय में उस पर संक्षिप्त और सामान्य ढंग से विचार कर लिया गया है।

थीसिस लिखते समय गुरुवर श्री डॉ० धीरेन्द्र जी वर्मा, एम० ए०, डी० लिट्० (पेरिस), प्रोफ़ेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद यूनीवर्सिटी का उनके बहुमूल्य परामर्शों के लिए तथा थीसिस प्रस्तुत करते समय अपने परीक्षकों, स्वर्गीय पं० रामचन्द्र शुक्ल और स्वर्गीय डॉ० श्यामसुन्दर दास, डी० लिट्० (काशी), का उनकी अमूल्य सहायता के लिए मैं अत्यन्त आभारी तथा ऋणी हूँ।

पुस्तक-प्रकाशन की व्यवस्था करने के लिए मैं प्रकाशकों तथा मुद्रकों का अनुगृहीत हूँ। जिन विद्वानों की कृतियों से सहायता मिली है मैं उनका भी कृतज्ञ हूँ।

हिन्दी विभाग,
मंगलवार, माघ सुदी पूर्णिमा, सं० २००४ वि०
(२४ फ़रवरी, १९४८ ई०)

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

विषय-सूची

परिशिष्ट

कतिपय संक्षिप्त-रूप

ज०....जन्म

न०...नज़ीर बेग

ना० प्र० स०...नागरीप्रचारिणी सभा

भा० ग्रं० दू० खं०....भारतेन्दु ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड

भा० ना०...भारतेन्दु नाटकावली

र० का०....रचना-काल

सं०...संस्करण

ह०... हस्तलिखित

हा०...हाफ़िज़ मुहम्मद अब्दुल्ला

विषय-प्रवेश

भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना, और विशेष रूप से लगभग १८५७, के बाद के हिन्दी साहित्य का इतिहास अनेक अंशों में अपने प्राचीन इतिहास से भिन्न है। हिन्दी में आधुनिकता का सूत्रपात लगभग इसी समय से होता है। पिछले सौ वर्षों में उसने आश्चर्यजनक तीव्र गति से उन्नति की है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही देश की तत्कालीन परिवर्तित परिस्थितियों के प्रभावान्तर्गत गद्य का प्रचार बड़ी तेज़ी से होने लगा था। अनेक छोटे-बड़े गद्य-ग्रन्थों की रचना हुई। १८५७ की राज्यक्रान्ति के बाद हिन्दी गद्य-साहित्य ने विशेष उन्नति की। विषयों की अनेकरूपता के साथ-साथ वह अपने पैरों पर खड़ा होने योग्य बना। काव्य-क्षेत्र में वीर, भक्ति, शृंगार और रीति धाराएँ अपने प्राचीन वैभव का क्षीण स्वरूप लिए हुए अब भी प्रवाहित हो रही थीं। किन्तु साथ ही कविता पाश्चात्य शिक्षा और नवीन राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक शक्तियों के फलस्वरूप नए-नए विषयों की ओर झुक रही थी। आलोच्य काल में काव्य की यह नवीन धारा अपने क्षीण स्वरूप में थी। बीसवीं शताब्दी में यही धारा साहित्य के सिंहासन पर विराजमान है और इसी का एकाधिपत्य है। गद्य में भी विभिन्न साहित्यिक रूपों और शैलियों का जन्म हुआ है। नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों के माध्यम द्वारा हिन्दी प्रदेश का संपर्क ज्यों-ज्यों संसार के अनेक देशों और साहित्यों से बढ़ता जा रहा है, त्यों-त्यों साहित्य में, शैली, विचार और रूप की दृष्टि से, अनेकरूपता की वृद्धि हो रही है। हिन्दी साहित्य के इस नवीन, विशद, पूर्ण और विविध-विषय-सम्पन्न स्वरूप के निर्माण का श्रीगणेश दो सभ्यताओं के सांस्कृतिक संपर्क के फलस्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में हुआ था। अँगरेज़ जिस सभ्यता को लेकर भारतवर्ष आए थे उसमें गति एवं शक्ति थी। भारतीय सभ्यता शताब्दियों के बोझ से स्थिर और शिथिल हो चुकी थी। ऐसी दशा में भारतीय सभ्यता का पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित होना अवश्यंभावी था—यद्यपि नवीन शासकों की नीति के कारण यह प्रभाव जितना उत्कृष्ट और सर्वांगीण होना चाहिए था उतना नहीं हुआ। फलस्वरूप हिन्दी साहित्य रूढ़ि-ग्रस्त मार्ग छोड़ कर गतिशील हुआ, उसमें नवीनता

और आधुनिकता का जन्म हुआ। इस दृष्टि से आलोच्य काल का हिन्दी साहित्य के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। जो बीज पिछली शताब्दी में बोया गया था आज वह पल्लवित-पुष्पित होकर साहित्य-रसिकों को शीतलता प्रदान कर रहा है।

हिन्दी साहित्य के प्राचीन और नवीन रूपों के बीच एक निश्चित विभाजन-रेखा खींचना दुस्तर कार्य है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि नवीनता और आधुनिकता के विकास में पश्चिमी भावों और विचारों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। वैसे तो अँगरेज़ों के आने से पहले ही देश में पश्चिमी प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगा था, किन्तु भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के बाद भारतीय जन-समुदाय—विशेषतः अँगरेज़ी-शिक्षित उच्चवर्गीय जन-समुदाय—पर यह प्रभाव और भी गहरा हो चला था। सामान्यतः १७५७ के प्लासी-युद्ध से अँगरेज़ी राज्य की स्थापना मानी जाती है। किन्तु हिन्दी प्रदेश पर अँगरेज़ों की इस विजय का कोई विशेष प्रभाव न पड़ सका—केवल उत्तरी भारत का द्वार उनके लिए अवश्य खुल गया। उस समय तो बंगाल के केन्द्र कलकत्ते के सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक जीवन में युगान्तरकारी परिवर्तन हुए। १७६४ में बक्सर की लड़ाई हुई और १७६५ में अँगरेज़ों को दीवानी मिली। इस प्रकार प्लासी के सात-आठ वर्ष बाद हिन्दी प्रदेश का पूर्वी भाग अर्थात् बिहार सर्वप्रथम अँगरेज़ों के अधिकार में चला गया। यदि प्लासी-युद्ध के फलस्वरूप समस्त उत्तर भारत का द्वार अँगरेज़ों के लिए खुल गया था, तो बक्सर की लड़ाई के फलस्वरूप हिन्दी प्रदेश के तत्कालीन सबसे अधिक सम्पन्न और शक्तिशाली सूबा अवध ने संधि द्वारा अँगरेज़ों के आगे माथा टेक दिया। यहीं से उन्होंने हिन्दी प्रदेश में चारों ओर अपने राज्य की सीमा का विस्तार किया। तत्पश्चात् बनारस और १८०३ की लासवाड़ी की लड़ाई के फलस्वरूप हिन्दी प्रदेश के मध्य भाग—दिल्ली और आगरे के सूबे—पर उनका अधिकार हो गया। इससे मराठों और फ्रांसीसियों की शक्ति को ज़बरदस्त आघात पहुँचा। राजपूताने को रियासतों ने भी १८१८ तक अँगरेज़ी सत्ता स्वीकार कर ली थी। १८२६ में उन्होंने भरतपुर पर विजय प्राप्त की। केवल अवध नाममात्र के लिए १८५६ तक नवाबों के हाथ में रहा। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के लगभग मध्य तक अँगरेज़ हिन्दी प्रदेश में अपने राज्य की सीमा का विस्तार करने में लगे रहे। तत्पश्चात् विजित प्रदेशों के पुनर्निर्माण और पुनर्सङ्गठन ने उनका ध्यान आकृष्ट किया। शिक्षा तथा शासन की दृष्टि से

अनेक प्रयोग किए गए। १८५७ की राज्यक्रान्ति के बाद देश का राज्य ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथ से निकल कर सम्राट् के अन्तर्गत ब्रिटिश मंत्रि-मण्डल के हाथ में चला गया। नवीन शासन-व्यवस्था के कारण जिन नीतियों का व्यवहार हुआ उनका प्रभाव देश-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों पर पड़ना अवश्यम्भावी था। केवल राजनीतिक दृष्टि से ही नहीं, अन्य कई कारणों से भी १८५७ एक महत्वपूर्ण तिथि है। इससे कुछ ही वर्ष पूर्व हिन्दी-प्रदेश में वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रचार हुआ था। उन्नीसवीं शताब्दी के सबसे अधिक महत्वपूर्ण आविष्कार रेल और तार का क्रमशः १८५४ और १८५१ में ही सूत्रपात हुआ। इन वैज्ञानिक आविष्कारों का आलोच्य काल पर अभूतपूर्व प्रभाव पड़ा जिससे सामान्य और फलतः साहित्यिक जीवन अछूता न रह सका। चार्ल्स वुड की शिक्षा-आयोजना, जिससे हमारा सीधा सम्बन्ध है, १८५७ के समीप ही अर्थात् १८५४ में ही प्रस्तुत की गई थी। साहित्य में इन सब नवीनताओं की प्रतिक्रिया होनी अनिवार्य थी और १८५७ में ही विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। इससे पूर्व हिन्दी साहित्य में नवीनता मिलती अवश्य है, किन्तु वह नगण्य है। आलोच्य काल में नवयुग और आधुनिकता का प्रदर्शन भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०-१८८५) के अधिनायकत्व और उनके जीवन-काल में यथेष्ट तीव्र गति से होने लगा था। भारतेन्दु का जन्म भी १८५७ के समीप ही अर्थात् १८५० में हुआ था। अस्तु, इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए यदि, स्थूल रूप से, भारतेन्दु की जन्म तिथि अर्थात् १८५० से हिन्दी साहित्य के नवीन या आधुनिक युग का सूत्रपात मान लिया जाय तो कोई विशेष हानि न होगी।

जिस समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का आविर्भाव हुआ वह हिन्दी नवोत्थान का युग था। अपना अलसाया जीवन छोड़ कर हिन्दी-भाषा-भाषी फिर से गतिशील हुए। इस कार्य में पाश्चात्य सभ्यता का काफ़ी हाथ था, इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता। आर्य समाज (१८७५) और इण्डियन नेशनल काँग्रेस (१८८५) ने नवयुग की भावना को और भी अधिक प्रोत्साहन दिया। इसी समय के लगभग अर्थात् १८७९ में मैडम ब्लैवट्स्की और कर्नल अलकॉट भारतवर्ष आए और उन्होंने थियोसोफ़ीकल सोसायटी (१८७५) द्वारा पाश्चात्य दर्शन की महत्ता प्रकट करते हुए लोगों को भारतीय ज्ञान-गरिमा से भी परिचित कराया। १८९३ में जब श्रीमती ऐनी बिसेंट भारत आईं तो इस मत का बड़े ज़ोरों के साथ प्रचार हुआ। इन

प्रमुख तथा अन्य अनेक छोटे-छोटे कारणों से उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में जिस मानसिक चेतना का जन्म हुआ था उसने बङ्ग-भङ्ग (१९०४) के बाद ही अधिक तीव्र और एक दूसरा रूप ग्रहण किया था। साहित्यिक दृष्टि से भी नागरी-प्रचारिणी सभा (१८९३) की स्थापना, और 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' (१८९७) और 'सरस्वती' (१९००) के प्रकाशन तथा १९०३ में महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा 'सरस्वती' का सम्पादकत्व ग्रहण करने के बाद हिन्दी साहित्य में द्वितीय उत्थान की अवतारणा होती है। आलोच्य काल का सम्बन्ध इंगलैंड के विक्टोरियन युग से है। विक्टोरिया की मृत्यु भी जनवरी, १९०१ में हुई। इसलिए १९०० को आलोच्य काल की अन्तिम तिथि मान लेना असङ्गत न होगा।

आलोच्य काल की महत्ता पूर्णरूप से हृदयङ्गम करने के लिए उसके पूर्ववर्ती साहित्य पर भी एक सरसरी निगाह डाल लेना आवश्यक है। प्रत्यक्षतः, गद्य को छोड़ कर, उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में हिन्दी साहित्य का कोई विशेष विकास नहीं हुआ। इस समय हिन्दी साहित्यिकों का पश्चिमी दुनिया से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित न हो सकने के कारण उसका प्रभाव भी स्पष्ट लक्षित न हो सका। जहाँ तक कविता से सम्बन्ध है थोड़े-से परिवर्तन के अतिरिक्त कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं मिलता। एक प्रकार से काव्य की पुरानी धारा अक्षुण्ण बनी रही। नवीन आवश्यकताओं के अनुसार गद्य का प्रसार हुआ, उत्पत्ति नहीं। इसी काल में खड़ीबोली ने गद्य-क्षेत्र में अपनी सत्ता स्थापित की। गद्य में न केवल विभिन्न धार्मिक रचनाओं का ही निर्माण हुआ, वरन् विविध वैज्ञानिक विषयों पर भी अनेक रचनाएँ हुईं। शासन-सम्बन्धी कार्यों में तो केवल खड़ीबोली गद्य का ही प्रयोग होता था। यद्यपि इस काल के गद्य का साहित्यिक महत्त्व अधिक नहीं है, तो भी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने के कारण साहित्य के प्रत्येक विद्यार्थी को उसका अध्ययन करना चाहिए। नवयुग के गद्य-साहित्य की आधार-शिला इसी काल में जमी। इस दृष्टि से भी इस काल का अध्ययन करना समीचीन होगा। गद्य की दृष्टि से उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध का हिन्दी साहित्य के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। और, क्योंकि साहित्यिक उन्नति और विकास के सम्बन्ध में एक निश्चित तिथि देना या एक स्पष्ट विभाजन-रेखा खींचना कठिन है, इसलिए स्थूल रूप से इस पूर्ववर्ती काल का प्रारम्भ १८०० में फ़ोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना से माना जा सकता है। १८०० से १८५० तक के काल का सिंहावलोकन करते समय

साहित्य के अन्य रूपों की अपेक्षा गद्य ही हमारा ध्यान अधिक आकृष्ट करता है।

आलोच्य काल का अध्ययन करते समय तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक आन्दोलनों को समझना भी आवश्यक है, क्योंकि इन्हीं आन्दोलनों से मूल प्रेरणा ग्रहण करने पर हिन्दी साहित्य की गतिविधि बदली और आधुनिकता का बीजारोपण हुआ। इसलिए एक अलग अध्याय में इन आन्दोलनों के अध्ययन और हिन्दी साहित्य के साथ उनका सम्बन्ध समझने की चेष्टा की गई है। साथ ही गद्य और काव्य-क्षेत्र में नवीन विषयों, रूपों तथा अन्य विविध पक्षों के अध्ययन करने का भी यथासम्भव प्रयत्न किया गया है।

१

पूर्व-परिचय

(१८००-१८५०)

भारतवर्ष के इतिहास में ही नहीं, वरन् समस्त एशिया के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी एक युगान्तरकारी शताब्दी रही है। इस शताब्दी में एशिया के प्रायः सभी देशों में राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक परिवर्तन हुए। पूर्व और पश्चिम के नए क्रियात्मक संपर्क के स्थापित करने में वैसे तो यूरोप की अनेक जातियों ने भाग लिया, किन्तु ऐंग्लो-सेक्सन सभ्यता की संदेशवाहक ब्रिटिश जाति ने प्रमुख भाग लिया। इस दृष्टि से संसार के इतिहास में ब्रिटिश जाति का नाम अमर रहेगा। अठारहवीं और उन्नीसवी शताब्दियों में ब्रिटिश जाति उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर थी। इतिहास यह बताता है कि अँगरेज़ों से पहले भी भारतवर्ष का पश्चिमी संसार के साथ सम्पर्क था। यूनान, रोम इत्यादि के साथ उसके व्यापारिक सम्बन्ध का पता चलता है। यह व्यापार फ़ारस की खाड़ी, लाल सागर और भारत के उत्तर-पश्चिम से मध्य एशिया वाले मार्गों से होता था। परन्तु पन्द्रहवीं शताब्दी के लगभग मध्य में कुछ राजनीतिक कारणों से यूरोप के व्यापारियों को भारतवर्ष आने में असुविधा होने लगी। उस समय निकट के मुसलमानी राष्ट्रों का समुद्री व्यापार पर आधिपत्य स्थापित हो जाने से यूरोप-निवासी भारतवर्ष के लिए एक नया समुद्री मार्ग खोजने के लिए अग्रसर हुए। यह खोज-कार्य पन्द्रहवीं शताब्दी के लगभग मध्य से शुरू हो गया था। इस कार्य में स्पेन ने अग्रगण्य भाग लिया। अनुमान के सहारे-सहारे १४६२ में जिनोआ-निवासी कोलंबस इस मार्ग का पता लगाने निकला। किन्तु भारतवर्ष के स्थान पर वह अमरीका जा पहुँचा। १४८७ में डियाज़ पुर्तगाली द्वारा केप ऑव गुडहोप का पता लग जाने के बाद १४६६ में वास्को डि गामा अपने अदम्य साहस और उत्साह द्वारा भारतवर्ष आया। उसके बाद यूरोप-निवासियों के लिए भारत का जल-मार्ग खुल गया। पूर्वीय व्यापार के फल-स्वरूप पुर्तगालियों का बढ़ा हुआ आर्थिक वैभव देख कर अँगरेज़ (१५७६), डच (१५६७), फ्रांसीसी (१६४२), इत्यादि अन्य अनेक यूरोपीय जातियों ने भारतवर्ष से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किया।

भारतवर्ष तथा अन्य पूर्वी देशों में आने-जाने के लिए खोजे हुए नए मार्ग से लाभ उठाने के लिए अँगरेज़ प्रारंभ से ही उत्सुक थे। सोलहवीं शताब्दी में अँगरेज़ों की नाविक शक्ति बढ़ी और उनमें बृहत्तर ब्रिटेन की भावना जागरित हुई। इस भावना से प्रेरित होकर उन्होंने संसार में चारों ओर फैलना शुरू किया और सत्रहवीं शताब्दी में मद्रास (१६४०), बंबई (१६८६) और कलकत्ते (१६६०) में अपने व्यापारिक केन्द्र स्थापित किए। ऐसा करने में मुग़लों और मरहठों से उनकी कुछ मुठभेड़ भी हुई। यदि उस समय उन्होंने बुद्धिमानी और नीति-कुशलता से काम न लिया होता तो उन्हें अपने व्यापारिक केन्द्रों से हाथ धोना पड़ता। जैसे-तैसे सुलगती हुई आग शान्त कर वे अपना व्यापार आगे बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील हुए। तत्पश्चात् कोयला और भाप की शक्ति पर आधारित नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप उत्पन्न औद्योगिक क्रांति की नवयुगीन भावना से प्रेरणा ग्रहण कर उन्होंने राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक आदि क्षेत्रों में अठारहवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में और उसके बाद अभूतपूर्व उन्नति की। १७७६ में अमरीका के हाथ से निकल जाने और १७७६ में फ्रांसीसी राज्य-क्रांति के कारण उनके व्यापार को यथेष्ट क्षति पहुँची। इधर १७०७ में औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद भारतीय जीवन में अराजकता छा गई थी। कई छोटी-बड़ी प्रतिद्वंद्वी शक्तियों में संघर्ष छिड़ गया था। ऐसे समय में १७०८ में निर्मित नवीन संयुक्त इंगलिश ईस्ट इंडिया कंपनी को न केवल व्यापारिक वृद्धि का वरन् राजनीतिक सत्ता स्थापित करने का भी स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ। भारतीय इतिहास में अँगरेज़ी सत्ता की स्थापना १७५७ में प्लासी की लड़ाई के फलस्वरूप मानी जाती है, यद्यपि उससे पहले वे दक्षिण में क्रियाशील थे। यदि १७५७ की विजय ने समस्त उत्तर भारत का द्वार उनके लिए खोल दिया था, तो १७६४ में बक्सर की लड़ाई और एक वर्ष बाद बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी ने बिहार तथा समस्त पश्चिमी हिन्दी भूमिभाग में उनका मार्ग निष्कंटक बना दिया। अठारहवीं शताब्दी के अंत तक वे अपने प्रधान प्रतिद्वंद्वियों में से फ्रांसीसियों, हैदर अली और टीपू सुलतान को पराजित कर चुके थे। केवल मरहठे बाक़ी बचे थे। लेकिन वे भी पूर्व-१७६१ (पानीपत) वाले मरहठे न रह गए थे। १८०० तक हिन्दी प्रदेश के पूर्वी भाग पर कंपनी का प्रभुत्व स्थापित हो गया था। १८०१ और १८१८ के बीच समस्त हिन्दी प्रदेश ने उनकी अधीनता स्वीकार कर ली। तृतीय (१८०२-१८०४) और चतुर्थ (१८१८)

मरहठा युद्धों के फलस्वरूप मरहठों की शक्ति बिल्कुल क्षीण हो गई। १८२६ में भरतपुर पर विजय अँगरेज़ों की अंतिम महत्त्वपूर्ण विजय थी। १८४६ में द्वितीय सिक्ख-युद्ध के फलस्वरूप पंजाब भी अपनी स्वतंत्रता खो बैठा। इस प्रकार क्लाइव (१७४३-१७६७) का शुरू किया हुआ कार्य वेलेज़ली (१७६८-१८०४) और हेस्टिंग्ज़ (१८१४-१८२३) ने उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में पूर्ण किया।

यदि अँगरेज़ भारतवर्ष न आते तो हिन्दी साहित्य का क्या रूप होता, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कह सकना कठिन है। किन्तु इतना निश्चित है कि, सदा की भाँति, साहित्य जहाँ था वहीं न रह सकता था। वह स्वतंत्र रूप से प्रगति की ओर अग्रसर होता। ऐतिहासिक घटना-चक्र के अनुसार हिन्दी साहित्य का अँगरेज़ों के माध्यम द्वारा यूरोपीय संस्कृति से सम्पर्क स्थापित हुआ और आधुनिकता का बीजारोपण हुआ। नितान्त भिन्न यूरोपीय संस्कृति के सम्पर्क से हिन्दी प्रदेश के जीवन में प्रतिक्रिया होनी अवश्यंभावी थी। जीवन की पहले से चली आ रहीं और विदेशी राजनीतिक सत्ता की स्थापना के फलस्वरूप उत्पन्न परिस्थितियाँ और उनकी पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया साहित्य को प्रभावित किए बिना न रह सकीं। इसलिए जीवन की जिन परिस्थितियों के अन्तर्गत उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के हिन्दी साहित्य का सृजन हुआ उनका संक्षेप में अध्ययन कर लेना अप्रासंगिक न होगा।

इस काल के राजनीतिक इतिहास का अध्ययन करते समय ऐसा प्रतीत होता है कि अँगरेज़ों को अपना राज्य स्थापित करने में अधिक कठिनाई नहीं हुई—विशेषतः इतना बड़ा साम्राज्य देखते हुए। अँगरेज़ भारतवर्ष में व्यापार करने आए थे, यद्यपि अपनी व्यापरिक संस्थाओं की रक्षा के लिए वे छोटी-छोटी सेनाएँ अवश्य रखते थे। देश के मालिक बन बैठने का उनका इरादा नहीं था। किन्तु अपने यहाँ के विकसित राजनीतिक और आर्थिक जीवन से प्रेरणा ग्रहण कर और नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों तथा मुग़ल साम्राज्य की पतनकालीन परिस्थितियों (१७०७ में औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद से लाभ उठा कर उन्होंने अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित कर लिया। उनके राजनीतिक जीवन में संकट-काल अवश्य उत्पन्न हुए थे और कई बार उन्हें मरहठों, हैदर अली, टीपू सुलतान, सिक्खों और गोरखों से पराजित होना पड़ा था। भारतवासियों में प्रतिभा का अभाव नहीं था। किन्तु यदि वे दूर-दर्शिता और सतर्कता के साथ कार्य करते तो आज देश का इतिहास दूसरा होता। अँगरेज़ों के लिए तत्कालीन परिस्थिति विशेष रूप से सहायक सिद्ध

हुई। भारतीय इतिहास में जिस प्रकार पहले कई बार संक्रांति-काल उपस्थित हुए थे उसी प्रकार औरंगजेब की मृत्यु के बाद भी एक संक्रांति-काल उपस्थित हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी तक कोई संगठित एवं केंद्रीय भारतीय सत्ता स्थापित न हो सकी। अनेक सामन्त और सूबेदार सिर उठाने और मनमानी करने लगे। देश में एकता, परिस्थिति के अनुसार परिवर्तनशीलता, दूरदर्शिता और जीवन की समस्याओं के प्रति व्यापक दृष्टिकोण का अभाव था। दिन-रात के युद्ध-विग्रह के फलस्वरूप जनता आए दिन सैनिक, आर्थिक, आदि विविध अत्याचारों और अराजकता से पीड़ित होती रहती थी। लोकादर्श और लोकहित की भावना के स्थान पर विलास-प्रियता, वैयक्तिकता, वीर-जीवन के प्रति पराङ्मुखता, आदि बातों का प्राधान्य हो चला था। वास्तव में भारतीय-इस्लामी सामन्तवादी संस्कृति का पतन अठारहवीं शताब्दी में प्रारंभ होकर अँगरेज़ों के माध्यम द्वारा उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में लगभग पूर्ण हुआ। अँगरेज़ों में सफलता दिलाने वाले सभी गुण विद्यमान थे। भारतवासियों को पहली बार एक सुदूर स्थित जाति का दासत्व स्वीकार करना पड़ा।

आर्थिक दृष्टि से अठारहवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध तक हिन्दी प्रदेश यथेष्ट विकसित अवस्था में था। उद्योग-धंधों और ग्राम-व्यवस्था पर उसका आर्थिक जीवन आधारित था। समाज में जुलाहों और कारीगरों का उतना ही महत्वपूर्ण स्थान था जितना कृषकों का। उस समय पटना, मुंगेर, तिरहुत, बनारस, दिल्ली, ग़ाज़ीपुर, फ़ैज़ाबाद, फ़ीरोज़ाबाद, लखनऊ, नगीना (जिसे उस समय अँगरेज़ उत्तरी भारत का बरमिंघम कहते थे), कालपी, हीरापुर, बाँदा, कन्नौज, कानपुर, छपरा, चुनार, मिर्ज़ापुर, आगरा, जयपुर, जोधपुर, इटावा, आदि प्रसिद्ध औद्योगिक और व्यापारिक केंद्र थे। यदि अठारहवीं शताब्दी में महान् संक्रांति-काल उपस्थित न होता तो सम्भवतः उद्योग-धन्धों और कृषि की उत्पादन शक्ति के साधनों में और भी विकास होता। किन्तु निरन्तर युद्ध-विग्रह और सामंतों की अत्यधिक बढ़ी हुई निरकुंशता के कारण ऐसा सम्भव न हो सका। राजनीतिक अराजकता ने भी आर्थिक व्यवस्था को आघात पहुँचाया। लेकिन इतना सब कुछ होते हुए भी लोग समृद्ध और धनधान्यपूर्ण थे। अँगरेज़ों ने औद्योगिक क्रांति के बाद की साम्राज्यवादी और औपनिवेशिक आर्थिक नीति का आश्रय ग्रहण कर बिगड़ी हुई दशा को सुधरने का अवसर न मिलने दिया। उनका मुख्य ध्येय इँगलैंड के कल-कारखानों के लिए कच्चा माल खपाने का था। इस ध्येय की पूर्ति के लिए उन्होंने समय-समय पर ऐसी आर्थिक नीतियों का अवलम्बन ग्रहण किया

जिनसे यहाँ के उद्योग-धंधे नष्ट हुए और खेती करना लोगों का मुख्य व्यवसाय रह गया। आर्थिक व्यवस्था के छिन्न-भिन्न होने का प्रभाव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर पड़ा। बेकार जुलाहों और कारीगरों ने जब कृषि व्यवसाय अपनाया तो संख्या आवश्यकता से अधिक हो जाने के कारण वहाँ भी संकट उपस्थित हो गया—विशेष रूप से उस समय जब कि उत्पादन-शक्ति के साधनों के विकास की ओर किसी ने ध्यान न दिया। बचे-खुचे कारीगर मशीन से बने सस्ते माल का मुक़ाबला न कर सके। शासकों की ओर से औद्योगीकरण और मशीन-युग की अवतारणा की चेष्टा का अभाव ही नहीं रहा, वरन् उन्होंने उसके मार्ग में रुकावटें डालीं। जिस प्रकार कोयले और भाप की शक्ति ने यूरोप का जीवन बदल दिया था उसी प्रकार उत्पादन-शक्ति के नवीन साधन भारतीय जीवन में परिवर्तन उपस्थित कर उसमें गति उत्पन्न कर सकते थे। किन्तु नए शासकों की नीति के फलस्वरूप ऐसा न हो सका। दिन-पर-दिन विदेशी माल का प्रचार बढ़ने से धन विदेश जाने लगा। वास्तव में भारतीय साम्राज्य प्राप्त करने में सैनिक शक्ति ने अँगरेज़ों की इतनी अधिक सहायता न की जितनी भाप की शक्ति और उनकी आर्थिक नीति ने। यहाँ के राजा-महाराजाओं और नवाबों को भी विजेताओं ने फ़ौलादी पंजे से चूसा। भारतीय समाज की रीढ़, ग्राम-व्यवस्था, भी अँगरेज़ी शासन में टूट गई। इस्तमरारी बंदोबस्त के स्थान पर महालवारी जैसे छोटे-छोटे बंदोबस्तों से भारतीय किसानों को कोई आर्थिक लाभ न हुआ; वे ईस्ट-इंडिया कंपनी की अर्थलोलुपता और महाजनों के शिकार बने। उच्च-राजनीतिक वर्ग के पतन के फलस्वरूप निर्धनता के कारण अनेक कारीगरों और कलाकारों की आजीविका को धक्का पहुँचा। स्वयं किसानों और कारीगरों पर निर्भर रहने वाले नाव बनाने वालों, बैल उधार देने वालों, किसानों के लिए बैलगाड़ी तथा उनके औज़ार बनाने वालों, आदि के धनोपार्जन के साधन नष्ट हो गए। १८३३ तक भारतवासियों को बड़ी-बड़ी सरकारी नौकरियाँ भी नहीं मिलती थीं। १८१३ के बाद कंपनी का एकाधिपत्य टूट जाने से इँगलैंड की अन्य व्यापारिक संस्थाएँ भारत में अपना माल खपाने लगीं। १८३८ के अफ़ग़ान-युद्ध के व्यय का भार भारतीय प्रजा पर पड़ा। भारतीय सैनिक वर्ग के बेकार हो जाने से स्थान-स्थान पर 'कंपनी के अमल में कुछ रोज़गार नहीं है' की आवाज़ सुनाई पड़ती थी। इस प्रकार, जैसा कि डैविड्सन नामक एक अँगरेज़ यात्री का कहना है कि, आर्थिक दृष्टि से १८४३ में हिंदी प्रदेश वह न रह गया था जो अँगरेज़ों के

आने पर था। इतिहास में पहली बार वह राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से परमुखापेक्षी बना।

हिन्दू अपने धार्मिक जीवन का मूल वेदों, उपनिषदों, ब्राह्मणों, महाकाव्यों और पुराणों में मानते थे। उनमें त्रिमूर्त्ति, बहुदेववाद, सर्वदेववाद, भाग्यवाद, मूर्त्तिपूजा, तीर्थयात्रा, पुनर्जन्म, आदि की विविध भावनाएँ प्रचलित थीं। बौद्ध तथा जैन मतों और इस्लाम का धर्म पर प्रभाव पड़ चुका था। ईसाई धर्म का कोई विशेष प्रभाव उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में दृष्टिगोचर नहीं होता। वास्तव में इस काल का हिन्दू धर्म मध्यकालीन भक्ति-आंदोलन का अत्यंत क्षीण रूप था। वह अनेक वैष्णव, शैव और निर्गुण सम्प्रदायों में बँटा हुआ था। शैव सम्प्रदाय के अन्तर्गत ऐसे अनेक साधु थे जो विविध प्रकार की कँपा देनेवाली और वीभत्स शारीरिक यातनाओं से अपनी 'आध्यात्मिक परितुष्टि' तथा श्रद्धालु जनता में आध्यात्मिक भय उत्पन्न कर अपना स्वार्थ-साधन करते थे। किसी नवीन शक्तिशाली धार्मिक आंदोलन का जन्म भी इस समय न हो सका। फलतः हिन्दी-भाषा-भाषियों का धार्मिक जीवन किसी नवीन आदर्श से प्रेरित न होकर निस्पंद पड़ा रहा। हिन्दू धर्म के उच्च दार्शनिक एवं धार्मिक सिद्धांतों का प्रचार केवल मुट्ठी भर शिक्षित व्यक्तियों तक सीमित था। समाज के अधिकांश में धर्म का वाह्य, परंपराविहित, रूढ़िग्रस्त, अंधविश्वासों और मूर्ति-पूजा, बहुदेववाद तथा सर्वदेववाद के अत्यंत गर्हित और विकृत रूप से संचालित और कर्मकाण्डों वाला रूप प्रचलित था। धर्म के इस रूप के अन्तर्गत ऐसी अनेक रीतियाँ और प्रथाएँ थीं जिन्हें यदि कुत्सित, सारहीन, असामाजिक, क्रूर और अमानुषी कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। ज़मीन पर पेट के बल रेंगते हुए या लुढ़कते हुए तीर्थयात्रा करना, काशी या प्रयाग में जीवित अवस्था में जल-प्रवाह लेना या ज़िंदे ज़मीन में गड़ जाना, केवल भूखे रह कर शरीर को सुखा लेना, एक पैर से खड़े रहना, काँटों की शैया पर सोना, आदि अनेक यातनापूर्ण धार्मिक प्रवृत्तियों का प्रचार था। बिना समझे-बूझे मोक्ष की आशा से शरीर को अधिकाधिक और विविध प्रकार की यातनाएँ और कष्ट देने में लोग धर्म की सार्थकता समझ बैठे थे। अधिकांश में प्रचलित धर्म की बागडोर कूपमण्डूक ब्राह्मणों, पंडों, पुजारियों, गंगापुत्रों, ज्योतिषियों, 'गुरुओं', आदि के हाथ में थी। शिक्षा का अधिक प्रचार न होने के कारण लोग धर्मशास्त्रों से (जो संस्कृत में थे) परिचित नहीं थे। अपने धर्माधिकारियों के मुख से सुनी हुई बातों में ही वे आस्था रखते थे। किन्तु खेद की बात

तो यह है कि स्वयं धर्माधिकारी ब्राह्मणों को धर्मशास्त्र या धर्म के वास्तविक स्वरूप का बोध नहीं था। उनका ज्ञान केवल परम्पराओं और रूढ़ियों पर ही आधारित था। रूढ़ि और परम्परा के कठोर बन्धन में जकड़े रहने से धर्म का कंकाल मात्र अवशेष रह गया था। निर्धारित व्यवस्था का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति को प्रायश्चित के रूप में कठिन और असह्य यातनाएँ सहन करनी पड़ती थीं। असहमता प्रकट करने पर 'पापाचारी' के लिए समाज में कोई स्थान नहीं था। राजनीतिक और आर्थिक अराजकता के कारण धर्म के ह्रास की गति और भी तीव्र हुई; वह अधिकाधिक रूढ़ि-ग्रस्त, परंपरा-विहित, कट्टर और संकुचित होता गया। हिन्दू धर्म की इन्हीं कमज़ोरियों के आधार पर इस्लाम की भाँति ईसाई धर्म भी पनपने लगा था। समाज के कुछ दूरदर्शी व्यक्ति हिन्दू धर्म को कमज़ोरियों और उसमें लगा हुआ घुन पहिचान रहे थे। किन्तु चिंतित रहने के अतिरिक्त वे और कुछ न कर सके। सच बात तो यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में कुछ आर्थिक हितों ने हिन्दू धर्म और समाज की बहुत रक्षा की, अन्यथा उन्हें एक सूत्र में बाँधे रहनेवाली शक्ति बिल्कुल क्षीण हो चुकी थी। १८४३ में कंपनी सरकार एक क़ानून द्वारा धर्म-परिवर्तन के बाद भी हिन्दुओं को उनके सम्मिलित कुटुम्ब की पैत्रिक संपत्ति में अधिकार देना चाहती थी। धर्म और समाज को ज़बर-दस्त आघात पहुँचने की आशंका से विचलित होकर उच्चवर्गीय हिन्दुओं ने इस प्रस्तावित विधान का घोर विरोध किया। अच्छा यही हुआ कि कंपनी ने अपना इरादा छोड़ दिया।

हिन्दू सामाजिक संगठन के दो प्रधान स्तंभ रहे हैं—सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा और वर्ण-व्यवस्था। उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में उनका अस्तित्व और स्वरूप ही अक्षुण्ण नहीं बना हुआ था, वरन् काल-गति और विशेष संकटापन्न परिस्थिति के अनुसार वे और भी कठोर नियमों के बन्धनों से जकड़ गए थे। परिस्थिति के अनुसार उनमें गुण और दोष दोनों ही दिखाए जा सकते हैं। किन्तु उनका सबसे अधिक स्पष्ट प्रभाव परम्परा का निर्वाह होने में दृष्टिगोचर होता है। कुल में पैत्रिक व्यवसाय, शिक्षा, आचार-विचार, इत्यादि का निरन्तर पालन होता चलता था। सामाजिक क्षेत्र में विभिन्न स्मृतियों के आधार पर स्थापित वर्ण-व्यवस्था के नियमों का पालन करना प्रत्येक वर्ण का पुनीत कर्त्तव्य था, उसमें शंका या तर्क के लिए गुंजायश नहीं थी। और जहाँ धर्म और समाज के बीच विभाजन-रेखा खींचना कठिन हो वहाँ कूपमण्डूक पुरोहितों, पंडों, ज्योतिषियों, 'गुरुओं',

आदि ब्राह्मणों द्वारा परिचालित कौटुम्बिक और सामाजिक जीवन के परिवर्तन या विकास की तीव्रता का अनुमान भली भाँति लगाया जा सकता है। जीवन में प्रत्येक व्यक्ति का स्थान उसके जन्म के पहले ही निर्धारित रहता था। उस स्थान से विचलित होकर परलोक और पुनर्जन्म की यातनाएँ सहन करने का साहस किसी व्यक्ति को न होता था। मुसलमान, और उस समय अँगरेज़ भी, हिन्दुओं को कोई नवीन सामाजिक संगठन न दे सके। पाश्चात्य शिक्षा, व्यापारिक और औद्योगिक आवश्यकताओं, वैज्ञानिक साधनों, आदि के कारण सम्मिलित कुटुंब-प्रथा और सामाजिक व्यवस्था के दृढ़ और प्राचीन दुर्ग की दीवारें अब बीसवीं शताब्दी में गिरने लगी हैं, किन्तु नींव अब भी नहीं हिली। तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, विधवा-विवाह-निषेध, संभवतः शक-तातार सभ्यता के साथ आई सती-प्रथा, बाल (कन्या) हत्या,[1] खानपान और छूआछूत सम्बन्धी प्रतिबन्ध, समुद्र-यात्रा-निषेध, ज्योतिष और जादू-टोनों में विश्वास, पर्दा, आदि अनेक ऐसी प्रथाएँ प्रचलित थीं जिनमें हिन्दू धर्म और समाज का मंगलमय और उदात्त रूप छिप गया था।

किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि उस समय योग्य और प्रतिभाशाली व्यक्तियों का नितान्त अभाव था। व्यक्तिगत योग्यता और प्रतिभा की कमी नहीं थी। पर समग्र रूप से विचार करने पर समाज की सृजनात्मक और नवोन्मेषशालिनी शक्ति का ह्रास हो गया था। उसमें नए प्राण, नवीन शक्ति और चेतना फूँकने की आवश्यकता थी। वास्तव में संक्रांति-काल के लगभग सभी दोष उस समय उत्पन्न हो गए। समाज अपने में ही सिकुड़ कर एक तंग दुनिया बना कर रह रहा था। जीवन अलग-अलग अकड़ी हुई टुकड़ियों में बँट गया था। एक को दूसरे के जीवन में दिलचस्पी न रह गई थी। समाज के नेता यह न जानते थे कि उनकी तंग दुनिया या भारतवर्ष से बाहर क्या हो रहा है। संक्षेप में, हिन्दी-भाषियों के जीवन का विकास-क्रम रुक गया था। वे भूल गए थे कि भूतकाल की परिधि को निरन्तर विस्तृत करते रहने का नाम ही सजीवता एवं सप्राणता है।

---

[1] कंपनी ने १७९५ (रेग्यूलेशन ११) में बाल-हत्या और १८२९ (रेग्यूलेशन १७, ४ दिसंबर) में सती-प्रथा पर प्रतिबन्ध लगाए। हिन्दी प्रदेश में बाल-हत्या की प्रथा लगभग १८२० तक बंद हो गई थी। अवध के नवाब ने भी अपने राज्य में १५ मई, १८३३ को दोनों प्रथाएँ बंद कर दीं।

ऐसी परिस्थिति में अँगरेज़ जिस यूरोपीय संस्कृति को अपने साथ लाए थे उसके और भारतीय संस्कृति के बीच सुन्दर समन्वयात्मक सम्पर्क की स्थापना से कुछ हद तक उसी समय अभीप्सित फल प्राप्त हो सकता था। किन्तु एक तो मानव जाति के पुरातन के प्रति मोह नामक व्यापक कारण और दूसरे नए शासकों की स्वार्थपूर्ण नीति के फलस्वरूप ऐसा सम्भव न हो सका। जब और जहाँ बराबरी के दर्जे पर यह सम्पर्क स्थापित हुआ तभी रोचक परिणाम भी निकले। शक्ति-संचय और संगठन के बाद कंपनी ने अनेक शासन-सम्बन्धी और अदालती सुधारों के अतिरिक्त रेल (१८५४ और उसके बाद), तार (१८५१ और उसके बाद), प्रेस (१८३५ के बाद), कलकत्ता स्कूल बुक सोसायटी (१८२३), आगरा स्कूल बुक सोसायटी, आगरा कॉलेज (१८२३), दिल्ली कॉलेज (१८३० के लगभग), बरेली कॉलेज (१८३० के लगभग) मैकॉले की मिनिट्स (१८३५) के फल-स्वरूप शिक्षा-आयोजना, आदि की स्थापना की, और कुछ सामाजिक सुधार-सम्बन्धी क़ानून जारी किए। कंपनी ने जो कुछ किया वह बहुत कम और ऊपरी बातों तक सीमित था—वह भी इस काल के लगभग अंत में और सरकारी आवश्यकताओं के फलस्वरूप, न कि जन-हित की दृष्टि से। घुणाक्षर-न्याय से हिन्दी-भाषियों का जीवन और साहित्य भी नई-नई बातों से प्रभावित हुए बिना न रह सका। किन्तु इसका प्रत्यक्ष फल उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में दृष्टिगोचर हुआ। पूर्वार्द्ध में जीवन का पुराना क्रम बना रहा। भारतवासियों और अँगरेज़ों के बीच पारस्परिक सामाजिक सम्बन्ध की दृष्टि से इतिहास की यह एक अजीब घटना है कि ज्यों-ज्यों कॉर्नवालिस (१७८६–१७९३), सर जॉन शोर (१७९३–१७९८), मार्क्विस वेलेज़ली (१७९८–१८०४) तथा उनके उत्तराधिकारियों के शासनान्तर्गत ईस्ट इंडिया कंपनी के कर्मचारियों में प्रचलित अनेक कुव्यसन और दोष दूर कर उन्हें सुयोग्य शासक बनाने की व्यवस्था होती गई, त्यों-त्यों अँगरेज़ों में जातीय भेद-भावना तीव्र से तीव्रतर रूप ग्रहण करती गई और भारतवासियों के साथ उनके सामाजिक सम्बन्ध का, जिससे कुछ अनुकूल परिणाम निकल सकते थे, विच्छेद होता गया। उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में वे भारतीय जीवन से लगभग कट चुके थे। १७५७ या १७६४ के बाद साम्राज्यवादी और विशुद्ध सैनिक दृष्टिकोण के विकसित हो जाने का अच्छा परिणाम न निकला। भारतीय संस्कृति के प्रति घृणा, रंग-भेद, उच्च वर्ग के प्रति उद्धत और धृष्ट व्यवहार, ईसाई मिशनरियों द्वारा धर्म-प्रचार, भारतवासियों की राजनीतिक एवं आर्थिक क्षति, आदि बातों ने भारतवासियों में अँगरेज़ों

और अँगरेज़ी राज्य के प्रति सांस्कृतिक आशंका उत्पन्न कर दी थी। सामन्तों और उच्च धनिक वर्ग के अधिक सम्पर्क में आने पर भी अँगरेज़ उनकी विचारधारा प्रभावित न कर सके। उनका प्रभाव केवल दिल बहलाने के साधनों, शिकार, तस्वीरों, घड़ियों, छड़ियों, खिलौनों, दवाइयों, कपड़ों, आदि तक सीमित रहा। किन्तु इन चीज़ों का प्रचार बढ़ने के साथ-साथ पारस्परिक सम्पर्क कम होता गया। जो कुछ सम्पर्क स्थापित हुआ भी था वह प्रायः मुसल-मानों के साथ था। धार्मिक और सामाजिक प्रतिबन्धों के कारण हिन्दुओं और अँगरेज़ों के बीच उतना सम्पर्क भी स्थापित न हो सका। राजपूत नरेश अँगरेज़ी केंद्रों से दूर पड़ते थे। वास्तव में भारतीय और यूरोपीय संस्कृतियाँ दो नितान्त भिन्न संस्कृतियाँ थीं। दोनों में यदि थोड़ा-सा भी साम्य होता तो सम्भवतः पारस्परिक आदान-प्रदान कुछ तीव्र गति और स्वाभाविक रूप से होता, जैसा कि, एशियाई होने के नाते, मुसलमानों के साथ सम्पर्क स्थापित होने पर हुआ। थोड़े-बहुत यूरोपीय प्रभाव ने भारतीय जीवन को इतने वेगपूर्वक झकझोर डाला कि सांस्कृतिक दृष्टि से वह श्रेयस्कर सिद्ध न हो सका। भारतवासी यूरोपीय सभ्यता के साथ मानसिक सामंजस्य स्थापित न कर पाए। एक दूसरे की संस्कृति के वास्तविक रूप से अनभिज्ञ रहा। इस सम्बन्ध में हमें कुछ व्यक्तिगत अपवाद अवश्य मिल जाते हैं। जेम्स फ़ोर्ब्स, हेस्टिंग्ज़, विलियम जोन्स, विल्किन्स, कालब्रुक, आदि ने जो कार्य प्रारम्भ किया था उसके स्थान पर मैकॉले के विचारों का प्रचार हुआ। भारतीय साहित्य के अध्ययन का नेतृत्व भी उनके हाथ से निकल कर जर्मनों के हाथ में चला गया। जिस समय भारतेन्दु ने विद्याध्ययन प्रारम्भ किया था उस समय बनारस के हिन्दी-भाषियों में केवल राजा शिवप्रसाद अँगरेज़ी-शिक्षित थे। अँगरेज़ शासकों ने, जैसा कि 'पथ्यापथ्य' (१८३५) के कवि घासीराम के निम्नलिखित छन्द से प्रकट होता है, भारतीय नरेशों की भाँति साहि-त्यिकों और कलाकारों को आश्रय प्रदान भी न किया :

> छांड के फिरंगन को राज मैं सुधर्म काज जहा
> होत पुन्य आज चलो वह देश को ।।
> सुन्यौ मग ही यह साचपुर लोगन तै
> फूल कुल कमल प्रकाश है दिनेश को ।।
> कानन कै आनंद सुनयन रिसघान लगे
> बरजे न माने नित्य ठानत कलेश को ।।

घासीराम दोऊन को धाम सुख होय
जवो देष जशवंतसिंह सुमति नरेश को ॥[१]

उपर्युक्त विभिन्न राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक और सामाजिक क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं से हिन्दी-प्रदेश के मानसिक, फलतः साहित्यिक, जीवन पर प्रकाश पड़ता है। उनका अध्ययन करने के पश्चात् एक बात जो प्रमुख रूप से हमारे सामने आती है वह यह है कि समाज के जीवन में परम्पराएँ और रूढ़ियाँ बनाए रखने वाली शक्तियों का प्राबल्य था। संकट के समय जिस प्रकार कछुवा अपने में सिमट जाता है वही दशा राजनीतिक और आर्थिक संकटों के कारण समाज की हुई। अपने के प्रति उसका मोह बढ़ा और वह अपने चारों ओर एक सीमा बना कर जीवन व्यतीत करने लगा। धार्मिक और सामाजिक अवस्था ने परम्परा की रक्षा की। परम्परा की रक्षा करने में राजनीतिक- आर्थिक परिस्थितियों ने सहायता की। आर्थिक पतन से मानसिक विकास तो वैसे ही रुक जाता है। उपर्युक्त अनेक कारणों से नवीन शक्तियों का भी कोई प्रत्यक्ष फल दृष्टिगोचर न हो सका। और जातीय जीवन की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यंजना होने के कारण कला और साहित्य सदैव उसका प्रतिनिधित्व करते आए हैं। हिन्दी-भाषियों में साहित्याभिरुचि थी और शताब्दियों से चली आ रही उनकी अपनी साहित्यिक परम्परा थी। उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में यह साहित्यिक परम्परा जिस समाज में अवतरित हुई उसका संक्षिप्त परिचय ऊपर दिया जा चुका है। इस्लाम उसे प्रभावित कर चुका था। नवागत यूरोपीय ईसाई सभ्यता एवं संस्कृति और जीवन तथा साहित्य के विभिन्न आदर्शों के साथ सम्पर्क स्थापित हुए अभी बहुत दिन नहीं हुए थे। तत्कालीन हिन्दी साहित्य ने जीवन की परिस्थितियों का अनुगमन किया।

यूरोपीय सभ्यता के सम्पर्क से हिन्दी साहित्य गद्य के क्षेत्र में गतिशील अवश्य हुआ, किन्तु उसमें चौमुखी गति की वृद्धि अभी न हुई। वे दिन अभी दूर थे। कविता अपने पुराने रास्ते पर चलती रही। उपर्युक्त अराजकतापूर्ण विविध परिस्थितियों के कारण उच्चकोटि के काव्य-साहित्य की रचना न हो सकी। इस काल में हमें न तो कोई नवीन काव्य-धारा मिलती है और न कोई ऐसा कवि ही मिलता है जिसने परम्परा से चले आ रहे विषय से भिन्न कोई विषय अपनी रचना के लिए चुना हो। केवल पिछली शताब्दियों के पिष्टपेषण मात्र

---

[१] पृ० १

में कवियों ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। यद्यपि फ़ोर्ट विलियम कॉलेज तथा कुछ व्यक्तिगत प्रयासों के फलस्वरूप कतिपय प्राचीन काव्य-ग्रंथ मुद्रित हो चुके थे, तो भी उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के लगभग अन्त तक हिन्दी कवियों ने प्रेस का आश्रय ग्रहण न किया या न कर सके। यद्यपि घनश्याम शुक्ल (लगभग १६८०-१७७८ के बीच) औरंगज़ेब के राजत्व-काल में दलेल ख़ाँ द्वारा ईस्ट इंडिया कंपनी पर प्राप्त विजय का उल्लेख कर चुके थे, अथवा काव्य में कुछ नवीन उपमा, रूपकों, आदि का समावेश हो गया था, जैसे, टट्टी सम्प्रदाय के महन्त सीतलदास (उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में) ने 'आनन्दचमन' में कहा है :

'खूबी सी दौलत मिली तुझे पर तेरा दिल न उदार रहा,
तू ईसा हुआ जमाने का यह दरदमन्द बीमार रहा' ॥६५॥

अथवा, इस काल के एक प्रमुख कवि, चन्द्रशेखर वाजपेयी (१७६८-१८७५) ने 'नखशिख' (१८५७) में नायिका के नूपुरों का वर्णन करते समय कहा है :

'कंचन रचित राजै नूपुर अनूप कैधौं
बाजे बजैं भू पर मनोज अँगरेज के' ॥५॥

किन्तु ऐसे उदाहरण अपवाद-स्वरूप हैं। सामान्यतः कविगण प्राचीन विषयों पर ही रचनाएँ करते रहे। भारतीय नरेशों और ईस्ट इंडिया कंपनी के बीच का संघर्ष भी उनके काव्य का विषय न बन सका। नवीन प्रभाव और परिवर्तन इस काल की कविता में दृष्टिगोचर नहीं होते। कविता में कोई गति उत्पन्न न हो सकी। शताब्दियों से चली आ रही काव्य-परम्परा के बदलने के लिए वैसे भी समय की आवश्यकता थी। इस काल में नवीनता का जितना प्रभाव बंगाल पर पड़ा उतना हिन्दी प्रदेश पर नहीं पड़ा। ऐतिहासिक दृष्टि से ग्वाल (१८२२-१८६१ के लगभग) और चन्द्रशेखर वाजपेयी की 'हम्मीरहठ' (क्रमशः १८२४ और १८४५) नामक एक ही नाम की दो वीर रचनाएँ विशेष महत्त्व रखती हैं। ग्वाल की रचना के समय तक समस्त हिन्दी प्रदेश पर अँगरेज़ों का आधिपत्य स्थापित हो चुका था। प्रथम सिक्ख-युद्ध के दो वर्ष बाद चन्द्रशेखर वाजपेयी की रचना का निर्माण हुआ। किन्तु भाषा, भाव, शैली, कथा के वर्णन, आदि की दृष्टि से हमें इन दोनों ग्रंथों में कोई नवीनता नहीं मिलती। अन्य अनेक ग्रंथों में राजवंशों का वर्णन ही प्रधान रूप से मिलता है, यद्यपि स्थान-स्थान पर आश्रयदाताओं और उनके पूर्वजों

के वीर-कृत्यों का वर्णन भी परम्पराविहित अतिशयोक्तिपूर्ण शैली में मिल जाता है। वीरकाव्य की रचना करते हुए किसी कवि ने 'आल्हा-गान' नहीं किया। सच बात तो यह है कि इस काल में किसी आदर्श वीर पुरुष के अभाव में उच्च कोटि के नवीन (अथवा प्राचीन ढंग के) वीर-काव्य की रचना न हो सकी।

भक्ति के क्षेत्र में जिस आंदोलन को रामानंद (उ० १३००) ने जन्म दिया तथा कबीर और तुलसीदास ने शक्ति प्रदान की थी, उसका वेग मन्द पड़ गया था। साथ ही तुलसी के मर्यादापुरुषोत्तम राम और आदर्श नारी सीता की भावना में परिवर्तन हो गया था। कृष्ण की भाँति राम के सम्बन्ध में अष्टयाम, नखशिख, रास, राम-सीता का भाइयों तथा सखा-सखियों के साथ अयोध्या की गलियों, कुंजवनों और सरयू-तट पर फाग-लीला तथा अन्य केलि-कलापों का वर्णन होने लगा और सीता की सपत्नियाँ जन्म लेने लगीं। कहीं-कहीं तो सीता खण्डिता नायिका के रूप में चित्रित की गई हैं। जिस प्रकार कृष्ण-भक्ति में राधा को अत्यधिक महत्त्व दिया जा रहा था, उसी प्रकार राम के भक्त कवियों ने सीता को अधिक महत्त्व दिया और कुछ ने अपने को सीता की सखी मान कर स्त्री नाम ग्रहण किए। राम-भावना में यह परिवर्तन उन्नीसवी शताब्दी से पहले ही हो गया था। जिन कवियों ने इस प्रकार के अथवा साधारण राम-चरित्र का वर्णन नहीं किया, उन्होंने भक्ति-पक्ष में राम-सम्बन्धी तीर्थ-स्थानों, पवित्र नदियों, राम-भक्तों की महिमा, राम-भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, गुरु-महिमा, सत्य, इत्यादि तक ही अपने को सीमित रक्खा। यदि किसी नरेश ने राम-चरित्र का वर्णन किया तो उसने राम के शिकार, विलास-प्रिय जीवन, आदि पर अधिक ज़ोर दिया। कवियों ने वाल्मीकि या तुलसी कृत रामायणों या अध्यात्म रामायण में से किसी एक के अथवा मिश्रित आधार पर अपनी रचनाएँ की। मन्दिरों के कर्मकाण्ड और साम्प्रदायिकता की उन पर छाप है। उनमें राम तथा अन्य चरित्रों के जन्म, विवाह, शिकार तथा अन्य रीति-रस्मों, आदि का विस्तृत वर्णन मिलता है।

राम-भक्ति की अपेक्षा कृष्ण-भक्ति-सम्बन्धी रचनाओं का अधिक प्राचुर्य रहा। वल्लभाचार्य (ज० १४७६), हित हरिवंश (ज० १५०२) और स्वामी हरिदास (१५४३-१५६० के बीच में रचना-काल) द्वारा स्थापित क्रमशः वल्लभ, राधावल्लभी और टट्टी सम्प्रदायों के अन्तर्गत अनेक कवि कृष्ण और राधा के विभिन्न रूपों को लेकर उनकी शृंगारपूर्ण लीलाओं, अष्टयाम, नखशिख, आदि का वर्णन कर अपनी अनुभूतियों, व्यंजनाओं और भावनाओं

तथा उक्तियों के सहारे काव्य-साधना में लीन रहे। हजारों वर्षों से कृष्ण ने कवियों को मोह रक्खा था। उस महापुरुष की लीलाओं का वर्णन करते-करते भारतीय कवि अघाते नहीं थे। किन्तु सम्पूर्ण कलावतार कृष्ण के बहुमुखी जीवन का गान करने के बजाय हिन्दी कवियों ने उनकी शृंगारपूर्ण लीलाओं तक ही अपने को सीमित रक्खा। भागवत धर्म का इसमें बहुत बड़ा हाथ था।

उन्नीसवीं शताब्दी में वल्लभ सम्प्रदाय के अनेक कृष्ण-भक्त कवियों में भारतेन्दु के पिता गिरिधरदास (१८३३-१८६०) का प्रमुख स्थान है। उन्होंने 'श्री कृष्ण बलदेव जू की बारहखड़ी', 'मलारावली' और 'प्रेम तरंग' में सच्चे भक्त की भाँति अपनी भावनाओं का प्रकटीकरण किया है। किन्तु उनकी ये तथा अन्य रचनाएँ—'गर्ग संहिता भाषा' और 'जरासंध वध महाकाव्य'—१८५० के बाद की प्रतीत होती हैं, क्योंकि इस समय उनकी अवस्था केवल सत्रह वर्ष की थी। वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों के अतिरिक्त अनेक ऐसे कवियों का आविर्भाव हुआ जिनका वल्लभ सम्प्रदाय से घनिष्ठ सम्बन्ध तो नहीं था—वल्लभ सम्प्रदाय से घनिष्ठ सम्बन्ध होने का उनके ग्रन्थों में कोई संकेत नहीं मिलता—किन्तु जिन्होंने सामान्य कृष्ण-भक्ति का आश्रय ग्रहण कर काव्य-रचना की। सामान्य कृष्ण-भक्ति के अन्तर्गत उन्होंने कृष्ण की विविध लीलाओं, अष्टयाम, नखशिख, तथा अन्य अनेक धार्मिक कृत्यों और मन्दिरों के कर्मकाण्डों के अनुसार धार्मिक व्यापारों का वर्णन किया है। उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के काव्य साहित्य में कृष्ण-चरित्र ही प्रमुख है। निस्सन्देह पहले भी कृष्ण साहित्य की प्रचुर मात्रा में रचना हुई थी, किन्तु इस काल में हमें उसका हीन रूप ही मुख्यतः मिलता है। उसमें 'चितेरिन लीला', 'सुनारिन लीला,' 'मनिहारिन लीला,' 'रँगरेजिन लीला ,' 'पटविन लीला,' आदि हीन लीलाओं का वर्णन भी मिलता है। साहित्यिक सौंदर्य के स्थान पर अब वर्णनात्मकता की प्रधानता हो चली थी। कृष्ण-कवियों की रचनाएँ सामाजिक एवं धार्मिक रीति-रस्मों, आचार-विचार, आदि की दृष्टि से उतनी अधिक सहायक नहीं हैं जितनी राम-कवियों की रचनाएँ।

सामान्य कृष्ण-भक्ति के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों के अन्तर्गत इस काल में उच्च कोटि के ग्रन्थों का निर्माण न हो सका। जो ग्रन्थ मिलते भी हैं उनमें विषय-निर्वाचन, वर्णन-शैली, आदि की दृष्टि से सामान्य कृष्ण कवियों से कोई अधिक अन्तर नहीं मिलता। अठारहवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में राधा-वल्लभी सम्प्रदाय के अन्तर्गत हठी जी, हित वृंदावन दास, आदि कुछ प्रमुख कवि हुए भी, किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में हमें ऐसा कोई अन्य कवि

नहीं मिलता। विलूसन के अनुसार १८२२ तक राधावल्लभी मतावलंबियों की संख्या बहुत थोड़ी रह गई थी। टट्टी सम्प्रदाय के अन्तर्गत महन्त सीतलदास का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ज्ञात कवियों में महन्त जी ही ऐसे प्रथम कवि हैं जिन्होंने आद्योपांत खड़ीबोली में रचना की—स्फुट रूप में खड़ीबोली का प्रयोग करने वाले तो उनके पूर्ववर्ती अनेक कवि मिलते हैं। भाषा में संस्कृत शब्दों के साथ-साथ फ़ारसी शब्दों, व्यक्तियों, प्रतीकों, उपमेय, आदि का भी बाहुल्य है, यद्यपि ब्रज रूपों का नितान्त अभाव नहीं है। तीनों रचनाओं में प्रेमरस से पूर्ण कोमल भावनाओं, सुन्दर शब्द-चित्रों, उत्कृष्ट अलंकार-योजना का प्राधान्य है; उनमें सरसता और प्रवाह है। एक-एक छंद चमन के एक-एक पुष्प की भाँति है। उदाहरण के लिए :

'लहलहे अनोखे लहरदार जानी ये कंज लगंजन-से,
अलसाते हुए झलकते हैं ये शीतल के मनरंजन-से;
दरशात ही आनँद-कन्द लसें अरु त्रिविध-ताप के भंजन-से,
दृग लालबिहारी के दोनों क्या शरद्-चन्द्र में खंजन-से ॥१४॥'[1]

'जानी के शरद्-चन्द्र-मुख से मुसक्यान सुधा की सीर हुई,
वह दशन-झलक जी लेती है क्या जादू की सी बीर हुई,
क्या मुझे उकसने देती है गरदन पर जुल्फ़ जँजीर हुई,
बिन मारे घायल करती है जानी का चितवन पीर हुई ॥१८॥'[2]

'कानों पर गुललाले के गुल ना फ़रमां बिन्दु सुहाया है,
नरगिसी कटोरी आंखों पर अरग़वां अंग छवि छाया है;
जिन्नत गुलदस्ता खड़ा हुआ जिसकी जहान पर छाया है,
जानी इस सैर बग़ीचे की तू आज इसी ढब आया है ॥१३॥'[3]

यद्यपि खड़ीबोली काव्य की क्रमबद्ध परंपरा का इस समय सूत्रपात न हो सका, तो भी महन्त सीतलदास की रचनाएँ उसके उज्ज्वल भविष्य की ओर संकेत करती हैं। भारतेन्दु की मृत्यु (१८८५) के बाद श्रीधर पाठक, अयोध्याप्रसाद खत्री, आदि के हाथों खड़ीबोली आन्दोलन ने निश्चित रूप से ज़ोर पकड़ा।

---

[1] 'गुलज़ारचमन'
[2] 'आनंदचमन'
[3] 'बिहारचमन'

साम्प्रदायिक भक्ति-ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ ऐसे ग्रन्थों की रचना भी हुई जिनका किसी विशेष सम्प्रदाय या राम, कृष्ण, इत्यादि किसी विशेष प्रकार की भक्ति से सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। सामान्य भगवद्भक्ति के अन्तर्गत कवियों ने स्तुतियाँ, ज्ञान, हरि-भक्ति, वैराग्य, विवेक, माया, सत्संग, गुरु-महिमा, सत्य, साधु-महिमा, प्रेम, हृदय की सात्विकता, नाम, संयम, कलियुग के प्रभाव, राम या कृष्ण या अन्य पौराणिक भक्तों की गाथाओं, वर्ण, आश्रम, इत्यादि के सम्बन्ध में रचनाएँ कीं, यद्यपि वे अन्त में राम या अधिकतर कृष्ण, गंगा, शिव, गणेश, आदि में से किसी एक का आश्रय ग्रहण कर लेते हैं। वैष्णव भक्ति या सामान्य भगवद्भक्ति के अन्तर्गत पौराणिक साहित्य की भी रचना हुई। वैष्णव भक्ति का अत्यधिक प्रचार होने से भागवत पुराण के पूर्ण या खण्ड रूप में अनेक अनुवाद या रूपान्तर हुए। इस प्रकार के ग्रन्थों में सौंदर्यपूर्ण साहित्यिक स्थलों का अभाव बिल्कुल तो नहीं है, किन्तु प्रधानता वर्णनात्मकता की है। पद्माकर, दीनदयाल गिरि, जवानसिंह, प्रताप कुँवरि बाई, 'ब्रजनिधि', आदि की रचनाओं पर भाषा, अलंकार, छन्द, रस, षट्ऋतु-वर्णन, आदि की दृष्टि से रीति शैली का प्रभाव है। सांस्कृतिक अध्ययन के लिए ये रचनाएँ अधिक सहायक सिद्ध नहीं होतीं। नवीन धार्मिक आन्दोलन के अभाव के कारण धार्मिक एवं पौराणिक साहित्य कोई नवीनता प्रकट न कर सका। इस काल के कुछ जैन कवियों की रचनाएँ भी मिलती हैं, किन्तु साहित्यिक दृष्टि से उनका अधिक मूल्य नहीं है।

अठारहवीं शताब्दी में निर्गुण सम्प्रदाय ने सक्रियता दिखाई और कुछ नए सम्प्रदाय और उनकी शाखा-प्रशाखाएँ स्थापित हुईं। किन्तु कबीर के समय से चले आ रहे विभिन्न निर्गुण सम्प्रदायों और इन नवीन सम्प्रदायों में अधिक अन्तर नहीं था। सिद्धान्त और शब्दावली भी लगभग प्राचीन रही। जो नए सम्प्रदाय अठारहवीं शताब्दी में स्थापित हुए उनमें ऊपरी अंतर के अतिरिक्त कोई महत्त्वपूर्ण भेद नहीं था—उनकी रचनाओं से तो कम-से-कम यही ज्ञात होता है। उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में कबीरपन्थियों, सतनामियों, चरणदासियों, और शिवनारायणियों, में कोई प्रसिद्ध कवि नहीं हुआ। रामसनेही पन्थ के संस्थापक स्वामी रामचरण (१७१६-१७६८) के शिष्य दयालदास (१७५६-१८२८) की कुछ स्फुट रचनाएँ मिलती हैं। हाथरस वाले तुलसी साहब (१७६३-१८४३) ने भी अपना एक नया पन्थ चलाया था। उनकी रचनाएँ 'घट रामायण', 'रत्नसागर', 'शब्दावली'

और 'पद्मसागर' अपूर्ण हैं। उनमें से कुछ प्रकाशित भी हो चुकी हैं। उनके शिष्य जगन्नाथ ने १८४७ में 'गुरु महिमा' नामक ग्रन्थ की रचना की। संक्षेप में, काल, अनहद, माया, ब्रह्म, सत्संग, नाम, ज्ञान, गुरु, शब्द, योग, भक्ति, साधु, सत्, असत्, त्याग, संयम, सांसारिक जीवन के प्रति उदासीनता, मृगतृष्णा, हृदय की शुद्धि, विरह, सब धर्मों की एकता, आदि, और सामाजिक एवं धार्मिक प्रथाओं की आलोचना उनके चिरपरिचित वर्ण्य विषय हैं। एक महान् विचार-धारा का प्रतिनिधित्व करने के कारण इन रचनाओं का मूल्य अवश्य है, अन्यथा उनमें साहित्यिक सौंदर्य का अभाव है। भाषा का भाषा-विज्ञान की दृष्टि से अध्ययन लाभदायक सिद्ध हो सकता है।

उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के कवियों ने हिन्दी की रीति-परंपरा भी अक्षुण्ण बनाए रक्खी। काव्य-शास्त्र या उसके विभिन्न अंगों, जैसे, काव्य-भेद, काव्य-दोष, गुण, ध्वनि, व्यंजना, रस, अलंकार, पिंगल अथवा इनमें से किसी एक विषय पर अनेक ग्रन्थों का निर्माण हुआ। रस-सम्बन्धी ग्रन्थों में नवरस के वर्णन के साथ-साथ नायक-नायिका-भेद, षट्‌ऋतु-वर्णन, अष्ट-याम, नखशिख-वर्णन, आदि अनिवार्य रूप से आ जाते हैं। रस-सम्बन्धी ऐसे ही ग्रन्थों का अधिक निर्माण हुआ। रसों में भी शृंगार रस पर अधिक ज़ोर दिया गया है, अन्य रसों के सम्बन्ध में संक्षेप में कुछ कह भर दिया गया है। इस दृष्टि से रस-निरूपण सांगोपांग नहीं कहा जा सकता।

रीति-सम्बन्धी अनेक रचनाओं का निर्माण तो हुआ, किन्तु समालोचना-क्षेत्र में कोई नवीन दृष्टिकोण नहीं मिलता। पद्माकर जैसे कवियों में काव्य-प्रतिभा थी, भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार था और उनकी अनूठी उक्तियाँ किसी भी साहित्य को विभूषित कर सकती हैं, किन्तु विषय और शैली की दृष्टि से अधिकांश में उन्होंने पूर्ववर्ती कवियों का अपने ढंग से अनुकरण किया। काव्य-प्रतिभा और नूतनता उनके उदाहरणों में मिलती है, न कि विषय-निर्वाचन और विवेचन में। किसी-किसी ग्रन्थ में तो केवल लक्षण ही मिलते हैं, उदाहरणों का कुछ पता नहीं। प्रतापसाहि ('व्यंग्यार्थ कौमुदी', १८२५) रामराज ('काव्य प्रभाकर', १८४७), सरदार ('मानस रहस्य', १८४७), पजनेश ('खेच्छार्थ षोडशी', १८४७), आदि कवियों ने ब्रजभाषा गद्य में अपने-अपने विषयों की आलोचनात्मक दृष्टि से विवेचना और व्याख्या की है। यह तथ्य एक नवीन दृष्टिकोण अवश्य उपस्थित करता है, किन्तु फिर भी मनोनीत विषय के विविध पक्षों का, पूर्ववर्ती संस्कृत और हिन्दी के

आचार्यों के मतों का खंडन-मंडन करते हुए कोई नवीन मत स्थापित करने के बाद सांगोपांग निरूपण नहीं मिलता। केवल सरदार कवि ने 'सभा प्रकाश', 'काव्य प्रभाकर', 'रस तरंगिणी', 'रस रहस्य', आदि ग्रन्थों का उल्लेख मात्र किया है। संस्कृत रीति के विभिन्न सम्प्रदायों में से रस-सम्प्रदाय ने—उसमें भी केवल शृंगार रस ने—ही उनका ध्यान, अधिक क्या, पूर्णतः आकृष्ट किया। शृंगार के परम्परागत क्षेत्र में कवियों ने अपनी काव्य-प्रतिमा का चमत्कार प्रदर्शित किया। नाट्य-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों का पूर्णतः अभाव रहा—सम्भवतः नाटकों का अभाव ही इसका प्रधान कारण रहा हो। कुछ कवियों, जैसे, मुरलीधर, प्रतापसाहि, चन्द्रशेखर वाजपेयी, रामराज, पजनेश, आदि ने तो संस्कृत के आधार-ग्रन्थों का उल्लेख कर दिया है, किन्तु अधिकतर रचनाएँ प्रायः 'रस-रीति', 'छंद-रीति', 'काव्य-रीति', आदि के अनुसार रची हुई मिलती हैं, जिसका तात्पर्य है हिंदी के पिछले रीति-ग्रंथों के माध्यम द्वारा 'चंद्रालोक', 'कुवलयानंद', 'साहित्य-दर्पण', आदि संस्कृत की परवर्ती रीति-परम्परा के आधार पर।

शास्त्रीय दृष्टि से निर्मित रचनाओं के अतिरिक्त असनी के ठाकुर द्वितीय, बोधा, रामसहायदास, पजनेश, 'द्विजदेव', आदि कुछ कवियों की स्फुट रचनाओं में केवल प्रेम और शृंगार का रूप मिलता है। इन कवियों ने रीति-शास्त्र या उसके किसी अंग पर रचना तो नहीं की, किन्तु उनके विषयों का विभाजन नायक-नायिका-भेद, अष्टयाम, षट्ऋतु, नखशिख, आदि के अन्तर्गत सरलतापूर्वक किया जा सकता है। भाषा-शैली, शब्द तथा अलंकार-योजना की दृष्टि से उनमें तथा रीति-शास्त्र के अन्य कवियों में कोई विशेष भेद नहीं मिलता।

रीतिशास्त्र के अध्ययन के फलस्वरूप इस काल में कुछ काव्य-संग्रह भी प्रस्तुत किए गए जिनमें संग्रहकर्ताओं ने संक्षेप में लक्षण देने के बाद अपने तथा अन्य पूर्ववर्ती और समकालीन कवियों द्वारा रचित छन्द उदाहरण-स्वरूप उद्धृत किए हैं। स्कन्दगिरि ने अपने स्वतंत्र रीति-ग्रन्थ 'रस मोदक' में भी अन्य कवियों की रचनाओं से स्थान-स्थान पर उदाहरण दिए हैं। किन्तु साधारणतः स्वतंत्र रूप से रचे गए रीति-ग्रंथों में यह प्रवृत्ति नहीं पाई जाती। पद्माकर, ग्वाल, ठाकुर, पजनेश, आदि रीति-कवियों के छन्द अन्य प्रकार के काव्य-संग्रहों में भी मिलते हैं। रीति की दृष्टि से उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में दो काव्य-संग्रह तैयार हुए—नवीन द्वारा सम्पादित 'सुधासर' (१८३८) और सरदार द्वारा सम्पादित 'शृंगार संग्रह' (१८४८)। सामान्य प्रवृत्ति

के अनुसार इन संग्रहों में भी शृंगार रस के अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद, नखशिख, षट्ऋतु, संचारी, हाव, विरह-दशा, इत्यादि विषयों को प्रधानता दी गई है। रस के अध्ययन के लिए ये काव्य-संग्रह उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

यद्यपि अलंकार और पिंगल-सम्बन्धी ग्रन्थों में धार्मिक विषय के छन्द भी मिलते हैं, तो भी विविध प्रकार के सम्पूर्ण रीति साहित्य में शृंगार रस के अन्तर्गत जिन विषयों की प्रधानता है, उनकी ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है। राधा-कृष्ण अथवा सामान्य नायक-नायिका की दिनचर्या लेकर पद्माकर, ग्वाल, भगवतदास, पजनेश, बोधा, ठाकुर (द्वितीय और तृतीय), 'द्विजदेव', मुरलीधर मिश्र, रामसहायदास, प्रतापसाहि, चन्द्रशेखर वाजपेयी, किशन जी आढ़ा, आदि कवियों ने भाषा, भाव, अलंकार, रस, आदि की दृष्टि से अनेक सुन्दर छन्दों की रचना की। किन्तु कभी-कभी उनकी रचनाओं में विषय-विस्तार अति की सीमा तक पहुँचा हुआ मिलता है। कृष्ण की अनेक हीन लीलाओं (चितेरिन, कुँजड़िन, मनिहारिन, रँगरेजिन, आदि लीलाएँ और जो कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं में भी मिलती हैं), षट्ऋतु, अष्टयाम और नखशिख के अनावश्यक और गौण तथ्यों का विस्तार सुरुचिपूर्ण नहीं कहा जा सकता। पजनेश, ग्वाल, चन्द्रशेखर वाजपेयी, आदि कुछ कवियों ने नायिका के तिल, गोदना, मुहासों, चेचक के दाग़ों और ओढ़नी, अँगिया तथा लहँगे पर बने बेल-बूटों तक का वर्णन किया है। भाषा की सजावट और पच्चीकारी की ओर भी कवियों का ध्यान आकृष्ट हुआ। वास्तव में उस समय तक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विस्तार घुस गया था। ऐसी परिस्थिति और वातावरण में हिंदी कवियों में, जो नरेशों और धनिकों के आश्रित रहते थे, विचार और भाषा की दृष्टि से विस्तार और पच्चीकारी पाई जाती हो तो कोई आश्चर्य नहीं। हिन्दी के इन रीति तथा शृंगार ग्रन्थों की भाषा पहिले से ही बहुत-कुछ निश्चित-सी हो चुकी थी।

भक्ति काव्य से भिन्न कुछ ग्रन्थों में वैराग्य, नीति, संसार की असारता, हृदय की पवित्रता, संयम, संतोष, सत्य, पाप-पुण्य के भेद, आदि के अतिरिक्त अन्योक्तियों द्वारा राजनीति, व्यवहार-कुशलता, कूटनीतिज्ञता, वैभव, आदि अनेक मानवोचित गुणों पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार का काव्य भारतीय साहित्य का सदैव अंग रहा है। भाषा, शब्द-योजना, सरल शैली, जीवन के परिपक्व भावों, विचारों और अनुभवों तथा रूपक, व्याज-स्तुति-निंदा, इत्यादि अलंकारों के प्रयोग की दृष्टि से दीनदयाल गिरि सर्वोत्तम कवि ठहरते

हैं। जीवन के निकटतम अध्ययन द्वारा प्राप्त सूक्ष्म अनुभव को उन्होंने अत्यन्त कलात्मक और सुन्दर शैली में व्यक्त किया है। उपयुक्त अवसरों पर अब तक साधारण जनता द्वारा उद्धृत वचन उनकी सफलता के सर्वोत्तम प्रमाण हैं। उनकी रचनाओं का हृदय और जनसाधारण की प्रतिभा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। गिरिधर कविराज तो केवल नीति-कवि थे, किन्तु दीनदयाल गिरि में कुछ रहस्यात्मक प्रवृत्ति भी है और वे प्रत्येक वस्तु के पीछे ईश्वर की सत्ता का अनुभव करते हैं। वेदान्त सम्बन्धी विषय अत्यन्त सरल और स्पष्ट शैली में व्यक्त किए गए हैं। अन्य कवियों की रचनाओं में भी आध्यात्मिक तत्त्व मिलता है।

इन प्रधान-प्रधान विषयों के अतिरिक्त उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में परम्परानुसार ही ज्योतिष, धनुर्विद्या, गणित, अश्व-पालन, चिकित्सा, काम-शास्त्र, आदि उपयोगी विषयों पर पद्य-बद्ध रचनाएँ हुईं। साहित्य में अभी गद्य की प्रधानता स्थापित नहीं हुई थी। विविध प्रकार के—विशेषतः भक्ति, नीति और शृंगार-सम्बन्धी—काव्य-संग्रह भी इस काल के साहित्यिक क्रिया-कलाप में प्रमुख स्थान रखते हैं जिनसे हमें साहित्य के अध्ययन और कवियों का समय निर्धारित करने में सहायता मिलती है। ऐसे संग्रहों में से रीति और शृंगार के अन्तर्गत नवीन और सरदार द्वारा सम्पादित संग्रहों का पहले उल्लेख हो चुका है। उनके अतिरिक्त टॉमस ड्यूएर ब्राउटन (Thomas Duer Broughton) कृत 'सेलेक्शन्स फ्रॉम दि पौप्युलर पोइट्री ऑव दि हिन्दूज़' (१८१४), लल्लूलाल कृत 'सभा विलास' (१८१५) और कृष्णानन्द व्यास कृत 'राग सागरोद्भव राग कल्पद्रुम' (१८४३) सुन्दर संग्रह हैं। 'संग्रह', 'संग्रह कवित्त फुटकर', आदि शीर्षक संग्रह भी मिलते हैं जिनके संग्रहकर्त्ताओं, तिथियों, आदि का पता नहीं। किन्तु पद्माकर, ग्वाल, पजनेश, ठाकुर, आदि के छन्दों का उनमें समावेश होने के कारण वे भी उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में सम्पादित सिद्ध होते हैं।

भाषा की दृष्टि से काव्य-क्षेत्र में ब्रजभाषा का एकाधिपत्य ज्यों का त्यों बना रहा, यद्यपि, कुछ अपवाद छोड़ कर, स्थानीय प्रयोगों, खड़ीबोली, पंजाबी, राजस्थानी, पहाड़ी, बुन्देलखंडी और पूर्वी में से स्थानानुसार किसी एक या दो के शब्दों का मिश्रण मिलता है। वीर-काव्यों में संयुक्त वर्णों वाली शैली का प्रचार रहा। राम-सम्बन्धी प्रबन्ध काव्यों में खड़ीबोली और ब्रजभाषा-मिश्रित पूर्वी का, किन्तु मुक्तक छन्दों में ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है। देशज शब्दों, कहावतों, मुहावरों और अरबी-फ़ारसी शब्दों का भी

अभाव नहीं है। खड़ीबोली में आद्योपान्त रचना करने वालों में एक कवि महन्त सीतलदास का नाम ज्ञात है। वीर और राम-भक्ति सम्बन्धी रचनाएँ प्रधानतः प्रबन्ध काव्य की श्रेणी और कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी रचनाएँ प्रधानतः मुक्तक काव्य की श्रेणी के अन्तर्गत आती हैं—यद्यपि पहले प्रकार की रचनाएँ मुक्तक काव्य और दूसरे प्रकार की रचनाएँ प्रबन्ध काव्य (जैसे, रघुराजसिंह कृत 'रुक्मिनी परिणय') की श्रेणी के अन्तर्गत भी मिलती हैं। खण्ड काव्य के अन्तर्गत प्रायः कृष्ण-सम्बन्धी रचनाएँ ही आती हैं। रीति, शृंगार और नीति की सभी रचनाएँ मुक्तक रूप में हैं। छन्दों की विविधता की दृष्टि से रुद्रप्रताप सिंह, विश्वनाथ सिंह और रघुराज सिंह के ग्रंथ महत्व-पूर्ण हैं। सम्पूर्ण काव्य-साहित्य में वीर, शृंगार और शान्त रसों की प्रधानता है। अन्य रस केवल सहायक रसों के रूप में आए हैं। रीति और शृंगार कवियों की अत्यधिक अलंकार-प्रियता नैसर्गिक, स्वस्थ एवं उत्कृष्ट साहित्या-भिरुचि की परिचायक नहीं समझी जा सकती।

इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य, जो उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध तक हिन्दी की प्रधान, और एक प्रकार से एकमात्र, साहित्यिक सम्पत्ति थी, विषयों, भावों-विचारों, रूपों, भाषा और शैली की दृष्टि से ताज़गी और नवीनता प्रदर्शित नहीं करती। उसकी दशा एक चिर नवीन, स्वच्छ और शक्तिशाली जलधारा के किनारे कट कर बन जाने वाली उस क्षीण धारा के समान थी जो बन्द, मटमैले, शान्त और दूषित जल से भरी रहती है और जिसमें कभी-कभी प्रधान धारा की ओर से स्वच्छ जल की लहरें भी तरंगित हो उठती हैं। जिस समाज में उसका जन्म हुआ था वह रूढ़ि-ग्रस्त था और दुर्बल होकर लड़खड़ा रहा था, यद्यपि कुछ लोगों ने उससे ऊपर उठने की चेष्टा अवश्य की।

उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में नवीन शक्तियों का प्रभाव गद्य के क्षेत्र में मिलता है। इस समय खड़ीबोली और खड़ीबोली गद्य ने अपने उज्ज्वल भविष्य और साहित्य में महत्त्वपूर्ण भावी गद्य-युग के पूर्वाभास की सूचना दी। हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस समय खड़ीबोली गद्य ने आधुनिकता एवं नवीनता का बीजारोपण किया। भारतेन्दु युग में यही बीज अंकुरित हुआ। वास्तव में अँगरेज़ी राज्य के विस्तार और फलतः नवीन परिस्थितियों से उत्पन्न नवीन जीवन-क्रम के साथ-साथ खड़ीबोली गद्य का प्रचार बढ़ता गया। इसलिए अँगरेज़ी राज्य और खड़ीबोली का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह नए राज्य के साथ नवयुगीन भावों-

विचारों और आकांक्षाओं का भार वहन करती हुई साहित्य के क्षेत्र में अवतरित हुई। राजनीतिक घटनाओं के कारण ही नहीं, इस साहित्यिक घटना के कारण भी उन्नीसवीं शताब्दी—विशेषतः पूर्वार्द्ध—का हिन्दी साहित्य के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रहेगा। इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि इस शताब्दी से पहले हिन्दी में खड़ीबोली या अन्य प्रकार का गद्य था ही नहीं, अथवा साहित्य में खड़ीबोली का प्रयोग ही नहीं होता था। पहले भी गद्य था और खड़ीबोली का भी प्रयोग होता था। ब्रजभाषा, राजस्थानी और खड़ीबोली गद्य की हमें तीन स्फुट परम्पराएँ मिलती हैं। सम्भव है खोजों से इन परम्पराओं का इतिहास और भी प्रकाश में आए। उन्नीसवीं शताब्दी (पूर्वार्द्ध) का महत्त्व इस बात में है कि इस समय जहाँ एक ओर गद्य की पहली दो स्फुट परम्पराओं का अन्त हो जाता है, वहाँ उसकी तीसरी परम्परा—खड़ीबोली गद्य की परम्परा—का क्रमबद्ध इतिहास मिलता है। यह परम्परा केवल खड़ीबोली गद्य की ही नहीं वरन् साहित्य के इतिहास में गद्य मात्र की सर्वप्रथम क्रमबद्ध परम्परा है।

हिन्दी साहित्य में समय-समय पर ब्रजभाषा गद्य का प्रयोग होता चला आया है। गोरखनाथ कृत कही जाने वाली रचनाओं के बाद विट्ठलनाथ ('शृंगार रस मण्डन'), नाभादास ('अष्टयाम'), इत्यादि ने उसमें रचनाएँ कीं और चौरासी तथा दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ताओं के जैसा पुष्ट गद्य प्रस्तुत हुआ। परम्परानुसार उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में ब्रजभाषा गद्य तीन रूपों में मिलता है: पहला, ब्रजभाषा में स्वतंत्र रूप से लिखे गए अनूदित या मौलिक गद्य-ग्रन्थों के रूप में, दूसरा, काव्य-टीकाओं के रूप में और तीसरा, स्वयं कवियों द्वारा अपनी रचनाओं में दी गई टिप्पणियों के रूप में। स्वतंत्र रूप से लिखे गए गद्य-ग्रंथों में लल्लूलाल कृत 'राजनीति' (१८०२, प्रकाशित १८०९) और 'माधोविलास' (१८१७)[1] विशेष रूप से उल्लेखनीय

---

[1] ग्रियर्सन ने अपने इतिहास (१८८९) और 'लाल-चंद्रिका' (१८९६) की भूमिका में, स्वर्गीय रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास (१९९१ वि०) में और सभा द्वारा प्रकाशित 'प्रेमसागर' के भूमिका-लेखक ने 'राजनीति' की तिथि १८१२ दी है। किन्तु रचना-काल और प्रकाशन की दृष्टि से यह तिथि अशुद्ध है। 'राजनीति' संस्कृत 'हितोपदेश' का अनुवाद है। 'माधोविलास' भी संस्कृत रचना का गद्य-पद्य-मिश्रित अनुवाद है।

हैं—वास्तव में यदि 'राजनीति' और 'माधोविलास' ब्रजभाषा परम्परा की अन्तिम उपलब्ध महत्त्वपूर्ण कृतियाँ कही जायँ तो कोई हानि न होगी।

ब्रजभाषा गद्य की क्रमबद्ध परम्परा न होने के कारण इन ग्रन्थों की भाषा सुगठित और मँजी हुई नहीं है। स्पष्ट रूप से विचार प्रकट करने की शक्ति का उसमें अभाव है। एक-से शब्दों, वाक्यों और वाक्यांशों की बार-बार पुनरावृत्ति होने के कारण भाषा में प्रवाह नहीं मिलता। ब्रजभाषा साहित्यिक भाषा थी, इसलिए प्रारम्भ में धार्मिक विषयों के लिए भी ब्रजभाषा गद्य का प्रयोग होने से पंडितों की एक निजी शैली का आविर्भाव हो गया था। उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के ब्रजभाषा गद्य पर पंडितों की शैली का यथेष्ट प्रभाव पाया जाता है—विशेष रूप से टीका-टिप्पणियों के गद्य पर। स्वतंत्र रूप से लिखे गए ग्रन्थों की भाषा कुछ अच्छी है। शिथिलता के साथ-साथ ब्रजभाषा गद्य में खड़ीबोली और संस्कृत के तत्सम रूप भो मिलते हैं।

वास्तव में ब्रजभाषा गद्य-परम्परा एक परम्परा मात्र थी। अनेक ग्रन्थ तो ऐसे मिलते हैं जिनकी रचना-तिथि या लेखक का नाम अज्ञात है। यह परम्परा इस काल के अन्त तथा उसके बाद भी थोड़े समय तक चलती रही। किन्तु वह निर्जीव हो चुकी थी। धार्मिक ग्रन्थों और कथा-वार्ताओं तथा काव्य-टीकाओं की भाषा होने के कारण उसकी सीमित शब्दावली अँगरेज़ी साम्राज्य में उत्पन्न नवीन परिस्थितियों और आवश्यकताओं के लिए ग्राह्य न हो सकी।

ब्रजभाषा गद्य-परम्परा की भाँति राजस्थानी गद्य-परम्परा भी काफ़ी प्राचीन है। राजस्थानी गद्य-परम्परा का सूत्रपात बारहवीं शताब्दी के लगभग से माना जाता है। राजस्थानी गद्य-साहित्य बहुत-कुछ नष्ट हो चुका है, किन्तु तब भी जो कुछ सामग्री उपलब्ध है उसके आधार पर निस्संकोच यह कहा जा सकता है कि ब्रजभाषा की अपेक्षा राजस्थानी गद्य-परम्परा अधिक समृद्ध और विविध-विषय-संपन्न रही। उसमें दानपत्रों, पट्टों-परवानों, जैन-ग्रन्थों, वार्ता, तथा राजनीति, इतिहास, काव्य-शास्त्र, गणित, ज्योतिष, आदि भिन्न-भिन्न विषय सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना हुई। टीका-टिप्पणियों और अनुवादों का भी अभाव नहीं रहा। प्रारंभिक गद्य पर संस्कृत की समास-युक्त शैली और अपभ्रंश का प्रभाव है। बाद को वह खड़ीबोली के निकट होने के कारण उसके रूप ग्रहण करता रहा। फिर ब्रजभाषा के साहित्यिक पद पर आसीन हो जाने से वह उसके प्रभाव से भी अलग न रह सका। अनुमान के आधार पर उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध से सम्बन्ध रखने वाले अनेक ऐसे उपलब्ध ग्रन्थ हैं जिनमें किसी-न-किसी रूप में अथवा ब्रजभाषा की भाँति तीनों रूपों में राजस्थानी गद्य मिलता है। किन्तु रचना-

तिथियों या कवियों या लेखकों के नाम अज्ञात होने से उनके बारे में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। केवल फ़तहराम वैरागी कृत 'पंचाख्यान' (१८४७) एक ऐसी रचना मिलती है जिसकी रचना-तिथि और लेखक के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहा जा सकता है। 'पंचाख्यान' संस्कृत 'पंचतंत्र' का अनुवाद है। फ़तहराम मेवाड़ के निवासी और राजस्थानी के एक अच्छे कवि और गद्य-लेखक थे।

ब्रजभाषा की भाँति राजस्थानी गद्य की भी अपनी सीमाएँ थीं, इसलिए वह भी नए विषयों के प्रतिपादन और नई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उपयुक्त और उपयोगी माध्यम सिद्ध न हो सका। हिन्दी की नई साहित्यिक चेतना के केन्द्र कलकत्ते से ब्रजभाषा और राजस्थानी के केन्द्र दूर पड़ते थे जिससे वे समयानुसार और आवश्यकतानुसार नया रूप ग्रहण न कर सके। मध्यदेश और राजस्थान के धार्मिक और राजनीतिक पतन के कारण उनका आगे और पनप सकना कठिन था। वैसे तो उपलब्ध सामग्री के आधार पर यह कहा जा सकता है कि खड़ीबोली गद्य की परम्परा तो ब्रजभाषा की परम्परा से भी कमज़ोर थी। किन्तु एक तो उन्नीसवीं शताब्दी में खड़ीबोली का प्रचार—अपने विविध रूपों में - समस्त उत्तर भारत में हो चुका था, दूसरे नए शासकों ने प्रारम्भ में खड़ीबोली को प्रधान भाषा समझ कर राज्याश्रय प्रदान किया और उसी में प्रेस का सहायता से शासन तथा शिक्षा-सम्बन्धी कार्य शुरू किया। प्रेस को सहायता ब्रजभाषा और राजस्थानी गद्य को न मिल सकी थी। इन दो विशेष कारणों से खड़ीबोली बाज़ी मार ले गई और दिन-पर-दिन साहित्य में—पहले गद्य के क्षेत्र में और फिर काव्य के क्षेत्र में—प्रधानता ग्रहण करती गई और नवीन साहित्यिक चेतना का माध्यम बनी। एक प्रकार से यह अच्छा ही हुआ। नहीं तो आगे चल कर जिस प्रकार काव्य के क्षेत्र में ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली का आन्दोलन छिड़ा, उसी प्रकार गद्य के क्षेत्र में भी ब्रजभाषा, राजस्थानी और खड़ीबोली में संघर्ष छिड़ जाता। अँगरेज़ी राज्य की स्थापना और विस्तार के साथ सम्बन्ध होने और नवीन वैज्ञानिक साधनों के सहारे तथा उनके फलस्वरूप समस्त देश के एक सूत्र में बँध जाने के कारण खड़ीबोली नित्य नई शक्ति संचित कर साहित्य के क्षेत्र में ही एकाधिपत्य स्थापित करने में नहीं वरन् हिन्दी प्रदेश से बाहर फैल कर राष्ट्रीय रूप ग्रहण करने में सफल हो सकी है।

खड़ीबोली गद्य के इतिहास पर विचार करते समय तासी, ग्रियर्सन

फ़्रेज़र, की, ग्रीव्ज़ विदेशी और उनके आधार पर भारतीय इतिहास-लेखकों ने लल्लूलाल और सदल मिश्र—प्रधानतः लल्लूलाल—के नाते आधुनिक खड़ीबोली गद्य का जन्म फ़ोर्ट विलियम कॉलेज (१८००) में गिलक्राइस्ट की अध्यक्षता में माना है। दूसरे शब्दों में, अँगरेज़ों ने १८०० में फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में आधुनिक (खड़ीबोली) गद्य का आविष्कार किया। किन्तु यह मत कितना निर्मूल है यह ऊपर के विवरण से सिद्ध हो जाता है। अँगरेज़ों के भारतवर्ष आने या फ़ोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना या लल्लूलाल से पूर्व हिन्दी में ब्रजभाषा, राजस्थानी और स्वयं खड़ीबोली की गद्य-परम्परा थी—यद्यपि खड़ीबोली की परम्परा क्षीण रूप में थी। उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व हिन्दी साहित्य में खड़ीबोली का बराबर प्रयोग होता था। काव्य के क्षेत्र में अमीर खुसरो और सन्त कवियों से लेकर दक्खिनी हिन्दी के कवियों तक उसका किसी-न-किसी रूप में सदैव प्रयोग होना हिन्दी साहित्य के साधारण ज्ञान की बात है। कॉलेज से पहले या उससे बाहर खड़ीबोली गद्य का निर्माण हुआ था और उन्नीसवीं शताब्दी के आसपास ही या उसके प्रथम दशाब्द में भी हो रहा था। इतिहास-लेखकों के मतानुसार लल्लूलाल से ऐसी भाषा में 'प्रेमसागर' (१८०३-१८१०) रचने के लिए कहा गया था जिसमें से अरबी-फ़ारसी या अन्य विदेशी शब्द निकाल कर उनके स्थान पर शुद्ध संस्कृत शब्दों का प्रयोग किया गया था और जिसके फलस्वरूप आधुनिक हिन्दी गद्य का जन्म हुआ। यह मत भी भ्रान्तिमूलक है। क्योंकि अठारहवीं शताब्दी में पटियाला के रामप्रसाद 'निरंजनी' कृत 'भाषा योग वासिष्ठ' (१७४१) और मध्य प्रान्त के दौलतराम कृत 'जैन पद्म पुराण' (१७६१) की भाषा में अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ। १७६१ में अँगरेज़ हिन्दी प्रदेश तक पहुँचे भी नहीं थे। स्वयं कॉलेज की स्थापना के समय मथुरानाथ शुक्ल ने 'पंचांग दर्शन' (१८००) और लगभग इसी समय सदासुखलाल ने विष्णु पुराण पर आधारित गद्य-रचना की और १७६८ और १८०८ के बीच इंशा ने 'रानी केतकी की कहानी' की रचना की। इन सब रचनाओं में अरबी-फ़ारसी शब्दों के स्थान पर विशुद्ध संस्कृत या ठेठ हिन्दी शब्दों का प्रयोग हुआ है। अस्तु, आधुनिक खड़ीबोली गद्य का जन्म अँगरेज़ों के संरक्षण में फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के हिन्दुस्तानी विभाग के अध्यक्ष जॉन बौर्थविक् गिलक्राइस्ट के प्रोत्साहन से रचे गए लल्लूलाल कृत 'प्रेमसागर' से नहीं माना जा सकता। लल्लूलाल आधुनिक खड़ीबोली गद्य के जन्मदाता

तो नहीं कहे जा सकते, किन्तु अब तक की उपलब्ध सामग्री के आधार पर रामप्रसाद 'निरंजनी', दौलतराम, मथुरानाथ शुक्ल, सदासुखलाल, इंशा तथा अन्य कई और छोटे-छोटे लेखकों के साथ लल्लूलाल और सदल मिश्र भी—उनकी रचनाएँ चाहे जिस दृष्टिकोण से हुई हों—खड़ीबोली गद्य के प्रारंभिक उन्नायकों में समझे जा सकते हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि अँगरेज़ों के संरक्षण में आधुनिक खड़ीबोली गद्य का जन्म तो नहीं हुआ, उसका स्वतंत्र अस्तित्व पहले ही से था और उन्नीसवीं शताब्दी में स्वतन्त्र रूप से वह बढ़ भी रहा था, किन्तु अँगरेज़ों के माध्यम द्वारा स्थापित विभिन्न संस्थाओं, शिक्षा-केन्द्रों, उनके शासन की आवश्यकताओं और नवीन साहित्य, ईसाई धर्म, प्रेस, समाचार-पत्र, आदि पाश्चात्य शक्तियों के फलस्वरूप प्रचलित नवीन भावों, विचारों, आदि के द्वारा खड़ीबोली गद्य को प्रोत्साहन, विकसित होने का अवसर, अवश्य प्राप्त हुआ। प्रारम्भ में संस्कृत, अरबी, फ़ारसी, अँगरेज़ी और आधुनिक भारतीय भाषाओं को लेकर ईस्ट इंडिया कंपनी के कर्मचारियों में काफ़ी वाद-विवाद हुआ। पहली तीन भाषाओं का जनता से सम्बन्ध नहीं था, यद्यपि परम्परानुसार राज्य-कार्यों में कंपनी अब भी फ़ारसी भाषा का प्रयोग कर रही थी। अँगरेज़ी के पक्षपाती उसे जन-साधारण की भाषा बनाने में असफल रहे, किन्तु राज्य-भाषा की दृष्टि से उसका महत्व किसी प्रकार कम न हो सका। असंख्य भारतवासियों को अँगरेज़ी सिखा कर शासन-कार्य, व्यापार, शिक्षा-प्रचार, इत्यादि का कार्य असम्भव था। उसके स्थान पर अल्पसंख्यक विदेशी शासकों का भारतीय भाषाएँ सीख कर भारतवासियों के साथ सम्पर्क बढ़ाने और उन्हीं की भाषाओं के माध्यम द्वारा उन्हें यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान से परिचित कराना और नव-शिक्षा प्रदान करना अधिक सरल था। फ़ारसी और अँगरेज़ी के बाद व्यापार, शिक्षा, आदि की दृष्टि से आधुनिक भारतीय भाषाओं के पक्षपातियों की विजय हुई, यद्यपि मैकॉले की मिनिट्स (१८३३) ने उनके पक्ष को बहुत बड़ा आघात पहुँचाया। १८३७ में कंपनी ने अदालती तथा अन्य शासन-सम्बन्धी कार्यों में फ़ारसी बिल्कुल हटा दी और उसका स्थान भारतीय भाषाओं को दिया। इस सम्बन्ध में ईस्ट इंडिया कंपनी ने खड़ीबोली या विशुद्ध हिन्दुस्तानी या ठेठ खड़ीबोली या हिन्दुस्तानी या उर्दू का अरबी-फ़ारसी-प्रधान रूप अपनाया, यद्यपि हिन्दी प्रदेश तथा उससे बाहर दूर-दूर तक के हिन्दू नरेश कंपनी के साथ पत्र-व्यवहार करते समय सर्वप्रचलित अरबी-फ़ारसी शब्दों तथा स्थानीय बोलियों के शब्दों

और रूपों से मिश्रित खड़ीबोली हिन्दी (आधुनिक अर्थ में) या खड़ीबोली के शब्दों और रूपों से मिश्रित स्थानीय बोलियों का प्रयोग बराबर करते थे। कंपनी की भाषा-नीति निर्धारित करने में गिलक्राइस्ट का बहुत बड़ा हाथ था। फ़ोर्ट विलियम कॉलेज से निकले हुए विद्यार्थी उसे शासन के प्रत्येक विभाग में लेते गए। गिलक्राइस्ट के बाद भी उनकी भाषा-नीति कंपनी के दैनिक शासन में बरती जाती रही। लिपि के सम्बन्ध में गिलक्राइस्ट रोमन लिपि के पक्षपाती थे। किन्तु फ़ारसी और नागरी लिपियों को वे हटा न सके। फ़ारसी भाषा के कारण फ़ारसी लिपि का प्रयोग करना अनिवार्य था। गिलक्राइस्ट के रोमन लिपि के पक्षपाती होने पर भी प्रारम्भ में कंपनी केवल फ़ारसी भाषा के लिए फ़ारसी लिपि का और हिन्दुस्तानी (सरल उर्दू) के लिए १८३७ के लगभग तक नागरी लिपि का प्रयोग करती थी। उसके बाद हिन्दुस्तानी के लिए भी फ़ारसी लिपि नागरी लिपि का स्थान ग्रहण करती गई। इतने दिनों तक कंपनी नागरी लिपि इसलिए अपनाए रही क्योंकि आधुनिक संयुक्त प्रान्त और बिहार की जनता में उसका सबसे अधिक प्रचार था, वह सरलतापूर्वक सीखी जा सकती थी, मरहठों के और नैपाल राज्यों तथा कुमायूँ, गढ़वाल, राजपूताना, आदि के लगभग सभी कार्य उसमें होते थे, और कैथी और महाजनी लिपियाँ उसके अत्यधिक समीप और रूपान्तर मात्र थीं। वास्तव में, जैसा कि लॉर्ड टेनमथ ने १७८३ में ऑक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी में अरबी भाषा के प्रोफ़ेसर, रेव० फ़ोर्ड, को पत्र लिखते हुए कहा है,[1] जिस समय गिलक्राइस्ट भारतवर्ष आए थे (१७८३) उस समय 'मूर्स' (Moors) के नाम से पुकारी जाने वाली हिन्दुस्तानी के लिए नागरी लिपि का प्रयोग होता था। किन्तु सौदा ने जब अपने दीवान की 'मूर्स' में रचना की तो उन्होंने फ़ारसी लिपि का प्रयोग किया और इस कार्य के लिए उनकी सराहना की गई। कंपनी द्वारा प्रकाशित विज्ञापनों, नोटिसों, आईनों, इत्यादि की भाषा में 'परजा', 'आगामी', 'इति', 'मिति', 'जात्रा', 'छेतर', आदि हिन्दी शब्द आने पर भी उनकी भाषा सरल उर्दू है। वाक्य-रचना विदेशी है, अनेक अप्रचलित अरबी-फ़ारसी शब्दों का उनमें जमघट है, और शैली मुंशियाना है। कहीं-कहीं बिहारी शब्दों का भी उनमें प्रयोग हुआ है। भाषा-

---

[1] लॉर्ड टेनमथ : 'मेम्वायर ऑव दि लाइफ़ ऐंड कॉरेस्पौंडेंस ऑव जॉन लॉर्ड टेनमथ', जि० १, १८४३, पृ० १०४-१०५। लेखक जॉन लॉर्ड टेनमथ का पुत्र था।

विज्ञान की दृष्टि से उनका अध्ययन उपयोगी सिद्ध हो सकता है। १८३७ के बाद हिन्दुस्तानी भाषा ने जो रूप ग्रहण किया उसका अस्तित्व पहले ही से था। फ़ारसीदाँ अमले हिन्दुस्तानी का प्रयोग करते समय फ़ारसी-शैली, शब्दावली, और मुहावरे लाए बिना न रहते थे। फ़ारसी के हट जाने से, उस पर प्रतिबन्ध लग जाने से, उसकी विदेशी शानशौकत से हिन्दुस्तानी भाषा स्वतंत्र रूप से सजाई जाने लगी। यही कारण है कि १८३७ के बाद की हिन्दुस्तानी या उर्दू का रूप उससे पहले के उसके रूप की अपेक्षा अधिक क्लिष्ट है। मुसलमानी दरबारों में हिन्दी प्रचलित थी।[१] किन्तु उसका स्थान जिस भाषा ने ग्रहण किया, और अब तक किए हुए है, उसके पीछे वाहबी आन्दोलन का आश्रय ग्रहण किए हुए राज्य-च्युत मुसलमानों को अधिक अप्रसन्न न करने का राजनीतिक कारण और अँगरेज़ सरकार की लापरवाही और भाषा-विषयक अनभिज्ञता का हाथ रहा है।

ईस्ट इण्डिया कंपनी की भाषा-नीति का मूल स्रोत कंपनी के सिविल कर्मचारियों की शिक्षा और सुधार की दृष्टि से वेलेज़ली द्वारा स्थापित फ़ोर्ट विलियम कॉलेज (१८००-१८५४) था। कॉलेज की स्थापना कर वेलेज़ली भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव सुदृढ़ बनाना चाहते थे। अन्य अनेक विषयों के साथ उसमें आधुनिक भारतीय भाषाओं के वैज्ञानिक और व्यवस्थित अध्ययन का सरकारी तौर पर सर्वप्रथम प्रबन्ध हुआ। ब्रिटिश-भारतीय सम्बन्ध के इतिहास में सर विलियम जोन्स (१७४६-१७६४) द्वारा १७८४ में स्थापित एशियाटिक सोसायटी के बाद फ़ोर्ट विलियम कॉलेज ही ऐसी दूसरी महत्वपूर्ण संस्था थी जहाँ एक केन्द्रीय स्थान पर ज्ञान के क्षेत्र में, परोक्ष रूप से, आदान-प्रदान हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के शुरू होते ही भारतीय भाषाओं में अनेक दृष्टियों से आधुनिकता का सूत्रपात हुआ। डॉ० जॉन बौर्थविक गिलक्राइस्ट (१७५६-१८४१, कॉलेज में १८ अगस्त, १८००—२३ फ़रवरी, १८०४), कैप्टेन जेम्स मोअट (६ जनवरी, १८०६—२० फ़रवरी, १८०८), कैप्टेन (बाद को लेफ़्टि० कर्नल) जॉन विलियम टेलर (फ़रवरी, १८०८—मई, १८२३) और कैप्टेन (बाद को मेजर) विलियम प्राइस (२३ मई, १८२३—दिसंबर, १८२३) कॉलेज के हिन्दुस्तानी विभाग के अध्यक्ष रहे। प्राइस के बाद कोई अध्यक्ष नियुक्त न किया गया और केवल साधारण पंडित और मुंशी अध्यापन-कार्य करते

---

[१] दे०, 'राधाकृष्ण-ग्रन्थावली'

रहे। वास्तव में प्राइस के बाद का इतिहास कॉलेज के धीरे-धीरे तोड़े जाने का इतिहास है।

१८०० और १८५४ के बीच कॉलेज ने पंडितों और मुंशियों द्वारा रचित भारत की विभिन्न भाषाओं में अनेक छोटे-बड़े ग्रन्थ प्रकाशित किए। मौलिक ग्रन्थों की रचना या सम्पादन की दृष्टि से प्रोफ़ेसरों में गिलक्राइस्ट का नाम ही विशेष रूप से उल्लेखनीय है। टेलर और प्राइस केवल कोषों और पाठ्य-पुस्तकों का सम्पादन कर सके। प्रोफ़ेसरों के अतिरिक्त ग्रन्थ-निर्माण या सम्पादन की दृष्टि से विलियम हंटर, जोसेफ़ टेलर और टॉमस रोएबक के नाम लिए जा सकते हैं।

इस बात का पीछे उल्लेख किया जा चुका है कि लल्लूलाल और सदल मिश्र के नाते गिलक्राइस्ट और फ़ोर्ट विलियम कॉलेज को हिन्दी साहित्य के इतिहास में काफ़ी महत्त्व दिया जाता रहा है। इस मत में कहाँ तक सार है, यह देखने के लिए हमें गिलक्राइस्ट और कॉलेज की हिन्दी गद्य के प्रति की गई सेवाओं (१) पर संक्षेप में विचार कर लेना चाहिए।

गिलक्राइस्ट ३ अप्रैल, १७८३ में कंपनी की अध्यक्षता में चिकित्सक की हैसियत से भारतवर्ष आए और १७८७ में उन्होंने अपना हिन्दुस्तानी सम्बन्धी अध्ययन शुरू किया। कंपनी के समस्त कर्मचारियों में वे ही एक ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने हिन्दुस्तानी भाषा का हिन्दुस्तानी प्रदेश (बनारस और ग़ाज़ीपूर की तत्कालीन ज़मींदारी) में रह कर विशेष रूप से अध्ययन किया था। अनेक कठिनाइयों का सामना करते हुए उन्होंने किस प्रकार हिन्दुस्तानी भाषा का उत्साहपूर्वक अध्ययन किया था, उसका वर्णन स्वयं उन्होंने 'ऐपेंडिक्स टु डिक्शनरी, भाग २' (Appendix to Dictionary, Pt. II) में किया है। कंपनी के नवागत कर्मचारियों में हिन्दुस्तानी और फ़ारसी भाषाओं की शिक्षा देने के सम्बन्ध में १७६८ में सरकार ने उनकी सेवाएँ स्वीकार कीं और उन्हें 'ऑरिएंटल सेमिनरी' का अध्यक्ष नियुक्त किया। सरकारी आज्ञा के अनुसार वे सेमिनरी का मासिक विवरण ('जर्नल') अधिकारियों के पास भेजते थे। १८०० में वेलेज़ली ने उनके कार्य की जाँच कराने के लिए एक कमेटी नियुक्त की। कमेटी ने उनकी और उनके कार्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की। ऐसे योग्य व्यक्ति को पाकर वेलेज़ली ने उन्हें कॉलेज में हिन्दुस्तानी विभाग का अध्यक्ष नियुक्त किया। गिलक्राइस्ट ने

बड़ी तेज़ी और मुस्तैदी के साथ हिन्दुस्तानी पाठ्य-पुस्तकों के निर्माण करने और कराने की व्यवस्था की।

भारतवर्ष में आने पर अँगरेज़ समाज के केवल राजकीय कार्यों से सम्बन्ध रखने वाले कुछ शिक्षितों और उच्च श्रेणी के लोगों के सम्पर्क में ही अधिक आए थे। उन्होंने जनता को समझने-समझाने का प्रयत्न नहीं किया था। समाज के उस छोटे-से समुदाय की, जिसमें हिन्दू-मुसलमान दोनों ही शामिल थे, भाषा अरबी-फ़ारसी मिश्रित खड़ीबोली या उर्दू थी। सूबा हिन्दुस्तान की भाषा होने के कारण अँगरेज़ों ने उसका हिन्दुस्तानी नामकरण भी किया। अकबर के ज़माने से उर्दू का शिक्षित जन-समुदाय में प्रचार हो गया था, ठीक वैसे ही जैसे आज अँगरेज़ी या अँगरेज़ी-मिश्रित हिन्दी शिक्षित जन-समुदाय की भाषा बनी हुई है। गिलक्राइस्ट का हिन्दुस्तानी से, जिसे वे 'उर्दवी', 'रेख़ता' या 'हिन्दी' भी कहते थे, उस भाषा से तात्पर्य था जिसके व्याकरण के सिद्धान्त, क्रिया-रूप आदि तो हलहैड (Halhed) द्वारा कही जाने वाली 'Pure or Original Hindustanic' और स्वयं गिलक्राइस्ट के मतानुसार 'हिन्दवी' या 'बृजभाषा' (जिसका प्रचार मुसलमानी आक्रमण से पहले हिन्दुओं में था और जिसमें संस्कृत शब्दों का मिश्रण रहता था) के आधार पर स्थित थे, किन्तु जिसमें अरबी-फ़ारसी के संज्ञा-शब्दों का बाहुल्य रहता था। इस भाषा का प्रयोग केवल वे ही हिन्दू करते थे जिनका सम्बन्ध राज-दरबारों से था या जो सरकारी नौकर थे। ये लोग भी जहाँ तक राजकीय कामों से मतलब था वहीं तक इस भाषा का प्रयोग करते थे। यह भाषा फ़ारसी लिपि में लिखी जाती थी। गिलक्राइस्ट के लिए हिन्दुस्तानी भाषा में प्रयुक्त अरबी-फ़ारसी शब्द अँगरेज़ी के फ्रेंच और लैटिन शब्दों की तरह थे। उन्होंने 'हिन्दी' और 'हिन्दुवी, हिन्दुई, या हिन्दवी' में भेद माना है। 'हिन्दी' और 'हिन्दुस्तानी' को वे समानार्थवाची शब्द मानते थे। लेकिन 'हिन्दी' (हिन्द की) के स्थान पर उन्होंने 'हिन्दुस्तानी' शब्द इसलिए पसंद किया ताकि उसमें और 'हिन्दवी या हिन्दुई' शब्दों के बीच कोई गड़बड़ पैदा न हो सके। 'हिन्दवी या हिन्दुई' को वे केवल हिन्दुओं की भाषा मानते थे। इसे उन्होंने 'गँवारू' (Vulgar) कह कर पुकारा है। 'हिन्दी' और 'हिन्दवी' का यह भेद जनसाधारण में प्रचलित नहीं था। गिलक्राइस्ट ने हिन्दुस्तानी भाषा के लेखकों और कवियों में मीर, दर्द, सौदा, मिसकीन आदि की प्रधान रूप से गणना की है जो अरबी-फ़ारसी शब्दों का अधिक से

अधिक संख्या में प्रयोग करते थे। 'ए ग्रैमर ऑव दि हिन्दुस्तानी लैंग्वेज' (A Grammar of the Hindoostanee Language, १७९६-९८) तथा 'जर्नल' में उन्होंने अरबी और फ़ारसी की पारिभाषिक शब्दावली और सिद्धान्त ग्रहण किए हैं। निम्नलिखित अवतरण उनकी अथवा उनके द्वारा स्वीकृत भाषा और शैली पर प्रकाश डालते हैं। यही भाषा और शैली ग्रहण कर कम्पनी के सिविल कर्मचारी विभिन्न सरकारी विभागों में जाते थे।

अँगरेज़ सेनापति के फ़ारसी दुभाषिए विलियम स्कॉट ने १७९० में गिलक्राइस्ट की सहायता से 'दि आर्टिकिल्स ऑव वार' (The Articles of War) का हिन्दुस्तानी भाषा में अनुवाद किया था। 'दि ऑरिएंटल लिंग्विस्ट' (The Oriental Linguist) के १७९८ और १८०२ के दोनों संस्करणों में वे सम्मिलित हैं। उनमें से एक अवतरण नीचे उद्धृत किया जाता है:

> 'दूसरी आईन दूसरे बाब से जो दंगे पर है, जो कोई बड़ा या छोटा ओहदेदार या सिपाही बेअदबी या हिक़ारत करे जनरल या किसू बड़े सर्दारी फ़ौज के हक़ में, या बात कहे कि जिससे बेवक़्करी या नुक़सान उनका हो सके, तो वुह अपनी तक़सीर के मुआफ़िक़ सज़ा पावेगा, लश्करी अदालत याने कोर्ट मार्शल की तजवीज़ से।' (रोमन लिपि में)

हिन्दी सिपाही इस भाषा को कठिनता के साथ समझ पाता था। इस आधार पर स्वयं कुछ अँगरेज़ों ने उसका विरोध किया था। कुछ और अवतरण नीचे दिए जाते हैं:

> 'जो जड़ और डाल-पात किसू क़िस्से के लोगों के दिलों पर बहुत असीर पज़ीर है, तौ ऊस को थोड़ा ही सा उज्र आदमीयों के सुनाने के लीए चहीए. यिह कहानी भरी हुई है कई एक दिलरेश वारिदात से, कि नतीजा औ तासीर में ऊसकी हम सब थोड़ा बहुत शरीक़ है'....[1] (रोमन लिपि में)
>
> 'दो जवान थे, एक का नाम इस्तिक़लाल मुतहम्मिल था, दूसरे का ग़ुरूर आराम-तलब, उन्होंने बाहम मिल कर मुल्क-इ-नादानी को

[1] 'दि ऑरिएंटल लिंग्विस्ट' (१७९८), १८०२ संस्करण

छोड़ा, और क़स्र-इ-सर्फ़राज़ी की तलाश में किश्वर-इ-इल्म की राह ली. चंदां दूर न बढ़े थे, कि कोह-इ-नसंद को पहुँचे, उस पर से अपनी मंज़िल-इ-मक़सूद को काले कोसों देखा. तब वहाँ से उतरे और आगे बढ़ कर जो निगाह की तो एक दोराहा नज़र पड़ा, देखते ही हैरान हुए, दोनों ने दर्याफ़्त किया कि हर एक रस्तः इसी मुक़ाम से सर्फ़राज़ी के क़स्र को जाता है, इस वास्ते कि वहाँ दो निशान थे....'[1]

'एक वज़ीर का बेटा नादान व कुंदज़हन था वज़ीर ने एक दाना के पास उसे भेजा और कहा कि इस लड़के को तरबियत कर शायद कि अक़्लमन्द हो जावे चुनांचि दाना ने उसकी तालीम में बहुत सी कोशिश की पर कुछ फ़ायदा न हुआ पस लाचार होकर लड़के को उसके बाप के पास फेर भेजा और कहा कि तेरा बेटा आक़िल नहीं हुआ और मुझे दीवाना किया'.[2] (रोमन लिपि में)

इन अवतरणों की हिन्दुस्तानी भाषा क़िस्से कहानियों की भाषा होने के कारण कुछ सरल है। गिलक्राइस्ट के अनुसार हिन्दुस्तानी भाषा का शुद्ध प्रयोग मुंशी, ख़ानसामे और आयाएँ किया करती थीं। 'हिन्दवी' का प्रयोग 'हिन्दुस्तान' की साधारण जनता करती थी। यद्यपि गिलक्राइस्ट स्वयं रोमन लिपि के पक्षपाती थे, तो भी उन्हें फ़ारसी लिपि पसंद थी क्योंकि हिन्दुस्तानी के पुराने लेखकों और कवियों ने इसी लिपि का प्रयोग किया था। किन्तु नागरी लिपि का पूर्णतः बहिष्कार वे भी न कर सके। कोई हिन्दू भी मुसलमानों से अच्छा मुंशी बन सकता था, यह उनकी समझ के बाहर की बात थी। हिन्दुस्तानी भाषा का श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त करने के लिए फ़ारसी भाषा और लिपि का अच्छा ज्ञान और अच्छी हिन्दुस्तानी लिखने के लिए फ़ारसी शब्दों का मिश्रण आवश्यक था। फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में ब्रजभाषा के पठन-पाठन की व्यवस्था भी थी। किन्तु अधिकांश विद्यार्थी हिन्दुस्तानी का ही अध्ययन करते थे, क्योंकि उनके फ़ारसी-ज्ञान के कारण उसका अध्ययन बहुत-कुछ सरल हो जाता था। वास्तव में गिलक्राइस्ट ने हिन्दुस्तानी भाषा की 'मुंशी-शैली' ग्रहण की।

---

[1] 'ईस्ट इंडियन गाइड' (१८०२), १८२० संस्करण

[2] 'दि हिन्दी स्टोरी टैलर ऑर नक़लियात', कलकत्ता, १८०२

टॉम्सन की 'हिन्दी डिक्शनरी' (१८४०) के एक समीक्षक के कथनानुसार गिलक्राइस्ट ने जिस हिन्दुस्तानी या उर्दू का प्रयोग किया है, वह साधारण हिन्दू या मुस्लिम जनता की भाषा कभी नहीं थी। हिन्दू और मुसलमान एक प्रादेशिक भाषा या बोली का व्यवहार करते थे। शिक्षित समुदाय के अतिरिक्त और कोई हिन्दुस्तानी भाषा समझ भी न पाता था। शिक्षित और अशिक्षित वर्गों की भाषा में इतना अन्तर था कि शिक्षित मुसलमान की भाषा अशिक्षित मुसलमान के लिए बोधगम्य नहीं थी। जिन लोगों का अदालतों से सम्बन्ध नहीं था वे क़ानूनी शब्दावली तक न समझ पाते थे। वास्तव में हिन्दुस्तानी या उर्दू को प्रमुख स्थान देने के दो प्रधान कारण थे। पहला, राज्याधिकारियों ने हिन्दी (आधुनिक अर्थ) को अपढ़ और गँवारों की भाषा समझा। दूसरे, पढ़े-लिखे हिन्दुओं और मुसलमानों से स्वार्थवश अपना सम्पर्क बढ़ाने के लिए उन्हें हिन्दुस्तानी का माध्यम ही उपयुक्त जँचा। यद्यपि शासन-सम्बन्धी और व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुसार कंपनी 'हिन्दवी' का कभी-कभी (तत्कालीन उत्तर-पश्चिम प्रदेश में कुछ अधिक दिनों तक) और नागरी लिपि का नियमित रूप से वर्षों तक प्रयोग करती रही, तो भी कंपनी-राज्य के अन्तर्गत उसके अरबी-फ़ारसी रूप ही को प्रधानता थी। १८३७ में फ़ारसी हटाने के बाद बाह्य कारणों के दबाव से 'हिन्दवी' और नागरी का कोई स्थान न रह गया। स्वयं राजकीय कार्यों से सम्बन्ध रखने वाले हिन्दू-मुसलमान शिक्षितों का झुकाव भाषा के अरबी-फ़ारसीमय रूप की ओर रहता था, जो उस समय बहुत-कुछ स्वाभाविक था। फ़ारसी का दिल्ली दरबार से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण प्रारम्भ में उससे प्रभावित होना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

गिलक्राइस्ट ने हिन्दुस्तानी को 'The grand popular speech of Hindustan' कहा है। किन्तु राजकीय कार्यों से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियों के अतिरिक्त, जिनके वे सम्पर्क में आए थे, उनका कथन व्यापक अर्थ में ग्रहण नहीं किया जा सकता। वास्तव में अँगरेज़ शासकों का ही हिन्दी-भाषा-सम्बन्धी वैज्ञानिक अध्ययन बहुत कम था। उस समय 'प्रेमसागर' के पठन-पाठन के अतिरिक्त शायद ही किसी अँगरेज़ ने हिन्दी साहित्य का सम्यक् अध्ययन किया था। एक तो वैसे ही हिन्दी जानने वाले अँगरेज़ इनेगिने थे, उस पर नागरी लिपि जानने वाले तो और भी कम थे। गिलक्राइस्ट की भाषा-नीति के कारण उनके समय में तथा उनके बाद

कॉलेज ने हिन्दुस्तानी या उर्दू में ही अधिकांश ग्रंथ प्रकाशित किए। उनकी नीति के स्वाभाविक विकास का रूप हमें विलियम बटरवर्थ बेली की थीसिस में मिलता है। बेली १७६६ में 'राइटर' की हैसियत से भारतवर्ष आए थे, और १३ मार्च, १८२८ से ४ जुलाई, १८२८ तक स्थानापन्न गवर्नर रहने के बाद कोर्ट के डाइरेक्टर तक हो गए थे। वे गिलक्राइस्ट के विद्यार्थी थे। कॉलेज के नियमानुसार होने वाले वार्षिक वाद-विवाद (Disputations) में उन्होंने 'हिन्दुस्तानी' पर ६ फ़रवरी, १८०२ को एक थीसिस पढ़ी थी जो बाद में विद्यार्थियों द्वारा लिखित लेखों के संग्रह 'Essays and Theses Composed' (१८०४ के लगभग प्रकाशित) में छपी थी। उस थीसिस की कुछ पंक्तियाँ नीचे उद्धत की जाती हैं :

दावा

'हिंदूस्तान में काररवाई के लीए हिंदी ज़बान और ज़बानों से ज़ीआद: दरकार है

हिंदूस्तानी ज़बान कि जिसका ज़िक्र मेरे दावे में है उसको हिंदी-उरदू और रेख्त: भी कहते हैं और यिह मुरक्कब अरबी और फ़ारसी ओ संस्कृत या भाषा से है और यिह पिछली अगले ज़माने में तमाम हिंद में राएेज़ थी

अरब के सौदागरों की आमद ओ रफ़्त से और मुसलमानों की अकसर यूरिश और हुकूमति क़ेआमी के बाइस अलफ़ाज़ि अरबी और फ़ारसी उसी पुरानी बोली में बहुत मिल गए और एेक ज़बान नई बन गई जैसे कि बुनयादि क़दीम पर तामीरि नौ होवे'

और चाहे जो कुछ हो, यह भाषा हिन्दी (आधुनिक अर्थ में) नहीं है, यद्यपि बेली ने नागरी लिपि का प्रयोग अवश्य किया है। वास्तव में यह कहना ठीक नहीं कि गिलक्राइस्ट ने हिन्दी के आधुनिक खड़ीबोली गद्य को जन्म दिया और अँगरेज़ों ने उसे पाला-पोसा। गिलक्राइस्ट ने हिन्दुस्तानी या उर्दू गद्य की अभिवृद्धि की, न कि हिन्दी गद्य की।[1] लल्लूलाल और सदल मिश्र की रचनाएँ खड़ीबोली गद्य के जन्म की द्योतक नहीं वरन् उसकी परंपरा की कड़ियाँ मात्र हैं।

---

[1] सर्जन-जनरल एडवर्ड बाल्फ़र : 'दि एन्साइक्लोपीडिया ऑव इंडिया, एंड ऑव ईस्टर्न एशिया'' जिल्द १, १८८५, पृ० १२०३

किन्तु गिलक्राइस्ट और कॉलेज की भाषा-नीति का एक दूसरा पक्ष भी है जिसके पूर्णरूप से न समझने से भ्रम उत्पन्न हो जाने की आशंका है। ऊपर के अवतरण गिलक्राइस्ट द्वारा रचित या सम्पादित ग्रन्थों और बेली की थीसिस से लिए गए हैं। मङ्गलवार, २६ मार्च, १८०३ के द्वितीय वार्षिक वाद-विवाद के अवसर पर मद्रास के डब्ल्यू० चैपलिन ने सती-प्रथा पर अपनी थीसिस पढ़ी। १८०२ की बेली की थीसिस की भाँति गिलक्राइस्ट उनकी की थीसिस के भी 'मॉड्रेटर' थे। किन्तु, जैसा कि निम्नलिखित अवतरण से स्पष्ट हो जायगा, इस दूसरी थीसिस की भाषा पहली थीसिस की भाषा से नितान्त भिन्न और हिन्दी (आधुनिक अर्थ में) है :

> 'क्या ईसवी क्या और अच्छी जातों के लोग किसी पंथ के होंय माना जाता है कि मेरे वाद को मिटाने को कोई एक भी प्रमान न ला सकेगा। हे महाराजो! मेरी बुद्धि से यिह रीति प्रसिद्ध सोच ही जानी जाती है यिह भी निश्चय कर जानता हूँ कि इस कठिन और अनजानी बोली में सकत जैसी चाहिए वैसी नहीं रखता कि इस बात को भली भाँति से ब्योरे समेत समझाऊ, तिस पर मन चलाय बुद्धि दौड़ाता हूँ। जो मेरे वचनों को ध्यान देकर सुनों तो आपके मन की दुविधा जाय। सच है जो इस भयानक चाल का सार जिसे अब मैं दोषता हूँ जब धीरज की दृष्टि से देखियेगा तब उसकी अनीति और कठोरी और कुरीति को जानियेगा तो आपकी भी मति मेरी ही मति के समान हो जायगी।'...[1]

यह भाषा 'हिन्दवी' है जो हिन्दुस्तानी या उर्दू का आधार थी—'बुनयादि क़दीम' जिस पर हिन्दुस्तानी या उर्दू 'तामीरि नौ' थी। इस 'हिन्दवी' के ज्ञान के बिना हिन्दुस्तानी का अध्ययन करना कठिन था। स्वयं गिलक्राइस्ट 'तामीरि नौ' की 'बुनयादि क़दीम' से अधिक परिचित नहीं थे। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, 'हिन्दवी' का अध्ययन कॉलेज में होता अवश्य था, किन्तु हिन्दुस्तानी-अध्ययन के सहायक रूप में, न कि स्वतन्त्र और प्रमुख रूप में। 'हिन्दवी' के अध्ययन की कठिनाई दूर करने के लिए ही हिन्दुस्तानी-विभाग के अन्तर्गत फ़रवरी, १८०२ में 'भाखा मुंशी' लल्लूलाल

---

[1] 'प्रीमीशी ऑरिएंटालीस' ('Primitiae Orientales', Vol. II.) १८०३, पृ० २१-२२

की स्थायी रूप से नियुक्ति हुई थी। कंपनी के कर्मचारियों के 'हिन्दवी', 'खड़ीबोली' या 'ठेठ हिन्दी' के ज्ञान की पुष्टि के लिए १८०३-६ में उन्होंने 'प्रेमसागर' की रचना की। इसलिए यदि हिन्दुस्तानी के परिपक्व ज्ञान के लिए अत्यन्त आवश्यक भाषा 'हिन्दवी' में किसी विद्यार्थी ने रचना की, या अन्य किसी ने की हो, तो ऊपर के कथन में कोई अन्तर नहीं पड़ता। वास्तव में हिन्दुस्तानी विभाग के बीसियों मुंशियों के बीच जो स्थान अकेले 'भाखा मुंशी' लल्लूलाल या आगे के पंडितों का था, वही स्थान हिन्दुस्तानी के सामने 'हिन्दवी' का था। चैपलिन के बाद ही २० सितंबर, १८०४ के तृतीय वार्षिक वाद-विवाद के अवसर पर बम्बई के जे० रोमर द्वारा पठित 'ममालिकि हिंद की ज़ुबानों की असल बुनयाद संस्कृत है' शीर्षक थीसिस की भाषा का रूप फिर गिलक्राइस्टी है। इस समय गिलक्राइस्ट इंगलैंड लौट गए थे और केप्टेन जेम्स मोअट हिन्दुस्तानी विभाग के स्थानापन्न अध्यक्ष और थीसिस के 'मॉडरेटर' थे। थीसिस की भाषा इस प्रकार है:

> '...जब कि यिह माजरा यूं है जैसा मैंने बयान किया तो उन वसीलों को जो मैं अपने दअ़वे के क़ाइम रखने को ला सकता हूं इख़तियार करके उन फ़ी हाश मुसन्निफ़ों से जिन्होंने इस मुक़दमे में लिखा है ख्वाह लफ़्ज़ हों या मअ़्ने इसतआ़र: करता हूं उम्मेदवार हूं कि मेरा यह उज़्र क़बूल हो॥
>
> चुनांचे उन मुसन्निफ़ों में जोंस साहिब सबसे नामवर है लेकिन उसके क़िसम बा क़िसमि इशतक़ाक़ की तफ़तीश और मूशिगाफ़ी से बाज़ रहता हूँ इस वास्ते कि इस कलाम की तर्ज़ से ज़रूर है कि ता मक़दूर जितना हो सके मुख़तसर करूं पस उस साहिब की किताबों के जुदे-जुदे इक़तबास करने से उन दलीलों को वज़अ़् के ज़ाहिर करने के इवज़ उलेझेड़ा डालना है॥'[1]

किन्तु कंपनी सरकार बिहार, अवध, तत्कालीन उत्तर-पश्चिम प्रदेश और राजपूताने की रियासतों के विस्तृत भूमि-भाग में बोली जाने वाली हिन्दी भाषा और उसकी बोलियों की एकदम उपेक्षा नहीं कर सकती थी। १८१५ में ऑनरेबुल एन० बी० एडमॉन्सटन ने कॉलेज का ध्यान इस ओर आकृष्ट

---

[1] 'प्रीमीटी ओरिएंटलीस' (Primitiae Orientales', Vol. III), १८०४, पृ० ४-५

किया था। किन्तु उस समय कोई विशेष परिणाम न निकल सका। १८२४ में विलियम प्राइस, कॉलेज कौंसिल के मन्त्री, डी० रडैल (Ruddell), और लॉर्ड एम्हर्स्ट द्वारा की गई गंगा की घाटी की भाषा-सम्बन्धी समस्या की सुलझी हुई और स्पष्ट विवेचना भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के इतिहास में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। उन्होंने हिन्दी (आधुनिक अर्थ में) और हिन्दुस्तानी या उर्दू का भेद अच्छी तरह समझा, 'हिन्दी' का निश्चित और नियमित रूप से आधुनिक अर्थ में प्रयोग किया—यद्यपि पहले भी कभी-कभी तथा रोमर द्वारा अपनी थीसिस में और टेलर द्वारा १८१३ में उसका आधुनिक अर्थ में प्रयोग हो चुका था—और शासन-सम्बन्धी आवश्यकताओं के अनुसार हिन्दी को प्रमुख स्थान दिया। हिन्दुस्तानी का अध्ययन बना अवश्य रहा, किन्तु अब हिन्दी गौण और उपेक्षित भाषा नहीं थी। सीताराम पण्डित की अध्यक्षता में मुंशियों और बङ्गाली पण्डितों को हिन्दी की शिक्षा दी गई, यद्यपि उससे कोई विशेष लाभ न हो सका। तत्पश्चात् कॉलेज द्वारा प्रयुक्त भाषा के रूप से परिवर्तित परिस्थितियों का परिचय प्राप्त होता है। १५ जनवरी, १८२५ को मन्त्री रडैल ने कॉलेज कौंसिल के एक प्रस्ताव की सूचना फ़ारसी, हिन्दी, बँगला और अँगरेज़ी में निकाली थी और हिन्दी के लिए नागरी लिपि का प्रयोग किया था। जिन भाषाओं में सूचना निकाली गई थी उनमें हिन्दुस्तानी या उर्दू के नाम का उल्लेख नहीं है, यह एक महत्वपूर्ण बात है। सूचना इस प्रकार है:

> 'इस्तहार यह दिया जाता है कि जो कोई पोथी छपाने के लिये कालिज कौनंसल से सहाय चाहता हो वुह अपनी दरखास में यह लिखे १. कि पोथी में केत्ता पत्रा और पत्रे में कित्ती औ पांति कित्ती लंबी २. कितनी पोथियाँ छापेगा औ कागद कैसा तिस लिये अच्छर औ कागद का नमूना लावेगा ३. औ किस छापेखाना में छापेगा औ सब छप जाने में कित्रा खरच लगेगा, ४. तयार हुऐ पर पोथी कित्ते दाम को बेंचेगा।'

लल्लूलाल ने 'नक़्लियात-इ-हिंदी' और 'ब्रजभाषा व्याकरण' के प्रकाशन की आज्ञा माँगते समय अपना प्रार्थना-पत्र फ़ारसी में लिख कर भेजा था। १८४१ में गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज के पं० योगध्यान मिश्र द्वारा भेजे गये प्रार्थना-पत्र की भाषा इस प्रकार है:

> 'स्वस्ति श्रीयुत फ्रोट उलियम कालिज के नायक सकल गुणनिधान भागवान कपतान श्री मार्शल साहब के निकट मुझ दीन की प्रार्थना

मैंने सुना कि कालिज में प्रेमसागर की अलभ्यता है इस कारण मैं छपवाने की इच्छा करता हुं और मेरे यहां छापे का यंत्र और उत्तम अक्षर नये (?) ढाले प्रस्तुत है इसलिये मैं चाहता हूं कि जो मुझे आपकी आज्ञा होय तो मैं वही पुस्तक उत्तम विलायती कागज पर अच्छी स्याही से आपकी अनुमति के अनुसार छपवा दूं परंतु वह पुस्तक चार पँची फरमें से अनुमान २६० दो सो साठ पृष्ठ होगी जो ६) छः रुपैयों के लेखे २०० दो सौ पुस्तक आप लेवें तो छापे के व्यय का निर्वाह हो सके ॥ ॥ ॥ इति किमधिकम ॥ ता० १ जुलाई सं० १८४१

श्री योगध्यान मिश्रः'
(नागरी लिपि)

किन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी विलियम प्राइस खड़ीबोली में किसी नए गद्य-ग्रंथ की न तो रचना कर सके और न करा सके। वे लल्लूलाल के ग्रंथों पर ही निर्भर रहे। इस प्रकार प्रमुख स्थान मिल जाने पर भी कॉलेज के तत्त्वावधान में खड़ीबोली हिन्दी गद्य की उन्नति और विकास न हो सका। विलियम प्राइस के बाद कॉलेज के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए ह्रास-काल का सूत्रपात हुआ और किसी विषय के गम्भीर अध्ययन की कोई व्यवस्था न रह गई। १८५४ में कॉलेज तोड़ दिया गया और उसके स्थान पर सदर अदालत के जज सर रॉबर्ट बार्लो के सभापतित्व में बोर्ड ऑव ऐग्ज़ामिनर्स (परीक्षक-मण्डल) की स्थापना हुई।

कॉलेज में लल्लूलाल, सदल मिश्र, इन्द्रेश्वर (१८१५-१ मई, १८१६) नरसिंह (१८१८-१८२१), गंगाप्रसाद शुक्ल (१८२३-१८२७), खयालीराम (१८२७-१८२६), ब्रह्म सच्चिदानंद (१८३२-१८३८), मधुसूदन तर्कालंकार (१८३८-१८४१), ईश्वरचंद्र विद्यासागर (१८४१), दीनबंधु (१८४०-?) और शेष शास्त्री (१८५२) 'भाखा-मुंशी' या 'भाखा पंडित' या 'हिन्दी मुंशी' या 'हिन्दी पंडित' या 'सरिश्तेदार' थे।[1] कॉलेज के विवरण के अनुसार लल्लूलाल

---

[1] कृष्ण मिश्र कृत 'प्रबोध-चन्द्रोदय' का एक अनुवाद जगन्नाथ शुक्ल नामक पंडित द्वारा मिलता है। यह अनुवाद ज्ञान रत्नाकर यन्त्रालय से १८७१ का छपा हुआ है। इस अनुवाद में जगन्नाथ शुक्ल को फ़ोर्ट विलियम कॉलेज का पंडित कहा है। मूल प्रोसीडिंग्स में मुझे उनका नाम कहीं नहीं मिला। संभव है वे सर्टिफ़िकेट मुंशी हों या कोई अन्य कार्य करते रहे हों।

का जन्म १७६१ में हुआ था। लल्लूलाल के कथनानुसार उन्हें १८०० में नौकरी मिली। किन्तु उस समय उनकी अस्थायी नियुक्ति हुई थी। इधर गिलक्राइस्ट को हिन्दुस्तानी के अध्ययन के लिए ब्रजभाषा से परिचित एक व्यक्ति की आवश्यकता थी, और जिसके लिए उन्होंने ४ जनवरी, १८०२ को कॉलेज कौंसिल से प्रार्थना की। १६ फ़रवरी, १८०२ को कौंसिल ने उनकी प्रार्थना स्वीकार की और लल्लूलाल की स्थायी रूप से नियुक्ति हुई। ७ जून, १८०२ के सरकारी विवरण में उनका नाम पहले-पहल मिलता है। सदल मिश्र (१७६८ के लगभग—१८४८ के लगभग) का नाम पहले-पहल अगस्त, १८०३ के एक विवरण में मिलता है। उनकी नियुक्ति इससे कुछ ही पहले हुई होगी। सम्भवतः उनकी नियुक्ति स्थायी रूप से कभी नहीं हुई, क्योंकि स्थायी अध्यापकों की किसी सूची में उनका नाम नहीं मिलता। १८०४ में कुछ महीनों के लिए वे दोनों कॉलेज से अलग किए जाने के बाद फिर रख लिए गए थे। सितंबर, १८०५ में 'भाखा-मुंशी' की आवश्यकता न रह जाने के कारण लल्लूलाल हिन्दुस्तानी अनुवादक नियुक्त हुए और उन्हें हिन्दुस्तानी प्रेस तथा अन्य विविध प्रकार के कार्य मिले। किन्तु कुछ समय बाद वे फिर अपने पुराने पद पर नियुक्त कर दिए गए। सदल मिश्र और लल्लूलाल के नाम अन्तिम बार क्रमशः २७ मई, १८०६ और १ मई, १८२३ के विवरणों में मिलते हैं। सम्भवतः १८२४ के लगभग लल्लूलाल की मृत्यु हो गई थी। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने 'सरिश्तेदार' (बँगला विभाग के अन्तर्गत) के रूप में नौकरी की या नहीं, इसका कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता। मधुसूदन और दीनबन्धु भी सरिश्तेदार (बँगला विभाग के अन्तर्गत) थे। शेष शास्त्री 'हिन्दी पंडित' थे। 'सरिश्ते-दारों' के अतिरिक्त अन्य सभी पंडित हिन्दी-प्रदेश के थे। लोचनराम पंडित ने १८११ में हंटर की उनके हिन्दुस्तानी कोष तैयार करने में सहायता की थी। विलियम प्राइस की अध्यक्षता के प्रारंभिक काल में सीताराम पंडित ने मुंशियों और बङ्गाली पंडितों को हिन्दी की शिक्षा दी। खड़ीबोली गद्य में रचना करने की दृष्टि से लल्लूलाल और सदल मिश्र के नाम ही उल्लेख-नीय हैं, यद्यपि अन्य पंडित भी समय-समय पर प्रोफ़ेसरों की विविध प्रकार से सहायता करते रहते थे।

लल्लूलाल ने 'सिंहासन बत्तीसी' (१८०१), 'बैताल पच्चीसी' (१८०१), 'शकुन्तला नाटक' (१८०१), 'माधोनल' (१८०१), 'राजनीति' (१८०२),

'प्रेमसागर' (१८०३-१८०६), 'नक़्लियात या लतायफ़-इ-हिन्दी' (१८१०), 'जनरल प्रिंसीपिल्स ऑव इन्फ़्लैक्शन ऐंड कॉन्जुगेशन इन दि ब्रजभाखा' या 'ब्रजभाषा व्याकरण' (१८११), 'सभा-विलास' (१८१५) और 'लाल चन्द्रिका' (१८१८) तथा कुछ अन्य साधारण ग्रन्थों की रचना की। पहली छः रचनाएँ क्रमशः सुन्दरदास, सुरत कवीश्वर, नेवाज, और मोतीराम की पद्यात्मक ब्रजभाषा रचनाओं, हितोपदेश और चतुर्भुज मिश्र की पद्यात्मक ब्रजभाषा-रचना पर आधारित हैं। उनकी कोई रचना मौलिक नहीं है। किन्तु खड़ीबोली या ब्रजभाषा गद्य की दृष्टि से उनका महत्त्व है। 'नक़्लियात' ब्रजभाषा तथा अन्य कई भाषाओं में क़िस्से-कहानियों का संग्रह, 'सभाविलास' विभिन्न विषयों पर ब्रजभाषा के प्रसिद्ध प्राचीन कवियों की कुछ चुनी हुई रचनाओं का संग्रह (इसमें मुकरियाँ भी शामिल हैं), 'जनरल प्रिंसीपिल्स....' व्याकरण, जिसमें ब्रजभाषा या खड़ीबोली गद्य नहीं है, और 'लाल-चन्द्रिका' बिहारी की सतसई पर टीका है।[१] 'सभा-विलास', 'राजनीति' और 'लाल-चन्द्रिका' का पीछे यथास्थान उल्लेख हो चुका है। इसलिए खड़ीबोली गद्य की दृष्टि से 'सिंहासन बत्तीसी', 'बैताल पचीसी', 'शकुन्तला नाटक', 'माधोनल' और 'प्रेमसागर' नामक रचनाएँ ही विचारणीय रह जाती हैं।

लल्लूलाल की आत्मकथा के अनुसार 'सिंहासन बत्तीसी', 'बैताल पचीसी', 'शकुन्तला नाटक' और 'माधोनल' के सम्बन्ध में यह भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि ये उनकी स्वतन्त्र रचनाएँ हैं, यद्यपि उन्होंने मिर्ज़ा काज़िम अली जवाँ और मज़हर अली खाँ विला की ओर संकेत कर दिया है। वास्तव में ये रचनाएँ मुख्यतः और स्वतन्त्र रूप से लल्लूलाल कृत नहीं कही जा सकतीं। गिलक्राइस्ट द्वारा कॉलेज कौंसिल के पास भेजे गए अगस्त, १८०३ के विवरण में 'सिंहासन बत्तीसी' और 'शकुन्तला नाटक' के लेखक मिर्ज़ा काज़िम अली जवाँ और 'बैताल पचीसी' और 'माधोनल' के लेखक मज़हर अली खाँ विला बताए गए हैं। मार्च, १८११ के पत्र में विलियम हंटर ने भी लल्लूलाल का नाम नहीं दिया। किन्तु कॉलेज के अन्य विवरणों में उर्दू के दोनों कवियों के साथ-साथ या अकेले लल्लूलाल का नाम भी

---

[१] लल्लूलाल कृत 'माधव विलास' (१८१७) ब्रजभाषा-गद्य-पद्य-मिश्रित रचना है। इसमें 'क्रिया योगसार' (पद्मपुराण) के आधार पर माधव और सुलोचना की प्रेम-कथा का वर्णन है।

चारों में से किसी एक रचना के सम्बन्ध में अवश्य मिल जाता है। स्वयं काज़िम अली जवाँ ने 'शकुन्तला' की भूमिका में उसे लल्लूलाल कवि की सहायता द्वारा दुहराया जाना लिखा है। विला ने भी 'बैताल पच्चीसी' में लल्लूलाल की सहायता स्वीकार की है। तासी ने 'सिंहासन बत्तीसी' को मिर्ज़ा काज़िमअली की सहायता से लल्लूलाल द्वारा १८०१ में उर्दू में रचित और विला को 'बैताल पच्चीसी' का मुख्य लेखक माना है। इन तथ्यों से यही निष्कर्ष निकलता है कि लल्लूलाल इन ग्रंथों के मुख्य रचयिता नहीं माने जा सकते, उन्होंने अनुवाद करने और दुहराने में जवाँ और विला की केवल सहायता की। यही कारण है इन ग्रन्थों की भाषा में अरबी-फ़ारसी और संस्कृत शब्दों का अजीब मिश्रण, दुहरे शब्दों (जैसे, 'बैद-हकीम'), ब्रजभाषा के शब्दों और रूपों, तद्भव और देशज शब्दों, कहावतों और मुहावरों, तुकांत युक्त और अशुद्ध वाक्यों, उर्दू वाक्य-विन्यास आदि का प्रयोग हुआ है। केवल 'बैताल पच्चीसी' में अरबी-फ़ारसी शब्द कम आए हैं; 'शकुन्तला' और 'माधोनल' में सबसे अधिक हैं। स्वयं लल्लूलाल के अनुसार इन ग्रन्थों की भाषा रेख्ता और कॉलेज के विवरणों के अनुसार हिन्दुस्तानी है, न कि 'हिन्दवी' या 'ठेठ हिन्दी' जो 'प्रेमसागर' की भाषा बताई गई है। 'प्रेमसागर' की रचना अँगरेज़ कर्मचारियों को हिन्दुस्तानी के आधार और उसके मुहावरों और प्रयोगों से परिचित कराने के लिए की गई थी। इसीलिए लल्लूलाल ने लिखा है—'यामिनी भाषा छोड़ दिल्ली, आगरे की खड़ीबोली में कह'। उनके इस कथन से आधुनिक समय में दो भ्रम उत्पन्न हो गए हैं। पहला, कि 'प्रेमसागर' से पहले संस्कृत शब्दावली से युक्त खड़ीबोली गद्य लिखा ही नहीं जाता था; दूसरा, कि साधारण से साधारण और सर्व-प्रचलित विदेशी शब्दों का वहिष्कार कर ही खड़ीबोली गद्य लिखा जा सकता है। ये दोनों ही दृष्टिकोण अवैज्ञानिक हैं। 'प्रेमसागर' की 'हिन्दवी' भाषा ने कॉलेज में पढ़ाई जाने वाली हिन्दुस्तानी या उर्दू के भवन-निर्माण में केवल गारे-चूने का काम दिया। इस ग्रन्थ की भाषा और शैली का तो प्रभाव ईसाइयों की अधकचरी भाषा पर पड़ा भी, किन्तु 'बैताल पच्चीसी', 'सिंहासन बत्तीसी' आदि का तो इतना भी प्रभाव नहीं मिलता। खड़ीबोली हिन्दी-गद्य के विकास में 'प्रेमसागर' का, भाषा और विषय की दृष्टि से, केवल ऐतिहासिक महत्त्व है।

सदल मिश्र की प्रधान रचना 'चन्द्रावती' या 'नासिकेतोपाख्यान'

(१८०३) है। वैसे उन्होंने (और लल्लूलाल ने) 'नक़लियात-इ-लुक़मानी' (१८०३) की रचना में तारिणीचरण मित्र और अमानतुल्लाह की सहायता की, १८०५ में रामायण की प्रतिलिपि की, १८०६ में 'अध्यात्म रामायण' का खड़ीबोली अनुवाद और १८०९ में हिन्दी-फ़ारसी कोष का रूपान्तर किया। किन्तु 'चन्द्रावती' के अतिरिक्त उनकी अन्य रचनाएँ अभी उपलब्ध नहीं हैं। अस्थायी अध्यापक होने के कारण उनका यह ग्रंथ कॉलेज के अधिकारियों का संरक्षण प्राप्त न कर सका। इसीलिए उसका उल्लेख न तो सरकारी विवरणों में मिलता है और न कॉलेज के पाठ्य-क्रम में। भाषा और विषय की दृष्टि से सदल मिश्र ने वैसे कोई नवीनता तो प्रकट नहीं की, किन्तु 'प्रेम-सागर' की तुलना में 'चन्द्रावती' का गद्य अधिक प्रौढ़, स्पष्ट और प्रवाहयुक्त है। शैली में कुछ पुरानापन होते हुए भी वह बहुत-कुछ हमारी अपनी है।

कंपनी की भाषा-नीति और फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के माध्यम द्वारा खड़ीबोली गद्य को अधिक प्रोत्साहन न मिल सका, यद्यपि घुणाक्षरन्याय के अनुसार उसके शब्द-भाण्डार, विराम-चिन्हों आदि की वृद्धि और कुछ कोषों और व्याकरणों आदि की रचना अवश्य हुई। परन्तु कॉलेज के अतिरिक्त कंपनी-सरकार ने देशी जनता को उसी की भाषा में यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा देने की आयोजना भी तैयार की थी। लॉर्ड मैकॉले के समय तक यह शिक्षा-आयोजना प्रचलित थी। ईसाई पादरी भी व्यक्तिगत रूप से शिक्षा-प्रचार-कार्य में प्रयत्नशील थे। सरकारी आयोजना के अनुसार १८१७ में कलकत्ता स्कूल बुक सोसायटी की, तथा उसके बाद अन्य अनेक सरकारी और ग़ैर-सरकारी संस्थाओं की, जैसे, 'कमिटी ऑव पब्लिक इन्सट्रक्शन' (१८२३), पादरियों की आगरा स्कूल बुक सोसायटी (१८३३ के लगभग), कई कॉलेजों, नॉर्मल और ट्रेनिंग स्कूलों, जैसे, आगरा कॉलेज (१८२३), दिल्ली कॉलेज, बरेली कॉलेज, आगरा नॉर्मल स्कूल आदि की स्थापना हुई। सरकारी या सरकारी सहायता पाने वाली अन्य संस्थाओं में शिक्षा भारतीय सभ्यता और संस्कृति के अनुसार बहुत-कुछ धार्मिक और परम्पराविहित थी। किन्तु नवीन स्थापित सोसायटियों और शिक्षा-संस्थाओं की अध्यक्षता में अँग्रेज़ी के साथ-साथ हिन्दी, उर्दू आदि देशी भाषाओं के अध्ययन का भी समुचित प्रबन्ध हुआ और समाज के सब वर्गों को शिक्षा प्राप्त करने का समान अवसर मिला। इन सब विभिन्न आयोजनाओं

के अन्तर्गत ज्ञान-विज्ञान-सम्बन्धी पाठ्य-पुस्तकों के अभाव की पूर्ति अत्यन्त उत्साह के साथ की जाने लगी। यद्यपि १८१७ से पहले और उसके बाद भी पाठ्य-पुस्तकों की रचना—विशेष रूप से ईसाई पादरियों द्वारा—होती रहती थी, किन्तु कंपनी-सरकार का ध्यान इधर आकृष्ट होने पर १८३८ और १८५० के बीच अथवा उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के अन्तिम पचीस-तीस वर्ष महत्वपूर्ण हैं। जवाहरलाल (आगरा कॉलेज), वंशीधर (आगरा नॉर्मल स्कूल), श्रीलाल, मोहनलाल, कुञ्जबिहारीलाल, शिवप्रसाद, ओंकार भट्ट, बद्रीलाल, दयाशंकर (लल्लूलाल के भाई), माखनलाल, रत्नेश्वर आदि अनेक भारतीय लेखकों—विशेष रूप से जवाहरलाल, वंशीधर, श्रीलाल, मोहन लाल, कुञ्जबिहारीलाल और शिवप्रसाद—और एम० टी० ऐडम, डब्ल्यू० टी० ऐडम, जे० आर० बैलैन्टाइन, जे० जे० मूर (Moore) और शेरिंग आदि ईसाई लेखकों तथा कलकत्ता स्कूल बुक सोसायटी और आगरा स्कूल बुक सोसायटी द्वारा, 'बिहारी सतसई', 'वृन्द सतसई', 'रामायण', 'सुदामा-चरित्र', 'बैताल पच्चीसी', 'सिंहासन बत्तीसी', 'गीतावली', 'सभा-विलास' आदि हिन्दी साहित्य के ग्रन्थों के प्रकाशन के अतिरिक्त, प्राथमिक पाठ्य-पुस्तकों और रीडरों, गणित, बीजगणित, त्रिकोणमिति, क्षेत्र विज्ञान, इतिहास, भूगोल, राजनीति, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, विज्ञान, चिकित्सा, आईन, खेत-कर्म, ग्राम-सुधार और शासन, टेलीग्राफ़, स्त्री-शिक्षा, यात्रा, धर्म और नीति, ज्योतिष, दर्शन, कला और दस्तकारी, कथा-कहानियां, छन्द-शास्त्र, व्याकरण आदि सम्बन्धी अनेक अनूदित और मौलिक पुस्तकों, और कोषों तथा गद्य-पद्य-संग्रहों का निर्माण हुआ। खड़ीबोली गद्य की इस नवीन चेतना के प्रधान केन्द्र कलकत्ता, बनारस और आगरा थे। अपने बाल्यकाल में ही इतने विविध विषयों का भार-वहन कर उसने अपनी चौमुखी प्रतिभा और उज्ज्वल भविष्य का परिचय दिया। वास्तव में खड़ीबोली गद्य के जन्म का नहीं वरन् उसके विकास और इसी नवीन रूप का अँगरेज़ी राज्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह हिन्दी-प्रदेश में यूरोपीय संस्कृति के साथ संपर्क स्थापित होने का महत्त्वपूर्ण और साक्षात् प्रतीक है।

अरबी-फ़ारसी शब्दों और ब्रजभाषा-रूपों के प्रयोग आदि की दृष्टि से लेखकों की व्यक्तिगत विशेषताओं को छोड़ कर इन पुस्तकों की भाषा कंपनी और गिलक्राइस्ट द्वारा प्रतिपादित कॉलेज की भाषा से भिन्न है। शिथिल और अपरिष्कृत होने पर भी वह हिन्दी है। कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं:

'शिष्य । मुझको अनुग्रह करके जो कह चुका उसी से कृतज्ञ हुवा। मुझको अब बोध होता मनुष्यों के उपकार के लिये यह जगत एक भंडार हुवा है, इसलिये परमेश्वर की प्रशंसा करने को हमको आवश्यक है। इसी जगत में कोटि २ मनुष्य हैं, उन सबों के लिये ऐसी बहु खाद्य द्रव्य प्रस्तुत हैं कि अभाव होगा यह शङ्का कभी नही है। परमेश्वर ने मनुष्यों के प्राण-रक्षा के लिये जिन वस्तुवों की सृष्टि की है उनमें विचार करने से हमारा बड़ा आश्चर्य बोध होता है।'[1]

'जब सारी यूरप में नेपोलियन् बोनापार्ट के आधीन होनेसे शांत हो गयी तब बैलजियम् वाले हालैण्ड देश में इस आशयसे इखट्ठे हुये कि हमारे साथी होने से नीदरलैण्ड के राज्यमें आगेके लिये फ्रैन्स वालों की सम्पूर्ण रूपसे रोक होय परन्तु इस संयोग के न होने-को कितने ही कारण हो गये क्यौंकि उस देश की भाषा प्रकृति और धर्म भिन्न-भिन्न थे उनके मनोरथ परस्पर विपरीत थे और वे आपुस में द्वेष रक्खे थे बैलजियम् वालों के आनेके भयसे डचके राज पर चढ़ाई करी परन्तु जब उन्हों को पारिस के परिवर्तनके कारण फ्रैन्स से दया और सहायता की आशा भई तब उन्होंने श्रम कम करना चाहा और राजा की ओर से विना मिस अपनी स्वाधीनता जताई....'[2]

इन अवतरणों से पता चलता है कि यद्यपि खड़ीबोली में ज्ञानवर्द्धक साहित्य का सृजन होने लगा था, तो भी अभी भाषा में परिपक्वता न आ पाई थी। गद्य पर काव्य की भाषा का प्रभाव समस्त उन्नीसवीं शताब्दी में मिलता है। प्रारंभ में गद्य का काव्य की भाषा से प्रभावित होना स्वाभाविक था। तत्कालीन खड़ीबोली गद्य सर्वत्र ऐसा ही लिखा जाता था। स्थान-स्थान पर उर्दू शैली का वाक्य-विन्यास, ठेठ शब्दों का प्रयोग, अशुद्ध प्रयोग, अद्भुत शब्द-विन्यास, आदि बातें मिलती हैं। विषय-विस्तार के साथ 'कॉलेज', 'स्कूल', 'पुलीस', 'कमाण्डर', 'प्रेस', कप्तान', 'जज', 'कंपनी', 'पलटन', आदि अँगरेज़ी के अनेक शब्द ग्रहण कर खड़ीबोली

[1] कलकत्ता स्कूल बुक सोसायटी द्वारा प्रकाशित 'पदार्थ-विद्यासार' (१८४६, द्वि० सं०) नामक प्रकृति-विज्ञान-विषयक पुस्तक से, पृ० १०६

[2] जवाहरलाल : 'इतिहास चंद्रिका' (The History of England), दिल्ली उर्दू अख़बार प्रेस, दिल्ली, १८४७, पृ० ७२६

गद्य ने अपनी समन्वयात्मक शक्ति का परिचय दिया। इससे शब्द-भाण्डार की वृद्धि और उसमें नए-नए विचार प्रकट करने की क्षमता प्रकट हुई। किन्तु लेखकों की व्यक्तिगत शैलियों का जन्म उस समय न हो सका। खड़ीबोली गद्य के अधिकांश ग्रंथ मौलिक न होकर अँगरेज़ी, उर्दू, संस्कृत और मराठी—प्रधानतः अँगरेज़ी और उर्दू—से अनूदित या उनके आधार पर निर्मित होते थे। यद्यपि १८३५ में लॉर्ड मैकॉले की सरकारी संस्थाओं के लिए अँगरेज़ी और अँगरेज़ी शिक्षा की आयोजना से हिन्दी-गद्य-ग्रन्थों के प्रकाशन-कार्य को काफ़ी आघात पहुँचा, तो भी ग़ैर-सरकारी संस्थाओं के लिए या स्वतंत्र रूप से विविध विषयों से सम्बन्ध रखने वाली पुस्तकें समय-समय पर प्रकाशित होती रहीं। हाँ, उच्च शिक्षा का माध्यम अँगरेज़ी हो जाने से खड़ीबोली गद्य में उच्चकोटि के मौलिक ग्रन्थों का निर्माण न हुआ। चार्ल्स वुड की शिक्षा-आयोजना (१८५४) के अंतर्गत प्राथमिक शिक्षा-सम्बन्धी पाठ्य-पुस्तकों का फिर से निर्माण हुआ अवश्य (यद्यपि सरकार ने स्वार्थवश प्राथमिक शिक्षा की ओर अधिक ध्यान न दिया), किन्तु उच्च शिक्षा के लिए अँगरेज़ी के माध्यम बने रहने से कोई विशेष लाभ न हो सका।

खड़ीबोली गद्य की इस परम्परा से ईसाई धर्म-प्रचारकों ने भरपूर लाभ उठाया। अपने मत का प्रचार करने के लिए उन्होंने जनता की भाषा में बाइबिल का अनुवाद किया और अनेक छोटे-बड़े ग्रन्थ लिखे। हिन्दी-गद्य की उन्नति की भावना लेकर वे नहीं चले थे। उनका प्रधान उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रचार करना था। व्यक्तिगत रूप से शासकों की ईसाई धर्म-प्रचार में दिलचस्पी होते हुए भी ईस्ट इंडिया कंपनी की सरकारी नीति भारत के धार्मिक विषयों में हस्तक्षेप करने की नहीं थी। इस नीति के आधार पर उन्होंने ईसाई-धर्म-प्रचारकों का भरसक विरोध किया और उनके मार्ग में रुकावटें डालीं। परन्तु १८१३ के विल्बर्फ़ोर्स ऐक्ट के अनुसार कंपनी के इस विरोध पर प्रतिबंध लगा दिया गया, जिसके फल-स्वरूप ईसाई मिशनरियों ने बड़े उत्साह के साथ अपना काम शुरू किया। १८०६ और १८५० के बीच समस्त हिन्दी-प्रदेश में फैल कर उन्होंने विभिन्न धार्मिक सोसायटियाँ और प्रेस स्थापित कर पटना, प्रयाग, बनारस, आगरा, दिल्ली, मिर्ज़ापुर, जबलपुर, नागपुर, अल्मोड़ा, अम्बाला, जयपुर, आदि अनेक स्थानों पर महात्मा ईसा का अमर संदेश सुनाया।

वैसे तो रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टैंट दोनों सम्प्रदायों के ईसाई मिशनरी भारतवर्ष आए, किन्तु भारतीय भाषाओं में बाइबिल का अनुवाद

करने या कराने या ईसाई धर्म से सम्बन्धित अन्य पुस्तकें प्रकाशित करने का महत्त्व केवल प्रोटेस्टैण्ट धर्म-प्रचारकों ने समझा। सेंट टॉमस की परम्परा (६५ ई०) के बाद ईसाई पादरियों का आगमन ईसा की सोलहवीं शताब्दी से निश्चित रूप से प्रारम्भ हो गया था। पहले-पहल फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में अनुवाद-कार्य की ओर ध्यान दिया गया। डेविड ब्राउन और डॉ० ब्यूकैनैन, क्रमशः कॉलेज के प्रोवोस्ट और वाइस-प्रोवोस्ट, विलियम हंटर और कोलब्रुक प्रसिद्ध ईसाई धर्म-प्रचारक थे। स्वयं कंपनी के व्यय पर विलियम कैरे ने, जो १७६३ में भारतवर्ष आए थे और जिन्होंने १७६६ में श्रीरामपुर में मार्शमैन और वार्ड की सहायता से डेनिश मिशन की स्थापना की, कॉलेज में संस्कृत और बँगला का अध्यापन-कार्य करते हुए बाइबिल-प्रचार का कार्य अपने हाथ में लिया था, किन्तु उस समय वे स्वयं हिन्दी में बाइबिल का अनुवाद न कर सके थे। १८०५ तक फ़ितरत की सहायता से किया गया विलियम हंटर वाला बाइबिल का हिन्दुस्तानी अनुवाद नागराक्षरों में प्रकाशित हुआ। बाइबिल का सर्वप्रथम हिन्दी अनुवाद फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में संस्कृत और हिन्दू धर्मशास्त्र के अध्यापक तथा कलकत्ता बेंच के प्रधान, हेनरी टॉमस कोलब्रुक, ने किया। पहली बार सुसमाचारों का अनुवाद सरकारी व्यय से १८०६ में प्रकाशित हुआ और उसकी चार सौ प्रतियाँ मिशनरियों को दी गईं। किन्तु कोलब्रुक द्वारा अनूदित ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका। फ़ारसी, पश्चिमी मलय, उड़िया और मराठी भाषाओं में भी अनुवाद-कार्य प्रारंभ हो गया था। किन्तु कोर्ट के डाइरेक्टरों द्वारा कॉलेज की वृहत् आयोजना अस्वीकृत हो जाने पर यह कार्य बहुत-कुछ अधूरा रह गया। श्रीरामपुर मिशनरियों ने भारत की चालीस विभिन्न भाषाओं में धर्म-पुस्तकें प्रकाशित करने की वृहत् आयोजना तैयार की, जिसका परिचय उनके दस संस्मरणों से मिलता है। विलियम कैरे ने १८१३ से १८१८ तक बाइबिल का पाँच जिल्दों में अनुवाद किया।[1] धर्म-पुस्तक के नए नियम का तृतीय संस्करण १८३७ में श्रीरामपुर से, और प्राचीन नियम के अन्तर्गत 'उत्पत्ति की पुस्तक' १८५१

---

[1] कहा जाता है इससे पहले कैरे ने एक और अनुवाद किया था जो १८०७ में समाप्त होकर १८११ में या उसके लगभग प्रकाशित हुआ था। किन्तु अरबी-फ़ारसी शब्दों का मिश्रण होने से वह आगरे के आसपास स्वीकृत न हुआ। इसलिए बापटिस्ट मिशनरी सोसायटी के चैम्बरलेन ने उसमें सुधार कर १८११ में ब्रजभाषा में प्रकाशित कराया।

में कलकत्ते से प्रकाशित हुई। श्रीरामपुर की आयोजना के अन्तर्गत बापटिस्ट मिशनरियों ने और उनके बाद ब्रिटिश ऐंड फॉरेन बाइबिल सोसायटी (१८०४) ने १८०१ से १८३२ तक हिन्दी (पश्चिमी हिन्दी का एक रूप) अवधी या कोसली, बघेली, बुन्देली, बीकानेरी, ब्रजभाषा, हड़ौती, जयपुरी, कन्नौजी, कुमायूँनी, मालवी, मेवाड़ी, मारवाड़ी, आदि हिन्दी प्रदेश तथा भारतवर्ष की अन्य साहित्यिक भाषाओं और बोलियों में धर्म-पुस्तकों के पूर्ण या आंशिक अनुवाद प्रकाशित किए। स्वयं कैरे ने मागधी (१८१४), ब्रजभाषा (१८२२-३२), कन्नौजी (१८१५-२२), कोसली (१८२०), बघेली (१८२१) और उज्जैनी (१८२३) में धर्म-पुस्तक के नए नियम का अनुवाद या सम्पादन किया।

ईसाई धर्म-पुस्तकों के अनुवाद-कार्य की दूसरी शाखा हेनरी मार्टिन (१७८१-१८१२) से चली। ईस्ट इंडिया कंपनी की अध्यक्षता में चैपलेन नियुक्त होकर वे १८०५ में भारतवर्ष आए और श्रीरामपुर, दीनापुर और कानपुर में कार्य किया। वे अरबी, फ़ारसी और हिन्दुस्तानी या उर्दू के पण्डित थे। ईसाई धर्म-प्रचारकों में कैरे के बाद मार्टिन का नाम आदर के साथ लिया जाता है। डेविड ब्राउन की इच्छानुसार उन्होंने हिन्दुस्तानी या उर्दू में बाइबिल का अनुवाद करना शुरू किया और १८०६ के लगभग वे 'ट्रैक्ट्स' का अनुवाद करने में संलग्न थे। इस कार्य में उन्होंने फ़ितरत तथा अन्य मुसलमान मौलवियां और मुंशियों से सहायता ली। १८०८ में 'न्यू टेस्टामेंट' की पाण्डुलिपि तैयार हो गई थी। कुछ संशोधनों के बाद वह १८१४-१५ में श्रीरामपुर प्रेस से अरबी लिपि में प्रकाशित हुआ। यही संस्करण १८१७ में नागराक्षरों में छापा गया। किन्तु मार्टिन की भाषा तत्कालीन बनारस और ग़ाज़ीपुर प्रदेशों के निवासियों की समझ में न आने के कारण कलकत्ता बाइबिल सोसायटी की अध्यक्षता में चर्च मिशनरी सोसायटी की चुनार शाखा के ऐंग्लो-इंडियन मिशनरी, रेवरेंड विलियम बाउले, ने अरबी-फ़ारसी शब्दों के स्थान पर संस्कृत शब्दों का प्रयोग कर १८१९ में 'मत्ती', 'मरकस' और 'लूक' नामक प्रथम तीन सुसमाचार प्रकाशित किए। १८२० में उन्होंने 'यूहन्ना' नामक सुसमाचार प्रकाशित किया। पूरा 'न्यू टेस्टामेंट' १८२६ में 'जगतारक प्रभु ईसा मसीह का नया नियम—मंगल समाचार' के नाम से छपा। १८३८ में उसका संशोधित संस्करण श्रीरामपुर प्रेस से निकला। वास्तव में कैरे से परवर्ती धर्म-पुस्तकों के अनुवादों के आधार बाउले द्वारा अनूदित ग्रन्थ रहे। इसलिए हिन्दी ईसाई-साहित्य के इतिहास में

मार्टिन और बाउले का महत्त्वपूर्ण स्थान है। १८३४-३५ में बाउले ने धर्म-पुस्तक के प्राचीन नियम का अनुवाद किया। ग्रीक और हेब्रू भाषाओं से अनभिज्ञ होने के कारण वे बाइबिल के केवल अँगरेज़ी संस्करण से सहायता ले सके। १८२१-२३ और तत्पश्चात् १८४४ और १८५० के बीच आगरा, बनारस, आदि स्थानों से विलियम येट्स, लैसली, श्नाइडर, आदि द्वारा अनूदित या सम्पादित धर्म-पुस्तक के दोनों नियमों के कई और संस्करण प्रकाशित हुए। धर्म-पुस्तकों के अतिरिक्त ईसाई धर्म-प्रचारकों ने खण्डन-मण्डन, उपदेश और भजन सम्बन्धी अन्य अनेक छोटी-बड़ी पुस्तकें प्रकाशित कीं, जैसे, जे० टी० टॉम्पसन कृत 'दाऊद के गीत' (१८३६), किसी अज्ञात कवि कृत दोहा-चौपाइयों में 'प्रभु ईसा मसीह की जीवनी' (१८३८), जॉन पारसंस कृत 'गीत संग्रह' (१८४५), जॉन म्योर (Muir) कृत 'ईश्वरोक्त शास्त्रधारा' (१८४६), टॉम्पसन कृत 'इंजील की तफ़सीर' (१८५०), आदि। बहुत-सा ईसाई-साहित्य तो श्रीरामपुर के १८१२ के भीषण अग्निकांड और १८५७ के विद्रोह के कारण नष्ट हो गया। ईसाई धर्म-पुस्तकों की भाषा-शैली के उदाहरण स्वरूप कुछ अवतरण नीचे उद्धृत किए जाते हैं :

'......और जब वे चलीजातीथीं देखो कि कई उन रखवालोंमें-से नगरमें आये और प्रधान याजकों को समस्त समाचारोंको जो बीत-गयाथा सुनाया। और जब उन्होंने प्राचीनोंके संग एकत्ते होके परामर्ष किया वे उन सिपाहियोंको बहुत रुपए देके कहा। कि कहियो कि रात-को जब हम सोगयेथे उसके शिष्य आके उसे चुरालेगये। और यदि यह अध्यक्ष के कानलों पहुंचे हम उसे समझाके तुम्हें बचालेंगे। सो उन्होंने रुपए लिये और जैसा सिखागयेथे वैसा किया और यह बात आजलों यहूदियों में चर्चा किईजातीहै। तब वे ग्यारह शिष्य जलीलमें उस पहाड़को गये जहां ईसाने उनसे ठहरायाथा...।'[1]

'हे सरगमहँ रहबेआ हमरेन के बाप तोहार नाम पवित्र होउ। तोहार राज आवै। तोहरे मनमन्ता सरगमहँ जस तस संसारमहँ किहा जाइ...'[2]

---

[1] विलियम बाउले : 'मंगलसमाचार मत्ती रचित' ('न्यू टेस्टामेंट'), १८११, पृ० ७१

[2] अवधी (१८२०)—मत्ती, ६,६

'कसकी ईश्वर जस संसारकैहाँ पियारु कीन्ह अकि ओहिं अपने याक उपजे द्वाटाकैहाँ दीन्ह अकि जेह्र हरियाक मनई ओहिपरिहाँ विशुआस करत आस ओहु नहशु न होइ अक्याल अनगंतिन जिउरिआ पावैं।...'[1]

'गालिल के जे लोग अंधकारमै वैठेहैं, उनंते बडो उजेरो देख्यौ और मृत्युके देसमैं और छावामैं बैठनवारे जे उनमैं उजेरो उदै भयो...'[2]

ईसाई धर्म-प्रचारकों की भाषा का अध्ययन करते समय अनेक विचित्र ग्रामीण और अशुद्ध शब्दों का प्रयोग मिलता है। यद्यपि उनकी भाषा शिथिल, ब्रज-रंजित, अशुद्ध मुहावरों तथा व्याकरण-सम्बन्धी प्रयोगों से भरी हुई है, तो भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उनमें हिन्दी गद्य की उन्नति की भावना न रहते हुए भी अप्रत्यक्ष रूप से उसके प्रसार में उनसे यथेष्ट सहायता मिली। उनकी भाषा पर लल्लूलाल और इंशा का प्रभाव है। जितनी जल्दी वे चाहते थे उतनी जल्दी हिन्दी के व्याकरण और मुहावरों पर अधिकार प्राप्त कर सकना कठिन था। किन्तु हिन्दी ईसाई-साहित्य का ऐतिहासिक महत्त्व अवश्य रहेगा। शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तकें और नागरी का सुन्दर टाइप भी उन्होंने तैयार किया, इसके लिए हिन्दी-भाषा-भाषी उनके कृतज्ञ रहेंगे।

उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध का एक और वजह से हिन्दी साहित्य में विशेष स्थान है। यह खड़ीबोली गद्य के विकास-काल का प्रथम चरण ही नहीं, वरन् हिन्दी की पत्रकार-कला का वपन-काल भी है। पत्रकार-कला खड़ीबोली गद्य के विकसित होने में एक महत्वपूर्ण साधन थी। आगे चल कर भी पत्रकार-कला का गद्य-साहित्य की वृद्धि—निबन्ध, समालोचना तथा अन्य साहित्यिक रूपों की दृष्टि से—बहुत बड़ा हाथ रहा। भारतवर्ष में अँगरेज़ी राज्य के साथ-साथ सबसे पहले बँगला में इस कला का जन्म हुआ। इस कला के साथ प्रेस का घनिष्ठ सम्बन्ध था। वैसे तो ईसा की सोलहवीं शताब्दी में पोर्चुगीज़ अपने साथ प्रेस लाए थे और गोआ में उन्होंने कुछ पुस्तकें रोमन लिपि में छापी भी थीं। किन्तु हिन्दी भाषा और प्रदेश उस समय इस उपयोगी साधन के सम्पर्क में न आ सके; वह दक्षिण भारत के एक छोटे-से भूमिभाग तक ही सीमित रहा। भारतवासियों ने भी उस समय

---

[1] कन्नौजी (१८२१)—मत्ती

[2] ब्रजभाषा (१८२४)—मत्ती ४,१६

उसमें कोई दिलचस्पी न ली। उत्तर भारत में १७६८ में बोल्ट्स नामक व्यक्ति ने बंगाल में एक प्रेस स्थापित कर समाचारपत्र प्रकाशित करना चाहा था, किन्तु कंपनी सरकार ने उसे भारत से चले जाने पर बाध्य किया। तत्पश्चात् १७७८ के बाद कलकत्ता, हुगली, मदनावती, आदि कुछ स्थानों में प्रेस स्थापित किए गए। इस कार्य में श्रीरामपुर के बापटिस्ट मिशनरियों का भी भाग था। प्रेस स्थापित हो जाने के बाद अँगरेज़ी में समाचारपत्र, प्राचीन भारतीय साहित्य, पाठ्य-पुस्तकें, ईसाई धार्मिक ग्रन्थ, आदि का प्रकाशन हुआ। प्रारंभ में प्रेस की स्वतंत्रता पर कड़े प्रतिबंध थे। अनेक अँगरेज़ सम्पादकों को भारत से निर्वासित होना पड़ा। १८२३ तक प्रेस स्थापित करने और समाचारपत्र तथा पुस्तकें प्रकाशित करने के लिए सरकारी आज्ञा लेनी पड़ती थी। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में तथा उसके बाद वर्षों तक कलकत्ता नवीन राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक, आदि चेतनाओं का केन्द्र था। इसलिए वहीं हिन्दी की पत्रकार-कला का भी जन्म हुआ। लॉर्ड हेस्टिंग्ज़ के शासनांतर्गत १८१८ में डॉ० मार्शमैन ने कैरे की सहकारिता में बँगला का सर्वप्रथम समाचारपत्र 'दिग्दर्शन' प्रकाशित किया। वास्तव में इस समय प्रेस सम्बन्धी प्रतिबन्ध बहुत कुछ ढीले हो गए थे। मेटकाफ़ (१८३५-१८३६) के समय में प्रेस एक प्रकार से पूर्णतः स्वतंत्र था और १८५७ तक स्वतंत्र रहा। १८१८ में प्रेस-सम्बन्धी प्रतिबन्धों के शिथिल हो जाने से पत्रकार-कला को यथेष्ट प्रोत्साहन मिला। इससे पहले प्रतिबन्धों के कारण कोई स्वाभिमानी और आत्मसम्मान वाला व्यक्ति प्रेस, पत्रकार-कला, आदि की ओर आकृष्ट ही न होता था। १८२३ का सरकारी नियम तब भी उनके मार्ग में एक भारी रुकावट थी। किन्तु पत्रकार-कला के इतिहास में १८१८ का विशेष महत्व है।

साहित्य-निर्माण का उपयोगी साधन समझ कर हिन्दी भाषा-भाषियों ने भी पत्रों का अवलंबन ग्रहण किया। हिन्दी पत्रकार-कला का जन्म कलकत्ते में पं० युगलकिशोर शुक्ल द्वारा हुआ। उपलब्ध सामग्री के आधार पर वे ही हिन्दी में इस कला के आदि प्रवर्तक हैं। वे कानपुर के निवासी और कलकत्ते की सदर दीवानी अदालत में पहले 'प्रोसीडिंग रीडर' और, बाद में, वकील थे। उन्होंने १६ फ़रवरी, १८२६ को सरकार से लाइसैंस लेकर ३० मई, १८२६ (जेठ बदि ६, सम्वत् १८८३) को 'उदन्त मार्तण्ड' नामक पत्र की पहली संख्या प्रकाशित की। यह पत्र साप्ताहिक (मंगलवार) था। किन्तु ग्राहकों की कमी के कारण यह पत्र ४ दिसंबर, १८२७ को बन्द हो

गया। इसके बाद ६ मई, १८२६ में 'बंगदूत' नामक पत्र निकला। यह अँगरेज़ी, बँगला, फ़ारसी और हिन्दी चार भाषाओं में प्रकाशित होता था। राजा राममोहन राय, द्वारिकानाथ ठाकुर और प्रसन्नकुमार ठाकुर आदि इसके स्वत्वाधिकारी थे। १८३४ में 'प्रजामित्र' का अनुष्ठान-पत्र प्रकाशित हुआ था। लेकिन वह निकला या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। इसके बाद राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द का 'बनारस अख़बार' नामक पत्र तारामोहन मित्र के सम्पादकत्व में १८४४ के जून मास में बनारस से भाषा-प्रचार की दृष्टि से निकला। हिन्दी-प्रदेश में प्रेस का प्रचार भी १८३५ के बाद ही हुआ था। उसकी भाषा अरबी-फ़ारसी शब्दों से मिश्रित नागरी लिपि में लिखी जाती थी। इसलिए जनता में उसका अच्छा स्वागत न हुआ। १८४६ में 'मार्तण्ड' निकला। मौलवी नासिरुद्दीन उसके सम्पादक थे और पाँच कॉलमों में लिखी गईं हिन्दी, उर्दू, बँगला, फ़ारसी और अँगरेज़ी पाँच भाषाओं में कलकत्ते से प्रकाशित होता था। वास्तव में उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के हिन्दी-पत्रों का अभी पूरा इतिहास तैयार नहीं हुआ। उसके लिए खोज की आवश्यकता है। उत्तरार्द्ध में पत्रों की संख्या में तीव्र वृद्धि हुई।

पत्रों के माध्यम द्वारा खड़ीबोली गद्य में विषय-विस्तार के साथ-साथ शब्दों की वृद्धि हुई। उनमें राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, यात्रा-सम्बन्धी, व्यापारिक, पशु-पक्षी और पेड़-पौधों-सम्बन्धी, अदालती तथा अन्य प्रकार के क़ानूनी, चिकित्सा सम्बन्धी, शिक्षा-सम्बन्धी, साहित्यिक, सरकारी नियुक्तियों और तबादले सम्बन्धी सूचनाएँ, आदि अनेक विषय रहते थे। सम्पादकीय भी उनकी एक विशेषता थी। हास्य और व्यंगपूर्ण बातें भी उनमें दी जाती थीं। इन सब विषयों की अभिव्यक्ति मुहावरेदार, सरल और रोचक, यद्यपि ब्रज-रंजित और शिथिल, भाषा में होती थी। उदाहरण के लिए :

'मध्य देशीय भाषा

> इस उदन्त मार्तण्ड के नांव पढ़ने के पहिले पछाँहियों के चित्त को इस कागज के होने से हमारे मनोर्थ सफल होनेका बड़ा उत्साह था इसलिए लोग हमारे बिना कहे भी इस कागज की सही की बही पर सही करते गये पै हमें पूछिये तो इनकी मायाबी दया से सरकार अंगरेज़ कम्पनी महा प्रतापी की कृपा कटाक्ष जैसे औरों पर वैसी पड़ जाने की बड़ी आशा थी और मैं ने इस विषय में उपाय यथोचित किया पै करम की रेख कौन मेटै तिस पर भी सही की बही देख जी सुखी होता रहा अन्त को नटों के से आम दिखाई दिये इस हेत स्वारथ अकारथ जान निरे

परमारथ को मान कहां तक बनजिये इस लिये अब अपने व्यवसाई भाइयों से मन की बात जनाय बिदा होते हैं हमारे कहे सुने का कुछ मन में न लाइयो जो दैव औ भूधर मेरी अन्तर व्यथा औ इस पत्र के गुण को विचार सुध करैंगे तो नेरे ही हैं शुभमिति ॥''[1]

किन्तु खड़ीबोली गद्य के प्रवर्द्धन का मुख्य कारण नवयुग की अवतारणा थी। उपर्युक्त अन्य सभी साधन नवयुग की नवीन चेतना की मुख्य धारा में सहायक धारा के रूप में आ मिले। सच बात तो यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में यूरोपीय सभ्यता के संस्पर्श से एक नवीन भावना और चेतना के प्रादुर्भाव का श्रीगणेश हुआ जिसका स्पष्ट प्रकटीकरण आगे चल कर भारतेन्दु और उनके सहयोगियों की रचनाओं में हुआ। दार्शनिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में तो नहीं, किन्तु ज्ञान-विज्ञान के व्यावहारिक क्षेत्र में पूर्व पश्चिम से पिछड़ा हुआ था। अँगरेज़ों के सम्पर्क से यह ऐतिहासिक क्रम पूर्ण हुआ और इस व्यावहारिकता के जन्म के साथ-साथ गद्य भी अपनी प्राथमिक अवस्था से निकल कर विकास-नियम के अनुसार नए-नए मार्ग खोजने लगा। कविता-कामिनी इस नए बोझ को सम्हालने में असमर्थ थी। फिर ज्यों-ज्यों प्रेस, रेल, तार, आदि का प्रचार बढ़ता गया, त्यों-त्यों ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्धित नवीन व्यावहारिकता प्राप्त करने में अधिकाधिक सुविधा होती गई। साथ ही अन्तर्प्रान्तीय साहचर्य बढ़ा, एक प्रान्त का प्रभाव दूसरे प्रान्त पर पड़ना शुरू हुआ। लोग एक जगह इकट्ठा होकर वैज्ञानिक और तार्किक प्रणाली से विविध विषयों पर वाद-विवाद करने लगे। अँगरेज़ी भाषा और साहित्य का अध्ययन भी आरंभ हो गया। और हिन्दी प्रदेश की बोधवृत्ति के साथ तार्किकता और बुद्धितत्त्व का सामञ्जस्य-क्रम उपस्थित होने के फल-स्वरूप खड़ीबोली गद्य की उन्नति का भी स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ। इस नवयुग के आघात से देश शताब्दियों के अलसाए बदन को झाड़-पोंछ कर खड़े होने की चेष्टा करने लगा। गद्य ने नवयुग के नवजीवन का भार ग्रहण किया और उसकी चेतना एवं आकांक्षाओं का प्रतीक बना।

---

[1]'उदन्त मार्तण्ड'(१८२६)

२

पीठिका

[१८५०-१९००]

उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में विभिन्न शक्तियों से प्रभावित खड़ीबोली गद्य हिन्दी साहित्य के आधुनिक गद्य-युग के सूत्रपात की सूचना दे चुका था। हिन्दी की प्रधान साहित्यिक सम्पत्ति काव्य की पुरानी धारा एक प्रकार से अक्षुण्ण बनी रही। किन्तु आधुनिकता का बीज धीरे-धीरे अङ्कुरित होकर बढ़ता गया। उत्तरार्द्ध में गद्य के सर्वाङ्गीण अभ्युदय द्वारा ही नहीं, वरन् काव्य के क्षेत्र में भी हिन्दी साहित्य ने नवयुगोन्मुखी हो अपने विकास-क्रम का परिचय दिया। इसलिए सबसे पहले हमें देखना यह है कि आलोच्य-काल में पूर्वार्द्ध से भिन्न जीवन की ऐसी कौन सी परिस्थितियाँ थीं जिनसे प्रभावित होकर हिन्दी-भाषियों की मानसिक प्रवृत्ति बदली, और वह कहाँ तक बदली। वास्तव में अँगरेज़ी राज्य के अन्तर्गत हिन्दी साहित्य का यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, और अनेक दृष्टिकोणों से अभूतपूर्व, काल है।

उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध हिन्दी नवोत्थान का काल है। इस काल के जाज्वल्यमान प्रतीक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म १८५० में हुआ था। उनके जन्म-काल के लगभग ही रेल, तार, प्रेस, आदि नवीन वैज्ञानिक साधनों का हिन्दी प्रदेश में प्रचार हुआ था। इन नवीन वैज्ञानिक साधनों का प्रभाव भारतेन्दु के जीवन-काल में दृष्टिगोचर होने लगा था। भारतेन्दु के जन्म से एक वर्ष पूर्व अर्थात् १८४६ में द्वितीय सिक्ख युद्ध के बाद देश का शेष भाग भी अँगरेज़ों के हाथ में आ गया, अर्थात् भारतेन्दु के जन्म के समय एक प्रकार से सम्पूर्ण भारतवर्ष पर अँगरेज़ों का आधिपत्य स्थापित हो चुका था। १८३४ के इंडिया ऐक्ट के अधीन भारतवर्ष के राज्य-प्रबन्ध में दुहरी शक्तियाँ काम कर रही थीं। शासन-प्रबन्ध तो कोर्ट के डाइरेक्टरों के हाथ में था, किन्तु वास्तविक शक्ति 'क्राउन' के अधीन बोर्ड ऑव कंट्रोल के हाथ में थी। कोर्ट से बिना परामर्श किए ही बोर्ड भारतवर्ष को युद्ध-विग्रह की झंझटों में फँसा देता था। लॉर्ड पामर्सटन जैसे साम्राज्यवादी की नीति को सफल बनाने के लिए कोर्ट को आर्थिक सहायता जुटानी पड़ती

थी, जिसका अंतिम भार भारतवर्ष की जनता पर पड़ता था। इतिहास-लेखकों का मत है कि अफ़ग़ानिस्तान, सिंध, ब्रह्म देश (बर्मा), आदि के युद्धों के लिए कोर्ट को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। इस दुहरे राज्य-प्रबन्ध में यही एक बहुत बड़ी त्रुटि थी, अन्यथा इस व्यवस्था के अन्तर्गत कोर्ट और बोर्ड एक दूसरे पर नियन्त्रण रख निरंकुश शासन का जन्म नहीं होने देते थे। जॉन स्टुअर्ट मिल जैसे प्रसिद्ध विचारक भी इस व्यवस्था के समर्थक थे। १८५७ तक यह व्यवस्था बनी रही। किन्तु उसके बाद मैंचेस्टर, बरमिंघम, आदि के व्यापारियों के दबाव के कारण भारतीय शासन केवल भारत सचिव के हाथ में ही रह गया। इसलिए भारतेन्दु के जीवन-काल में भारत का आर्थिक शोषण पहले से भी अधिक हुआ। देशी राज्यों ने भी अब पूर्णरूप से अँगरेज़ों की अधीनता स्वीकार कर ली थी। भारतेन्दु जिस समय सात वर्ष के बच्चे थे उस समय हिन्दी प्रदेश में केवल सिपाही-विद्रोह हुआ जिसका अन्तिम परिणाम देश के जीवन को प्रभावित किए बिना न रह सका। नहीं तो १८५० और १८५७ के बीच हिन्दी प्रदेश या भारतवर्ष के अन्य किसी भाग में कोई युद्ध न हुआ। १८५२ का द्वितीय बर्मा युद्ध हिन्दी प्रदेश से बहुत दूर था। आर्थिक दृष्टि के अतिरिक्त वह और किसी रूप से हिन्दी जनता को प्रभावित न कर सका। अब कन्याकुमारी से लेकर पूर्व में मलय प्रदेश और पश्चिम में करांची तक के समुद्री तट पर अँगरेज़ों का पूर्ण अधिकार था। नाविक शक्ति के युग में यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्य था।

आलोच्य काल के प्रारम्भ में लॉर्ड डलहौज़ी (१८४८-१८५६) गवर्नर-जनरल थे। उनके शासन-काल में द्वितीय सिक्ख युद्ध (१८४६) और द्वितीय बर्मा युद्ध (१८५२) से भी अधिक प्रमुख समस्या देशी राज्यों की थी। १८१३ तक कंपनी ने देशी राज्यों के शासन में हस्तक्षेप न किया; वह उन्हें 'विदेशी' समझती रही। १८१३ से १८५७ तक कंपनी ने एक भिन्न नीति का अवलम्बन ग्रहण किया। उसने उन्हें अपने संरक्षण में तो लिया, किन्तु उनके अपने शासन-सम्बन्धी मामलों में उन्हें स्वतंत्र रक्खा। १८५७ के बाद ब्रिटिश सरकार ने देशी राज्यों के सुशासन पर विशेष ज़ोर दिया। अवसर पड़ने पर जनता सर्वोपरि राजनीतिक सत्ता अर्थात् ब्रिटिश सरकार से सैनिक सहायता तक माँग सकती थी। पहली नीति के अन्तर्गत देशी राज्यों की जनता को अपने हित के लिए विद्रोह करने का पूर्ण अधिकार था। अन्तिम नीति के अन्तर्गत जनता अँगरेज़ों से सैनिक सहायता की याचना कर सकती थी। किन्तु बीच की परिस्थिति में अँगरेज़ न तो किसी राज्य के शासन-सम्बन्धी

मामलों में हस्तक्षेप ही कर सकते थे और न पीड़ित जनता की किसी रूप में सहायता ही कर सकते थे। डलहौज़ी को यह परिस्थिति अच्छी न लगी। यद्यपि देशी नरेशों को गोद लेने के अधिकार से वञ्चित रख उनके राज्यों को ब्रिटिश राज्यान्तर्गत लेने का नियम सिद्धान्त रूप में १८३४ के लगभग पाया जाता है, तो भी उस समय यह सिद्धान्त कार्यरूप में परिणत न हुआ था। डलहौज़ी ने यह सिद्धान्त कार्यरूप में परिणत किया और उन्होंने सतारा (१८४८), जैतपुर और सम्भलपुर (१८४९), बघाट (१८५०), उदयपुर-करौली (१८५२), झाँसी (१८५३) और नागपुर (१८५४) रियासतें अँगरेज़ी राज्य में मिला लीं। १८५६ (फ़रवरी) में अवध का अँगरेज़ी राज्य में मिलाया जाना डलहौज़ी के शासन की अन्तिम महत्वपूर्ण घटना है। अवध में राज्यवंश के समाप्त होने या गोद लेने का प्रश्न नहीं था। वह एक बहुत बड़ा राज्य था। उसने कंपनी के साथ की गई सन्धियों का पूर्ण निर्वाह किया था। किन्तु स्लीमैन (१८५१) और आउटरैम (१८५४) द्वारा दिए गए विवरणों से ज्ञात होता है कि वहाँ के बादशाह के विलासपूर्ण जीवन के फल-स्वरूप उत्पन्न आर्थिक भार तथा ताल्लुक़ेदारों के अत्याचार से जनता अत्यधिक पीड़ित थी। सरकारी कर्मचारी और सैनिक मनमानी करते थे। शासन-सम्बन्धी अव्यवस्था और अराजकता पूरे तौर से फैली हुई थी। किसी इतिहास-लेखक ने इस सम्बन्ध में कोई सन्देह प्रकट नहीं किया। स्लीमैन और आउटरैम अवध को अँगरेज़ी राज्य में मिला लेने के नहीं वरन् उसमें सुधार के पक्षपाती थे। उनकी सम्मति में अवध का अस्तित्व मिटाने की चेष्टा सङ्कट से ख़ाली नहीं थी। स्वयं डलहौज़ी शासन अपने हाथ में लेकर बादशाह को बना रहने देना चाहते थे। किन्तु कोर्ट के डाइरेक्टर उसे बिल्कुल ही अँगरेज़ी राज्य में मिला लेने के पक्ष में थे। अन्त में डाइरेक्टरों की इच्छा पूर्ण हुई। फ़रवरी, १८५६ के अन्त में डलहौज़ी ने अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया।

डलहौज़ी का आठ वर्ष का शासन-काल अँगरेज़ी राज्य की सीमा के विस्तार की दृष्टि से ही नहीं, अन्य अनेक दृष्टियों से भी महत्वपूर्ण है। उनके समय में रेल, तार, डाक, आदि का प्रचार हुआ और चार्ल्स वुड की शिक्षा-आयोजना (१८५४) तैयार हुई। तत्कालीन उत्तर-पश्चिम प्रदेश के प्रसिद्ध गवर्नर, जेम्स टॉमसन (१८४३-१८५३), के कहने से उन्होंने रुड़की के ऐंजीनियरिंग कॉलेज की स्थापना की और सड़कें और नहरें बनवाईं। इन बातों के करने में उनका दृष्टिकोण चाहे कुछ रहा हो, किन्तु अन्त में जनता

का जीवन प्रभावित हुए बिना न रह सका। आलोच्य-काल के प्रारम्भ में ही उन्होंने नए विचारों की नींव डाली।

डलहौज़ी के जाते ही भारत के राजनीतिक गगन-मण्डल में विपत्ति के काले बादल छा गए। फ़रवरी, १८५६ में लॉर्ड कैनिंग (१८६१ तक) गवर्नर-जनरल नियुक्त हुए और २३ जनवरी, १८५७ को स्थान-स्थान के सिपाहियों को फैलती हुई अशान्ति की सूचना मिली। उसके बाद क्या हुआ वह इतिहास-प्रसिद्ध है।

वास्तव में सिपाही-विद्रोह स्वयं अपने में अधिक महत्वपूर्ण नहीं था। उससे पहले बंगाल (१७६६), वेलौर (१८०६), पंजाब (१८४४) तथा अन्य स्थानों में ऐसे ही भयङ्कर विद्रोह हो चुके थे। किन्तु ये विद्रोह सीमित प्रदेश में हुए थे और उनके अन्तिम परिणाम के सम्बन्ध में किसी को सन्देह नहीं था। यद्यपि १८५७ का विद्रोह न तो समस्त भारतवर्ष में फैला, न अँगरेज़ों की नाविक-शक्ति के केन्द्र बन्दरगाहों को कोई क्षति पहुँची, न बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं ने उसमें भाग लिया और न उसने किसी विदेशी सत्ता का ही ध्यान आकृष्ट किया, तो भी वह पहले के विद्रोहों की अपेक्षा बड़े पैमाने पर हुआ और शुरू के कुछ महीनों तक अँगरेज़ों का भारत में रह सकना सन्दिग्ध दिखाई पड़ने लगा था। उसके फलस्वरूप अँगरेज़ी शासन की अनेक कमज़ोरियाँ सामने आईं जिन्हें दूर करने की चेष्टा में बाद की शासन-नीति में अनेक सुधार हुए। साथ ही उसके बाद भारतीय राजनीतिक व्यवस्था एवं नवीन शिक्षा के फलस्वरूप पश्चिमी विचारों के उत्तरोत्तर प्रचार से जीवन के अन्य क्षेत्रों पर व्यापक प्रभाव पड़े बिना न रह सका। जीवन की इन परिवर्तित परिस्थितियों के साथ साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

विद्रोह के कारणों के बारे में विभिन्न इतिहास-लेखकों के विभिन्न मत हैं। किन्तु स्थूल रूप से दो मत पाए जाते हैं—एक पश्चिमी इतिहास-लेखकों का मत और दूसरा भारतीय इतिहास-लेखकों का मत। पहले मत के अनुसार विद्रोह के पीछे भारतीय धर्मांधता का हाथ था और वह केवल सिपाही-विद्रोह था। कुछ पश्चिमी इतिहास-लेखकों का यह भी कहना है कि मुग़ल साम्राज्य की पुनर्स्थापना के लिए मुसलमान नेताओं ने पदच्युत हिन्दू राजाओं को आगे कर अपना कार्य सिद्ध करने की चेष्टा की। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि विद्रोह के पीछे दिमाग़ हिन्दुओं का था, लेकिन वाहबी आन्दोलन के विचारों से अनुप्राणित मुसलमानों ने प्रमुख भाग लिया। भारतीय लेखकों के अनुसार विद्रोह स्वतन्त्रता-संग्राम का प्रथम प्रयास था।

किन्तु इन दोनों पक्ष के लेखकों से मतभेद प्रकट किया जा सकता है; उनके मतों में केवल आंशिक सत्य है। सच बात तो यह है कि विद्रोह का कोई एक कारण नहीं था। वह १८५७ में ही हो जाने वाला एक विस्फोट मात्र नहीं था। उसके पीछे ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन का लगभग एक शताब्दी का इतिहास था। राजनीतिक, आर्थिक, सैनिक, धार्मिक, सामाजिक, आदि अनेक कारण थे जिनकी चरमता हमें डलहौज़ी द्वारा बरती गई नीति और नवीन वैज्ञानिक साधनों के प्रचार से उत्पन्न धार्मिक एवं सामाजिक प्रतिक्रिया में मिलती है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अशान्ति के विभिन्न कारणों का साक्षात् प्रकटीकरण सैनिक कारण द्वारा हुआ।

डलहौज़ी के समय में शिक्षा-सम्बन्धी उन्नति तो अच्छी हुई, किन्तु पंजाब, अवध, मध्य भारत के देशी राज्यों के सम्बन्ध में बरती गई उनकी नीति से असन्तोष फैला। जिस ढङ्ग से देशी राजाओं के राज्य एक-एक करके छीने जा रहे थे उससे सबको चिन्ता हो रही थी। अँगरेज़ लेखकों के मतानुसार डलहौज़ी को दोष नहीं दिया जा सकता। वे देशी राज्यों को हड़प लेना नहीं वरन् पश्चिम के प्रगतिशील प्रभाव के अन्तर्गत लाकर उन्हें ऊंचे सांस्कृतिक धरातल पर स्थित करना चाहते थे। किन्तु विद्रोह के बाद से आज तक का भारतीय इतिहास हमें यह बताता है कि कई देशी रियासतें सम्पन्नता और सुशासन तथा औद्योगिक वृद्धि की दृष्टि से ब्रिटिश भारत के किसी हिस्से से पीछे नहीं हैं। डलहौज़ी का ध्येय चाहे कुछ रहा हो, उनकी नीति से अन्सतोष अवश्य फैला और कुछ बड़े-बड़े अंगरेज़ अफ़सरों की अनुत्तरदायित्वपूर्ण बातों से वह और भी बढ़ा। वे भारतीय नरेशों के प्रति धृष्टतापूर्ण दुर्व्यवहार करते थे जो प्रजा को असह्य था। इतना ही नहीं कुछ अँगरेज़ अफ़सर भारतीय नरेशों का अस्तित्व मिटाने की बात स्पष्टतया कहा करते थे। मुग़ल साम्राज्य का पतन होते देख मुसलमान भी कम क्षुब्ध नहीं थे। डलहौज़ी के लौट जाने के बाद ही कैनिंग के समय में जो घटना हुई वह भविष्य में अँगरेज़ों और भारतवासियों के पारस्परिक सम्बन्ध के लिए घातक सिद्ध हुई। देशी राज्यों के मिटते हुए अस्तित्व से भारतीय नरेशों तथा अन्य राजनीतिक पदाधिकारियों को राजनीति तथा शासन-सम्बन्धी क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा का परिचय देने का अवसर ही नहीं रह गया था, वरन् इससे उनकी सामाजिक स्थिति को भी धक्का पहुँचा। विद्रोह से पाँच वर्ष पूर्व बम्बई के आइनैम (Inam) कमीशन की तथा अन्य आयोजनाओं के अन्तर्गत "दक्षिण की रियासतों तथा

अवध में अनेक ताल्लुक़ेदारों की रियासतों के ज़ब्त कर लेने से सामन्त वर्ग की निर्धनता बढ़ी। अवध तथा अन्य राज्यों के देशी सिपाहियों की आजीविका नष्ट हो जाने से उन्हें भी धनाभाव का कष्ट सहना पड़ा। इन्हीं कारणों से विद्रोह ने अवध में सबसे अधिक उग्र रूप धारण कर लिया था।

इसके अतिरिक्त पश्चिमी विचारों के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए प्रभाव से समाज में सांस्कृतिक आशंका का जन्म हो रहा था। जिस प्रकार ब्रिटिश आर्थिक नीति ने भारतीय उद्योग-धन्धे नष्ट कर दिए थे, उसी प्रकार पाश्चात्य शिक्षा तथा नवीन वैज्ञानिक आविष्कार कट्टर हिन्दुओं, प्रधानतः ब्राह्मणों, का अस्तित्व मिटाए दे रहे थे। गद्दीधारी ब्राह्मणों को अपनी सामाजिक स्थिति डाँवाडोल जँचने लगी थी। पश्चिमी बौद्धिक, वैज्ञानिक, नैतिक, भौतिक और सैनिक प्रभावान्तर्गत नवशिक्षित भारतवासियों के हाथों सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न होते देख समाज के नेता सशंकित हो उठे थे। बंगाल के नवशिक्षित भारतवासियों का परिचय सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने अपनी आत्म-कथा में दिया है। उसे देख कर कौन न सशंकित हो उठता—विशेष रूप से उस समय जब कि हिन्दी प्रदेश अभी पश्चिमी भावों और विचारों के साथ सामञ्जस्य स्थापित न कर सका था। ईसाई पादरियों के धर्म-प्रचार तथा कुछ सरकार की तरफ़ से की गई बातों से उत्तेजना बढ़ती ही जाती थी। डलहौज़ी के चले जाने के कुछ ही महीने बाद भारतीय सिपाहियों को समुद्र-यात्रा करने पर मजबूर किया गया। स्वयं डलहौज़ी के समय में शिक्षा और नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रचार सांस्कृतिक आशंका उत्पन्न करने के लिए काफ़ी था। भारतवासी गङ्गा पर पुल बँधते नहीं देख सकते थे। जिस समय कैनिंग आए उस समय यह अफ़वाह फैल गई थी कि वे भारतवर्ष को ईसाई धर्म में दीक्षित करने आ रहे हैं। सती, बालहत्या, विधवाओं, अपना धर्म छोड़ देने वाले हिन्दुओं के अधिकारों की रक्षा, आदि के सम्बन्ध में सरकारी नियमों ने प्रज्वलित अग्नि में घी का काम किया। और यह सब कुछ विद्रोह से पहले के सात आठ वर्षों में हुआ। यह वह समय था जब कि साधारण से साधारण और अशिक्षित कट्टर हिन्दू भी पश्चिमी प्रभाव के सम्पर्क में आया था। भारतीय इतिहास में ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था[1]। विलियम हंटर के

---

[1] सर विलियम ली-वार्नर: 'दि लाइफ़ ऑव दि मार्क्विस ऑव डलहौज़ी', जि० २, पृ० १७६

कथनानुसार मुग़ल साम्राज्य के पतन के कारण मुसलमानों को भी भारी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक क्षति उठानी पड़ी थी। वे भी उत्तेजित थे।

अँगरेज़ों की देशी सेना में ब्राह्मण और राजपूत बहुत थे। उनकी धार्मिक भावनाओं का ख्याल न रख उन्हें दूर-दूर लड़ने भेजना या समुद्र पार करने पर बाध्य करना या वर्ण-व्यवस्था-सम्बन्धी नियमों की अवहेलना करना, आदि कुछ बातें ऐसी थीं जिनसे सैनिक सशङ्कित हो उठे थे। अंत में चर्बी लगी कारतूसों से भयङ्कर विस्फोट हुआ। हिन्दी प्रदेश के बहुत बड़े भाग में आग की लपटें फैलीं। सामन्तों ने विद्रोह किया। राज्यभक्ति की भावना के वशीभूत हो कई स्थानों पर जनता ने भी सामंती विद्रोह में भाग लिया। भाग लेने वालों में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही थे। भारतवासियों को शासन में भाग न देना, अँगरेज़ी सरकार का भारतीय जनमत से पृथक रहना, रंग-भेद, आदि बातें भी ऐसी थीं जिनसे देश में असन्तोष फैला और जिनका उल्लेख सर सैयद अहमद ने ग़दर के कारणों पर लिखी गई 'असबाबे बग़ावत' नामक अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में किया है।

एक निश्चित ध्येय और संगठन तथा वैज्ञानिक साधनों के अभाव के कारण सैनिक और राजनीतिक दृष्टि से विद्रोह असफल रहा। किन्तु सामाजिक एवं धार्मिक गद्दीधारी नेताओं की दृष्टि से उसे बहुत-कुछ सफल मानना चाहिए। क्योंकि १८५७ के बाद पश्चिमी विचारों के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने का एक संगठित प्रयास पाया जाता है। यह ठीक है कि उस समय सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में न तो पश्चिम से प्रभावित अतिवादियों का अभाव था और न ऐसे व्यक्तियों का अभाव था जो भारतीयता के अनुकूल पश्चिम की अच्छी-अच्छी बातें अपना लेने के पक्ष में थे। किन्तु समाज में मध्यकालीन रूढ़ियों की शृंखला में जकड़े हुए व्यक्तियों की ही प्रधानता बनी रही। यही कारण है कि हिन्दी प्रदेश में ब्राह्म समाज जैसा कोई आन्दोलन जन्म न ले सका। विद्रोह के तुरन्त बाद ही महारानी विक्टोरिया के घोषणा-पत्र में उल्लिखित धार्मिक निष्पक्षता से सामाजिक एवं धार्मिक रूढ़िवादियों को ही अधिक प्रोत्साहन मिला। उस समय भारतेन्दु केवल सात वर्ष के थे। सात-आठ वर्ष बाद जब उन्होंने होश सँभाला, उस समय अँगरेज़ों की संगठित सैनिक शक्ति और वैज्ञानिक साधनों तथा कुछ देशी राजाओं एवं सेना की सहायता उन्हें विद्रोहियों पर पूर्ण विजय दिला चुकी थी। लोगों में आतङ्क छा गया था और अँगरेज़ों का राज्य चारों ओर फैल गया था।

डलहौज़ी ने भारतवर्ष के जिस उज्ज्वल भविष्य की आशा लगा रक्खी थी वह विद्रोह के कारण कुछ दिनों के लिए तिमिराच्छन्न दिखाई देने लगा था। कैनिंग ने अपना पद स्वीकार करते समय भारतीय राजनीतिक गगन में विपत्ति के काले बादलों की आशङ्का प्रकट की थी। उनकी आशङ्का ने सत्य का रूप ग्रहण किया। विद्रोह हुआ तो एक सीमित प्रदेश में था, किन्तु उसका प्रभाव समस्त देश की शासन-नीति पर पड़ा। यह नवीन शासन-नीति राजा-महाराजाओं और बड़े-बड़े ज़मींदारों के लिए विशेष रूप से हितकर सिद्ध हुई। अँगरेज़ सरकार ने उन्हीं के माध्यम द्वारा जनता को वश में रखने की नीति ग्रहण की। साथ ही सरकार की नीति के फल-स्वरूप कुछ ऐसे वर्ग उत्पन्न हुए जिनका हित ब्रिटिश साम्राज्य के साथ जुड़ा हुआ था। इन नवजात वर्गों को एक दूसरे से लड़ा कर तथा भेद-नीति से काम लेकर अँगरेज़ों ने अपने साम्राज्य की नींव दृढ़ बनाई। इंडियन सिविल सर्विस में भारतवासियों की नियुक्ति होने लगी। ये भारतीय कर्मचारी भी अँगरेज़ों पर निर्भर थे। विद्रोह के बाद सरकारी नौकरियों का भारतीयकरण अवश्य प्रारम्भ हो गया था, किन्तु ख़ास-ख़ास और बड़ी-बड़ी सरकारी नौकरियों पर अँगरेज़ ही रक्खे जाते थे। इस भारतीयकरण की पद्धति से अँगरेज़ों को बहुत मदद मिली। सरकारी नौकरी के फलस्वरूप मिलने वाली प्रतिष्ठा के मोह से नवशिक्षित भारतवासियों के उधर आकृष्ट होने से सांस्कृतिक जीवन के महत्त्वपूर्ण अङ्गों को भारी क्षति पहुँची और कुछ दिनों बाद बेकारी भी फैली। भारतीय सेना का भी वर्ग-भेद की दृष्टि से पुनर्निर्माण हुआ तथा भारतवासियों और अँगरेज़ सिविल कर्मचारियों के पारस्परिक सम्बन्ध में पहले से भी अधिक अन्तर हो गया।

विद्रोह की अग्नि शान्त हो जाने के बाद अगस्त, १८५८ में ब्रिटिश पार्लियामेंट ने 'ऐक्ट फ़ॉर दि बेटर गवर्नमेंट ऑव इंडिया' स्वीकार किया और भारतवर्ष का शासन-प्रबन्ध इँगलैंड के मन्त्रि-मण्डल के माध्यम द्वारा वहाँ के बादशाह के अधीन हो गया। वास्तव में यह ऐक्ट तो एक ज़ाब्ते की कार्रवाई थी। नहीं तो १८५३ के बाद से ही शासन की बागडोर कंपनी के डाइरेक्टरों के हाथ से निकल कर धीरे-धीरे इँगलैंड के बादशाह के प्रतिनिधियों के हाथ में जा रही थी। १८५७ में साम्राज्यवादी पामर्सटन इँगलैंड के प्रधान मन्त्री थे। उसी साल उन्होंने भारतीय शासन अपने मन्त्रि-मण्डल के हाथ में लेने के लिए कोर्ट के सभापति को लिखा था। किन्तु इस विषय के निश्चित होने से पहले ही उनका मन्त्रि-मण्डल टूट गया। यह क्रम १८५८ में लॉर्ड

डर्बी के हाथों पूर्ण हुआ। कंपनी के सभापति की जगह भारत सचिव की नियुक्ति से दुहरा शासन-प्रबन्ध खत्म हो गया। यह भारत सचिव इँगलैंड के मन्त्रि-मण्डल का भी सदस्य होता था। उसकी सहायता के लिए इंडिया कौंसिल की स्थापना हुई। इस प्रकार एक शिलिंग खर्च हुए बिना ही भारतीय साम्राज्य कंपनी के हाथ से निकल कर इँगलैंड के बादशाह के प्रतिनिधि, मन्त्रि-मण्डल, के हाथ में चला गया। इस परिवर्तन में कंपनी और मन्त्रि-मण्डल के बीच जो आर्थिक समझौता हुआ उसका भार भारतवर्ष पर पड़ा। भारतवर्ष अब तक उस कर्ज़ को चुकाता आ रहा है और जो देश की निर्धनता का एक बहुत बड़ा कारण है। ऐक्ट में इस बात का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है कि भारत का धन उसकी सीमाओं से बाहर व्यय नहीं किया जायगा। किन्तु मिश्र, ऐबीसीनिया, अफ़ग़ानिस्तान, ब्रह्मदेश (बर्मा), आदि युद्धों के समय उस विधान की बराबर अवहेलना की गई। वास्तव में भारतवासी ऐक्ट की धाराओं से सदैव अनभिज्ञ रहे। वे तो केवल यही जानते थे कि महारानी विक्टोरिया ने भारतीय शासन अपने हाथ में ले लिया है। १ नवंबर, १८५८ को नई शासन-व्यवस्था की घोषणा हुई। लॉर्ड कैनिंग (१८५६-१८६१) पहले वाइसरॉय तथा गवर्नर-जनरल नियुक्त हुए। उसी दिन महारानी विक्टोरिया का घोषणा-पत्र पढ़ा गया। उसमें उन्होंने शासन की ओर से 'उदारता, दया और धार्मिक सहिष्णुता' प्रकट की है। घोषणा-पत्र से उनके आदर्श प्रेम की झलक मिलती है। और यद्यपि इँगलैंड की शासन-व्यवस्था और नीति वहाँ के मन्त्रि-मण्डल और व्यापारियों के हाथ में थी, तो भी भारतीय जनता पर घोषणा-पत्र का अच्छा प्रभाव पड़ा; उसमें नवीन आशा और उत्साह का संचार हुआ। ब्राह्मणों ने यज्ञोपवीत हाथ में लेकर कहा था—'महारानी चिरजीवी हों'।

विद्रोह के बाद प्रथम उन्नीस वर्षों में अर्थात् कैनिंग (१८५६-१८६१), ऐल्गिन (१८६२-१८६३), लॉरेंस (१८६४-१८६६), मेयो (१८६६-१८७२) और नॉर्थब्रुक (१८७२-१८७६) के समय में एक प्रकार से शांति बनी रही और अनेक शासन-सम्बन्धी सुधार हुए। यूरोप में क्रीमिया युद्ध के बाद लॉर्ड पामर्सटन को शांति-पूर्ण नीति का व्यवहार करने के लिए बाध्य होना पड़ा था। १८६० में इटली स्वतंत्र हो गया था। गृह-युद्ध का अंत होने पर अमरीका के संयुक्त राज्य की स्थापना हो चुकी थी। १८६५ में पामर्सटन की मृत्यु के बाद डिज़्राइली और ग्लैड्स्टन ने इँगलैंड में अनेक सुधार किए। इँगलैंड की शान्तिपूर्ण और सुधारवादी नीति का प्रभाव

भारतीय शासन-व्यवस्था पर पड़े बिना न रह सका। विद्रोह के बाद कैनिंग ने दमन-नीति न बरत कर दूरदर्शिता से काम किया। बैंटिंक के बाद सम्भवतः उन्हीं के समय में सबसे अधिक महत्वपूर्ण सुधार हुए। उन्होंने कृषि-सुधार की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया। १८५७ में बम्बई, मद्रास और कलकत्ता विश्वविद्यालयों की स्थापना द्वारा पाश्चात्य शिक्षा का और भी अधिक प्रचार हुआ। जनता ने इस नवीन शिक्षा-प्रणाली का स्वागत किया। सेना, पुलीस और आर्थिक-व्यवस्था का पुनर्निर्माण प्रारम्भ हुआ और १८६१ में 'इंडियन कौंसिल ऐक्ट' के अनुसार वाइसरॉय की कार्यकारिणी समिति के सदस्यों की संख्या पाँच कर दी गई। इसी वर्ष सुप्रीम कोर्ट और सदर अदालतों का भेद उठा कर हाईकोर्ट स्थापित किए गए और ज़ाब्ता दीवानी, ताजीरात हिन्द और ज़ाब्ता फ़ौजदारी भी जारी हुए। ऐल्गिन ने कैनिंग की नीति बदस्तूर जारी रक्खी, किन्तु उनके समय में कोई महत्वपूर्ण सुधार न हुआ। सर जॉन लॉरेंस प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। उनके समय में कुछ बातें तो ऐसी हुईं जिनसे भारतवर्ष को लाभ हुआ, किन्तु साथ ही कुछ बातें ऐसी हुईं जो आर्थिक दृष्टि से अनिष्टकारी सिद्ध हुईं। भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा के सम्बन्ध में उन्होंने जो नीति ('मास्टरली इनऐक्टिविटी') ग्रहण की वह राजनीतिक तथा आर्थिक दृष्टि से लाभदायक सिद्ध हुई। १८६४ में उन्होंने लाहौर-दरबार किया और पंजाब तथा अवध में कृषि-सम्बन्धी अनेक सुधार किए। इन सूबों में वे इस्तमरारी बन्दोबस्त भी जारी करना चाहते थे, किन्तु इसमें उन्हें असफलता मिली। बड़े-बड़े शहरों में उन्होंने चुंगियाँ स्थापित कीं। भूटान युद्ध होने पर भी उन्होंने सेना-सम्बन्धी व्यय बहुत कम कर दिया था। किन्तु १८६७ में ऐबीसीनिया युद्ध के व्यय का भार भारतीय कोष पर डाल दिया गया। लॉरेंस ने इसका प्रबल विरोध किया, किन्तु उनकी एक न चली और भारत का कर्ज़ और भी बढ़ गया। ऐबी-सीनिया युद्ध से एक वर्ष पूर्व उड़ीसा में दुर्भिक्ष पड़ चुका था और १८६७ में हैज़े का प्रकोप भी हुआ। इन बातों से जनता की मुसीबतें काफ़ी बढ़ गईं।

जिस समय मेयो ने शासन-भार ग्रहण किया उस समय भारतवासियों को ऊँची-ऊँची सरकारी नौकरियाँ नहीं मिलती थीं। तो भी मेयो को जिन अँगरेज़ों का साहचर्य प्राप्त था वे विद्वान् थे और भारतवासियों के प्रति सहानुभूति रखते थे। मेयो के शासन के प्रारम्भिक काल (१८६६) में ही उत्तर भारत में भारी दुर्भिक्ष पड़ा। आर्थिक दृष्टि से उनका शासन-काल

अच्छा नहीं कहा जा सकता। कर्ज़ की वृद्धि, रेलों पर किए गए अपव्यय और अन्त में मेयो की विकेन्द्रीकरण की आयोजना (१८७०) से भारतीय जनता का आर्थिक बोझ हल्का होने के बजाय और बढ़ा। विकेन्द्रीकरण की आयोजना से पहले केन्द्रीय सरकार सब प्रान्तों को आर्थिक सहायता देती थी। इस आयोजना के अन्तर्गत जो प्रान्त जितनी अधिक और ज़ोरों के साथ माँगें पेश कर सकता था वह उतना ही अधिक धन पाने में सफल हो जाता था। विकेन्द्रीकरण आयोजना के अन्तर्गत प्रत्येक प्रान्त को निश्चित कोष देने की व्यवस्था की गई। किन्तु इस निश्चित कोष से विभिन्न प्रान्तों की आवश्यकताओं की पूर्ति होने में कठिनाई पड़ती थी। इसलिए अनेक नए-नए प्रान्तीय कर लगाए गए। १८५५ और १८६४ में पैदावार का ½ हिस्सा लिया जाता था। मेयो की आयोजना के अन्तर्गत पैदावार का ½ से अधिक हिस्सा लिया जाने लगा। आर्थिक दृष्टि से उसका परिणाम अच्छा न हुआ। लॉरेंस के सामने भी विकेन्द्रीकरण की समस्या उपस्थित हुई थी, किन्तु उन्होंने उसे अहितकर समझ कर स्वीकार नहीं किया था। शासन-सम्बन्धी अन्य क्षेत्रों में मेयो ने उदार और शांतिपूर्ण नीति का अवलम्बन ग्रहण किया और उत्तर-पश्चिमी सीमा के सम्बन्ध में लॉरेंस की नीति बनाए रक्खी। १८७० में ड्यूक ऑव एडिनबरा भारतवर्ष आए। नॉर्थब्रुक ने भी बहुत कुछ लॉरेंस की नीति अपनाई। किन्तु आर्थिक दृष्टि से भारतीय जनता की दशा उत्तरोत्तर बिगड़ती जा रही थी। १८७४ में बंगाल में दुर्भिक्ष पड़ा। ब्रिटिश साम्राज्यवादी राजनीतिक नेता रूस के भय से भारत के सीमान्त प्रदेश के सम्बन्ध में अपनाई गई अब तक की नीति बदल देना चाहते थे। नॉर्थब्रुक क्योंकि लॉरेंस के विचारों के समर्थक थे, इसलिए वे अपना पद त्याग कर इँगलैंड वापिस चले गए। १८७५ में प्रिंस ऑव वेल्स (सप्तम एडवर्ड) भारत पधारे। दुर्भिक्ष-पीड़ितों की रक्षा के लिए नियम नॉर्थब्रुक के समय में ही बने, यद्यपि १८५८ से नार्थब्रुक के समय तक भारतवासियों को आर्थिक दृष्टि से तो कोई लाभ न हुआ, तो भी शासन-सम्बन्धी क्षेत्र में अनेक अच्छे-अच्छे सुधार हुए और एक प्रकार से शान्तिपूर्ण वातावरण बना रहा। किन्तु उनके बाद लिटन के समय से भारतवर्ष में साम्राज्यवादी नीति का नग्न रूप हमारे सामने आता है। एक ओर यदि जनता की आर्थिक अवस्था बिगड़ती गई तो दूसरी ओर उसमें राजनीतिक असन्तोष बढ़ता गया।

लिटन (१८७६-१८८०) जिस समय भारतवर्ष आए उस समय इँगलैंड में ग्लैडस्टन का मन्त्रि-मण्डल टूट चुका था और कंज़रवेटिव दल

के हाथ में शक्ति आ गई थी। अमरीका, फ्रांस, जर्मनी, और रूस शक्ति तथा अर्थ-सञ्चय की दृष्टि से एशिया और अफ्रीका की तरफ़ बढ़ रहे थे। उस समय एक शक्तिशाली वैदेशिक नीति और राज्य-विस्तार की आवश्यकता थी। लिटन की प्रतिक्रियावादी नीति इसी भावना से ओतप्रोत थी। दूसरे, इँगलैंड और भारत के बीच आने-जाने की सुगमता तथा तारों का प्रबन्ध हो जाने के कारण इँगलैंड तथा भारत की सरकारों के सम्बन्ध में भी कुछ अन्तर हो चला था। भारतीय राज-काज में अब तक तो वाइसरॉय का बहुत बड़ा हाथ था, लेकिन अब देश की शासन-नीति सीधे इँगलैंड से निर्धारित की जाने लगी। नॉर्थब्रुक ने इस परिवर्तन के कुछ आसार देखे थे। लिटन और रिपन के समय में यह बात पूरी हो गई। भारतीय सरकार की ज़िम्मेदारी इससे और भी बढ़ गई। आने-जाने की सुगमता हो जाने के कारण दोनों देशों का पारस्परिक सांस्कृतिक सम्बन्ध भी घनिष्ठ होता गया। इँगलैंड और यूरोप की बनी हुई चीज़ें धड़ाधड़ देश में खपने लगीं। यहाँ के सामाजिक विचारों में परिवर्तन होने के साथ-साथ पश्चिमी विचारधारा का प्रभाव भी यहाँ के जन-समुदाय, विशेषकर अँगरेज़ी पढ़े-लिखे लोगों पर, प्रबल वेग से पड़ने लगा।

१८७५ में प्रिन्स ऑव वेल्स के भारतागमन से लाभ उठाकर और प्रशा (Prussia) में बिस्मार्क द्वारा बरती गई नीति का अनुकरण कर लिटन ने आते ही १८७७ के दिल्ली-दरबार में विक्टोरिया को सम्राज्ञी घोषित किया। विक्टोरिया का सम्राज्ञी घोषित किया जाना इँगलैंड और भारत के बीच परिवर्तित परिस्थिति का स्पष्ट प्रतीक था। कंज़रवेटिव इँगलैंड की इस नीति ने शिक्षित भारतवासियों को सशङ्कित बना दिया। क्योंकि उसकी नई नीति का साफ़ मतलब यही था कि भारतवर्ष अब साम्राज्यवादी इँगलैंड का उपनिवेश मात्र था, दोनों के बीच बराबर का दर्जा न रह गया था, और भारत में इँगलैंड का साम्राज्य तलवार के ज़ोर पर अवलम्बित था। भारतवर्ष और इँगलैंड के समस्त हित-साधनों में जो सामञ्जस्य उपस्थित किया जाता था वह अब न रह गया। भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्णदास, 'प्रेमघन', आदि की रचनाओं में इस परिवर्तन नीति के स्पष्ट संकेत मिलते हैं। लिटन ने यह दरबार भी उस समय किया जब कि भारत में भारी दुर्भिक्ष (१८७७-७८) पड़ रहा था और जिससे जनता में रोष की भावना फैली। दुर्भिक्ष के साथ-साथ नई साम्राज्यवादी नीति का अन्त अफ़ग़ान युद्ध (१८७८) में हुआ जिससे भारतीय आर्थिक व्यवस्था को ज़बरदस्त आघात

पहुँचा । १८८० में द्वितीय अफ़ग़ान युद्ध की नौबत आ गई थी। किन्तु सौभाग्यवश उसी समय कंज़रवेटिव मन्त्रि-मण्डल के टूट जाने से लिटन भी इस्तीफ़ा देकर इँगलैंड चले गए। लिटन ने जो धन अफ़ग़ान युद्ध तथा अन्य प्रतिक्रियावादी आयोजनाओं पर ख़र्च किया, वह जनता की भलाई के लिये ख़र्च किया जा सकता था।

विद्रोह से कुछ ही पहले देशी भाषाओं के समाचारपत्रों की स्वाधीनता पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। विद्रोह के दौरान में कैनिंग ने पत्रों की स्वाधीनता का अपहरण कर लिया था। सम्पादकों ने भारत-सरकार की इस दमन-नीति का घोर विरोध किया। जनता में असन्तोष फैलने के कारणों की देशी पत्रों में तीव्र आलोचना की जाती थी। इस पर १८७८ में लिटन ने 'वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट' बनाया जिससे समाचारपत्रों की स्वाधीनता छीन ली गई। देश ने उसका घोर विरोध किया, परन्तु लिटन ने किसी की न सुनी। वास्तव में उनका शासन-काल साम्राज्यवाद की प्रतिक्रियावादी नीतियों के फलस्वरूप जनता में कष्ट और असन्तोष फैलने का एक ज्वलन्त उदाहरण है।

रिपन (१८८०-१८८४) १८८० में ग्लैड्सटन के उदार मन्त्रि-मण्डल के प्रतिनिधि होकर आए, इसलिए कुछ समय के लिए इँगलैंड की घोर साम्राज्यवादी नीति नियन्त्रित हो गई थी। रिपन ने शीघ्र ही अफ़ग़ान युद्ध बन्द कर भारत को आर्थिक भार से मुक्त किया। उनके समय में भारत में शान्ति स्थापित रही। यद्यपि भारत को अफ़ग़ान युद्ध का व्यय सहन करना पड़ा था, तो भी रिपन ने भारतीय आर्थिक व्यवस्था सुधारने का प्रयत्न किया। उन्होंने 'प्रेस ऐक्ट' के अन्याय का अनुभव किया और बड़ी कुशलतापूर्वक उसे रद्द कर दिया। उनके इस कार्य का देश में अच्छा स्वागत हुआ। किसानों के लिए भी उन्होंने कई अच्छे विधान प्रस्तुत किए। १८८१ में उन्होंने मैसूर राज्य भारतीय शासक के हाथ सौंप दिया। रिपन के शासन-काल की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उन्होंने भारतवासियों को शासन के अधिकाधिक निकट लाने की चेष्टा की और उनकी राजनीतिक शिक्षा की नींव डाली। उनका निश्चित मत था कि धीरे-धीरे भारतवासियों को स्वशासन में भाग देना चाहिए। इस उद्देश्य से प्रेरित होकर उन्होंने १८८२ में स्थानीय स्वायत्त शासन स्थापित करने का प्रबन्ध किया। उन्होंने बोर्डों के मेम्बरों के चुनाव पर अधिक ज़ोर दिया ताकि कोई बाहरी पदाधिकारी अधिक हस्तक्षेप न कर सके। वे अँगरेज़ी संस्थाओं का महत्त्व वरन् पाश्चात्य

प्रणाली की एक व्यवस्था की नींव डालना चाहते थे। परन्तु इस कार्य में उन्हें अधिक सफलता न मिल सकी। कुछ तो उन्हें भारतवासियों की ओर से पूरा-पूरा सहयोग न मिला; दूसरे, प्राचीन भारतीय संगठन के नष्ट हो जाने पर अँगरेज़ अफ़सरों में उसके पुनरुद्धार करने का साहस न रह गया था। फिर भी लॉर्ड रिपन की इस उदार नीति के कारण देशवासी उन्हें स्नेह और आदर की दृष्टि से देखने लगे थे। भारतेन्दु तथा उनके कई सहयोगियों ने रिपन के सम्बन्ध में अष्टकादि की रचना की। इलबर्ट बिल (१८८३) आन्दोलन उनके शासन-काल की दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना है जिसने भारतवासियों में राजनीतिक चेतना उत्पन्न की। रिपन एक अत्यन्त लोकप्रिय वाइसरॉय सिद्ध हुए।

किन्तु ब्रिटिश साम्राज्य की यह उदार नीति बहुत दिन तक न चल सकी। ग्लैड्स्टन मन्त्रि-मण्डल के १८८५ के पद-त्याग के बाद लॉर्ड सैलिस्बरी का कंज़रवेटिव मन्त्रि-मण्डल स्थापित हो गया था। यह मन्त्रि-मण्डल, केवल फ़रवरी से जुलाई, १८८६ और १८९२-९५ के थोड़े-से समय को छोड़ कर, १९०२ तक रहा। इस बीच में डफ़रिन (१८८४-१८८८), लैंसडाउन (१८८८-१८९३), ऐल्गिन (१८९३-१८९८) और कर्ज़न (१८९८-१९०५) के शासन-काल में साम्राज्यवादी नीति खूब फूली-फली। बर्मा-युद्ध (१८८५) और डफ़रिन, लैंसडाउन तथा ऐल्गिन की सीमान्त प्रदेश-सम्बन्धी नीति के फल-स्वरूप देश का आर्थिक भार पहले से भी कहीं अधिक बढ़ गया। रेलों पर उधार लेकर रुपया खर्च किया गया। सैनिक-व्यय में भी वृद्धि हुई।[1] डफ़रिन के समय में नवशिक्षित भारतवासियों की राजनीतिक तथा आर्थिक आकांक्षाओं और इलबर्ट बिल आन्दोलन में ऐंग्लो-इंडियनों के संगठन की सफलता तथा नवीन वैज्ञानिक शक्तियों के फलस्वरूप १८८५ में इंडियन नैशनल कॉंग्रेस का जन्म हुआ। डफ़रिन स्वयं कॉंग्रेस के उद्देश्यों के विरोधी नहीं थे। वे चाहते थे कि भारतवासियों को शासन-व्यवस्था में

---

[1] मौलवी मज़हर अली सँडीलवी ने अपनी डायरी (१८६७-१९११) में लिखा है कि डफ़रिन ने यद्यपि अनेक युद्धों में विजय प्राप्त की किन्तु प्रजा को कोई लाभ न हुआ। सिक्किम, हज़ारा, आदि के युद्धों से जनता की परेशानी बढ़ी और टैक्स लगे। डफ़रिन के समय में ही ऐक्ट लगान अवध या १८८६ का ऐक्ट नं० २२ बना जिससे ज़मींदारों को भी बेअख़्तियारी हो गई और 'बाब बेदख़ली काश्तकारान मुताल्लिक़ मसदूर हुआ'।—'उर्दू', अप्रैल, १९२९

भाग दिया जाय। किन्तु उन्हें सफलता न मिल सकी थी। १८६२ का 'इंडिया कौंसिल्स ऐक्ट' उन्हीं के विचारों का परिणाम था। लैंसडाउन लिटन की भाँति घोर प्रतिक्रियावादी थे। बीच में शक्ति-सम्पन्न उदार दल से भारतवासियों ने कुछ आशा लगा रक्खी थी, किन्तु अन्त में उन्हें निराश होना पड़ा। वास्तव में उस समय चीन और दक्षिण अफ्रीका यूरोप की प्रतिद्वन्द्वी शक्तियों के संघर्ष-केन्द्र बने हुए थे। ऐसे अशान्तिपूर्ण वातावरण में जॉर्ज हैमिलटन जैसे व्यक्ति १८६५ से १६०३ तक भारत सचिव थे। उन्हें भारतवासियों और उनकी आकांक्षाओं के प्रति बिल्कुल सहानुभूति नहीं थी। परिणाम यह हुआ कि भारत में युद्धों (सीमान्त प्रदेश में), दुर्भिक्षों (१८६६, १८६७, १८६६, १६००) और महामारियों (बम्बई, कानपुर, आदि शहरों में प्लेग, हैज़ा, आदि) का प्रकोप रहा। प्लेग-सम्बन्धी कठोर नियमों से असन्तोष फैला। नित्य नए कर लगाए गए। उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिए किसी ने ध्यान न दिया। प्रान्तीय भेद-भाव बढ़ाया गया। ग़ैर-सरकारी शिक्षा-संस्थाओं के प्रति उदासीनता का भाव ग्रहण किया गया। किसानों को अनेक प्रकार की यातनाएँ सहन करनी पड़ीं। प्रेस, प्रतिनिधि संस्थाओं, राष्ट्रीय तथा स्वतन्त्र विचारों, आदि का दमन किया गया। काले-गोरे के भेदभाव के अन्तर्गत भारतवासियों के लिए बहुत कम ऊँची सरकारी नौकरियाँ रहने दी गईं। सरकारी नौकरियों के लिए नामज़द करने की प्रथा भी भारतवासियों को न रुची। इससे पहले न तो जनता को इतनी यातनाएँ सहन करनी पड़ी थीं और न शासन ही इतना अन्यायपूर्ण और अत्याचारपूर्ण था।

अस्तु, राजनीतिक दृष्टि से उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम तीस वर्ष प्रगति और समृद्धि के वर्ष नहीं कहे जा सकते। वैसे तो प्रायः प्रत्येक गवर्नर-जनरल ने शासन-सम्बन्धी सुधार किए जिनसे सुव्यवस्थित शासन-प्रणाली की नींव पड़ी।[1] किन्तु उनकी वैदेशिक नीति के फलस्वरूप इस सुव्यवस्था का महत्व बहुत कुछ कम हो जाता था। गवर्नर-जनरलों में रिपन का समय स्वर्ण-युग कहा जा सकता है। इन पिछले तीस वर्षों में 'स्थानीय स्वायत्त शासन ऐक्ट' (१८८२) और 'इंडिया कौंसिल्स ऐक्ट' (१८६२) ही दो महत्वपूर्ण सुधार

---

[1] मौलवी मज़हर अली सँदीलवी ने अपनी डायरी (१८६७-१६११) में लिखा है कि अँगरेज़ बड़ी ख़ूबी के साथ शासन करते और थोड़ी फ़ौज की मदद से शान्ति बनाए रखते हैं।—वही

कहे जा सकते हैं। अँगरेज़ों ने राजनीतिक दृष्टि से भारत की एकता स्थापित की और पाश्चात्य सभ्यता के प्रचार से नवीन वैज्ञानिक शक्तियों और विचारों को जन्म दिया। इन नवीन शक्तियों और विचारों की प्रेरणा से बहुत शीघ्र ही अखण्ड भारत और उसकी 'स्वतन्त्रता' की समस्या उठ खड़ी हुई। किन्तु नवजात आन्दोलन को ज़ोर पकड़ते देख स्वयं अँगरेज़ों ने भारतीय राजनीतिक जीवन को भिन्न-भिन्न परस्पर विरोधी टुकड़ियों में बाँट कर राष्ट्रीय शक्ति को छिन्न-भिन्न करने की चेष्टा की। उन्होंने देशी रियासतों, ज़मींदारों और समाज के प्रतिक्रियावादी वर्गों की सहायता लेकर भेद-नीति अपनाई।[1] उनकी इसी राजनीतिक तथा आर्थिक भेद-नीति के कारण हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य भी दिन-पर-दिन बढ़ता गया। प्रतिक्रियावादी वर्गों को आश्रय देने से अनेक सामाजिक एवं धार्मिक कुरीतियाँ ज्यों-की-त्यों बनी रहीं। ऐसी अनेक कुरीतियों की अँगरेज़ पहले स्वयं निन्दा कर चुके थे। इस

---

[1] मौलवी मज़हर अली सँदीलवी की डायरी (१८६०-१९११) के अनुसार हमें यह ज्ञात होता है कि सरकार ने कॉंग्रेस के विरुद्ध राजाओं, नवाबों, ज़मींदारों और ताल्लुक़ेदारों को आगे बढ़ाया था। मौलवी साहब ने जुलाई, १८८८ में कॉंग्रेस के ख़िलाफ़ एक मीटिंग का उल्लेख किया है। इस मीटिंग में नवाब, राजा, ताल्लुक़ेदार ही अधिक थे, जैसे, राजा दुर्गाप्रसाद, कुँवर नरेन्द्र बहादुर, महाराज शिवसहाय, आ.दि। कुछ रईस भी उस मीटिंग में उपस्थित थे, जैसे, लछमन प्रसाद व जाबता प्रसाद बज़ाज़। उपस्थित सज्जनों में से कुछ ने व्याख्यान दिए और कई प्रस्ताव स्वीकार हुए। स्वीकृत प्रस्ताव 'पायनियर', 'आज़ाद' और 'एक्सप्रेस' नामक समाचारपत्रों में प्रकाशनार्थ भेज दिए गए थे। इसी प्रकार एक और मीटिंग २२ नवंबर, १८८८ को लखनऊ की बारादरी में हुई थी। कुँवर प्रणामसिंह, सी० आई० ई०, ऑनरेरी मजिस्ट्रेट की तरफ़ से पत्र-व्यवहार किया गया था। वे अंजुमन-इ-हिन्द ताल्लुक़ेदारान हिन्द के ऑनरेरी सेक्रेटरी थे। ५ नवंबर को तै हुआ था कि मीटिंग 'अहले हिन्द व अहले इस्लाम व दीगर मज़ाहिब व अक़वाम ख़ैरख़्वाहान-इ-मुल्क व इँगलिश गवर्नमेंट व दीगर मक़ासिद मुफ़ीद' की ओर से की जावे और 'इंडियन युनाइटेड पैट्रियोटिक कमेटी की तरतीब भी अमल में आवे'। लखनऊ कॉंग्रेस (२७-२९ दिसंबर, १९००) के अवसर पर हरदोई के डिप्टी कमिश्नर, फ़ाक्स साहब, ने पुलिस के ज़रिए पता लगवाया था कि सँडीले के किन-किन रईसों ने कॉंग्रेस में भाग लिया।—वही

प्रकार नए-नए सुधारवादी आन्दोलनों का जितना प्रभाव होना चाहिए था उतना प्रभाव न हो सका। हिन्दू धर्मशास्त्र को भी, जो समय-समय पर बदलता रहता था, 'हिन्दू-लॉ' के नाम से एक स्थिर रूप दे देने से भी प्रतिक्रियावादी शक्तियों को आश्रय मिला। परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार सुधारवादी आन्दोलनों के कारण जनता का ध्यान समाज-सुधार की ओर भी आकृष्ट होने लगा था। वैसे तो अँगरेज़ सरकार सामाजिक तथा धार्मिक सुधारों के मामले में चुप रहती थी, लेकिन लोकमत के दबाव से उसे भी कभी-कभी इस ओर क़दम बढ़ाना पड़ता था। १८४६ में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के आन्दोलन के फलस्वरूप सरकार १८५६ में विधवा-विवाह सम्बन्धी क़ानून पास कर चुकी थी। उसके अनुसार विधवा-विवाह जायज़ क़रार दे दिया गया था। १८६१ में सहवास-क़ानून (Age of Consent Act) बनाया गया था। किन्तु ये क़ानून केवल क़ानून ही रह गए, व्यावहारिक दृष्टि से उनसे कोई लाभ न हुआ। सरकार उनके व्यवहार में लाने पर ज़ोर भी नहीं देना चाहती थी।

अँगरेज़ शासकों की नीति के प्रतिक्रियात्मक परिणाम के अतिरिक्त उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में नवशिक्षा, समस्त देश में एक भाषा—अँगरेज़ी—और वैज्ञानिक ज्ञान तथा साधनों के प्रचार तथा समस्त देश में राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना से भारतवासियों में राजनीतिक चेतना का प्रादुर्भाव हुआ; उनमें राष्ट्रीय भावना पैदा हुई जिसका प्रकटीकरण पहले ब्रिटिश इंडियन ऐसोसिएशन और फिर नैशनल काँग्रेस के माध्यम द्वारा हुआ। आयरलैंड, रूस, ईथ्योपिया, चीन, जापान के तथा सार्वभौम इस्लाम, आदि आन्दोलनों से उस भावना को प्रोत्साहन मिला। यह राष्ट्रीय चेतना राजनीतिक क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी और अभूतपूर्व बात थी। जिन कारणों से राष्ट्रीय चेतना का जन्म हुआ था उन्हीं तथा अन्य अनेक कारणों से धार्मिक तथा सामाजिक सुधारवादी आन्दोलनों का जन्म हुआ। ज्यों-ज्यों अँगरेज़ सरकार ने भारतीय प्रगति के मार्ग में रुकावटें डालीं, त्यों-त्यों राजनीतिक असन्तोष बढ़ता ही गया। प्रारम्भ में तो 'स्वतन्त्रता' का तात्पर्य अँगरेज़ी साम्राज्य में रहते हुए इँगलैंड तथा अन्य उपनिवेशों के साथ बराबरी का पद अथवा औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त करना था। किन्तु राजनीतिक असन्तोष बढ़ने के साथ-साथ एक दल ऐसा उत्पन्न हुआ जो इँगलैंड से सम्बन्ध-विच्छेद कर भारत के स्वतन्त्र राजनीतिक अस्तित्व का समर्थक था; उसे वैध आन्दोलन में कोई विश्वास नहीं था। प्रारंभ में काँग्रेस सामाजिक सुधारों में भी दिलचस्पी लेती थी,

किन्तु धीरे-धीरे राजनीति ही उसका मुख्य कार्यक्रम रह गया। लोकमान्य बाल-गंगाधार तिलक के सार्वजनिक क्षेत्र में पदार्पण करने से भारतीय राजनीतिक विचारधारा में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। उन्होंने विदेशी शासकों के प्रति उग्र विचारों का प्रचार किया। आलोच्य काल के हिन्दी साहित्य में यह विचारधारा पहले से ही मिलती है, पर तिलक के आन्दोलन से वह और भी बलवती हो उठी। इस समय से राष्ट्रीयता ने उग्र रूप धारण करना शुरू कर दिया था। किन्तु उन्नीसवां शताब्दी उत्तरार्द्ध में उदारवादी राजनीतिक विचारों का प्राधान्य रहा। उदार विचारों के समर्थकों का अँगरेज़ी राज्य के आदर्शों में विश्वास था और वे नवशिक्षा प्रदान करने, देश में शान्ति स्थापित तथा विदेशी आक्रमणकारियों से देश को सुरक्षित रखने, रेल, तार, डाक, प्रेस, आदि नवीन वैज्ञानिक साधनों का प्रचार करने, आदि बातों के लिए अँगरेज़ों के कृतज्ञ थे। उस समय भारतवासियों के लिए राष्ट्रीय भावना व्यक्त करने के दो मार्ग थे। एक तो धार्मिक क्षेत्र और, दूसरा, काँग्रेस द्वारा राजनीतिक क्षेत्र। पिछले कलह और अशान्तिपूर्ण वातावरण से जनता ऊब उठी थी। इसलिए जब अँगरेज़ों के राज्य-स्थापन के बाद प्रत्यक्षत: कुछ शान्ति दिखाई दी तो देश को साँस लेने का कुछ अवसर मिला। भारतवासियों ने अँगरेज़ी राज्य से सन्तुष्ट होकर उसकी प्रशंसा की। साधारण जनता ने विदेशी शासन पसन्द किया या नहीं, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनके विचारों से परिचय प्राप्त करने का कोई प्रामाणिक साधन उपलब्ध नहीं है। इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उस पर नवशिक्षितों के विचारों का प्रभाव अवश्य पड़ता था। भारतीय मध्यम वर्ग ने सरकारी नौकरियाँ मिलने और व्यापार में मुनाफ़ा होने के कारण भी अँगरेज़ी शासन की प्रशंसा की। किन्तु इस वर्ग से भी भारत का आर्थिक शोषण न देखा गया। अँगरेज़ों की आर्थिक नीति के फलस्वरूप कृषि और उद्योग-धन्धे नष्ट हो चुके थे। ऊपर से दुर्भिक्षों की मार थी। दुर्भिक्षों का भीषण परिणाम इतना अनावृष्टि के कारण न होता था जितना कि अँगरेज़ों की आर्थिक नीति से। देश का धन विदेश जाने लगा और भारतवासी भूखों मरने लगे। देशभक्तों ने अँगरेज़ी राज्य के प्रति भक्ति प्रकट करते हुए भी उसकी आर्थिक नीति का विरोध किया। भारतीय जनता की दीन-हीन दशा देखकर वे आँसू बहाए बिना न रह सके। साथ ही विक्टोरिया के घोषणा-पत्र में की गई प्रतिज्ञाओं के अपूर्ण रहने से अँगरेज़ी राज्य में उनकी आस्था और विश्वास को ठेस पहुँची। वास्तव में

जाति, धर्म, भाषा, आचार-विचार, आदि की दृष्टि से अँगरेज़ों और भारत-वासियों में वैसे ही यथेष्ट अन्तर था, उस पर अँगरेज़ अफ़सरों के दुर्व्यवहार, भारतीय जीवन से अपने को अलग रखने की प्रवृत्ति, नव-शिक्षित भारतवासियों की आकांक्षाओं की अवहेलना और उन्हें अपना प्रतिद्वन्द्वी समझने से शिक्षितों में रोष और असन्तोष की भावना फैल रही थी। नवशिक्षित भारतीय शासन में अधिकाधिक भाग लेना चाहते थे। वे दीवानी और फ़ौजदारी विभागों को अलग-अलग करना चाहते थे। स्थानीय स्वायत्त शासन और स्वदेशी का प्रचार भी मुख्य विषय थे। इन सब बातों में उन्हें सरकार का सामना करना पड़ता था। तत्कालीन भारत-वासी चाहते थे कि इँगलैंड भारत में अपने नैतिक मिशन को अच्छी तरह समझ कर उसे व्यावहारिक रूप दे और अपने यहाँ के राजनीतिक उच्च आदर्शों की स्थापना करे। वे ब्रिटिश नागरिकों के समान अधिकार चाहते थे। साम्राज्य भारतवासियों का निर्माण किया हुआ तो नहीं था, किन्तु उन्होंने उसे अपना लिया था। मध्यमवर्गीय नवशिक्षितों के हाथ में उस समय देश का नेतृत्व था। अँगरेज़ शासक उन्हें अल्पसंख्यक कह कर टाल देते थे। किन्तु पश्चिमी शिक्षा तथा अन्य वैज्ञानिक साधनों के बाद भारत का पूर्ववत् बना रहना एक प्रकार से असम्भव था। ब्रिटिश राजनीतिक एवं सामाजिक संस्थाओं के इतिहास तथा पाश्चात्य विचारों से मुग्ध होकर वे वैसे ही स्वप्न देखने लगे थे। और यद्यपि इँगलैंड के प्रति उनकी सच्ची राज्य-भक्ति थी, तो भी शासकों को रूस के आक्रमण-भय से उनके प्रति सदैव शङ्का बनी रहती थी। ऐसी परिस्थिति में नवशिक्षितों का सरकारी नीति की आलोचना करना स्वाभाविक था। यह आलोचना 'हिज़ मेजेस्टीज़ औपीज़ीशन' वाले विरोध के रूप में थी। उनकी राजनीतिक लड़ाई कुछ राजनीतिक माँगों, सुधारों और विशेषधिकारों तक सीमित थी और विक्टोरिया-कालीन उदार नीति से प्रभावित थी। अँगरेज़ शासकों को यह विरोध भी रुचिकर प्रतीत नहीं होता था। वर्णभेद और जातीय वैमनस्य ने परिस्थिति और भी जटिल बना दी। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि नवशिक्षित भारतवासियों की आकांक्षाओं के प्रति सहानुभूति रखने वाले ब्रिटिश राजनीतिज्ञों और विचारकों का नितान्त अभाव था। सहानुभूति रखने वालों में एल्फिंस्टन, बर्क, मैकॉले, ब्राइट, कॉटन, ह्यूम, वेडबर्न, रिपन, क्रोमर, ऐनी बिसेंट, चार्ल्स ब्रैडलॉ, आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

*

विद्रोह के बाद अँगरेज़ शासकों ने जिस कूटनीति का अवलम्बन ग्रहण किया वह फूट और कलह के लिए उपयुक्त सिद्ध हुई। उनकी इस कूटनीति का प्रभाव पहले-पहल मुसलमानों पर पड़ा। राज्य-च्युत हो जाने के फलस्वरूप उत्पन्न सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक कारणों से मुसलमानों में वाहबी आन्दोलन (१८२०-१८६०) का जन्म हो चुका था। वाहबियों ने विद्रोह में भी यथेष्ट भाग लिया। सैयद अहमद ब्रेल्वी और इस्माइल हाजी मौलवी मुहम्मद इस आन्दोलन के नेता थे जो १८२० में मक्का यात्रा से वहाँ के नवीन सुधारवादी मुस्लिम धार्मिक विचारों से प्रभावित होकर लौटे थे। विद्रोह के तीन वर्ष बाद तक यह आन्दोलन जारी रहा। इस आन्दोलन का मुख्य ध्येय इस्लाम धर्म की कुरीतियाँ दूर कर उसे उसके वास्तविक रूप में प्रतिष्ठित करना था। अनेक मुसलमान केवल नाममात्र के मुसलमान थे। व्यावहारिक रूप में वे हिन्दुओं के धर्माचारों का पालन करते थे। वाहबी आन्दोलन के नेताओं ने उनमें विशुद्ध इस्लाम का प्रचार करना चाहा। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने अनेक छोटी-बड़ी रचनाएं प्रकाशित कीं। कुछ समय के लिये तो वाहबियों ने पंजाब के एक हिस्से में अपना राज्य भी स्थापित कर लिया। किन्तु १८३१ में सिक्खों ने उसे उखाड़ फेंका। कट्टर मुसलमानों का विरोधी होने के साथ-साथ यह आन्दोलन हिन्दू धर्म और यूरोपीय सभ्यता का भी विरोधी हुए बिना न रह सका। उन्होंने अँगरेज़ी राज्य को 'दारुल-हरब' घोषित कर दिया था। इसलिए वाहबी नेताओं ने राजनीतिक क्षेत्र में यूरोपीय सभ्यता के प्रचारक अँगरेज़ी राज्य का मूलोच्छेदन करने की चेष्टा की हो तो कोई आश्चर्य नहीं। अँगरेज़ों ने भी कूटनीति से काम लेकर कुछ मौलवियों से अँगरेज़ी राज्य को 'दारुल-इस्लाम' घोषित करा दिया। अन्त में इस आन्दोलन का पूर्णरूप से दमन कर दिया गया। राजनीतिक दृष्टिकोण से एक तो अँगरेज़ों को वैसे ही मुसलमानों में विश्वास नहीं था, उस पर आन्दोलन के कारण मुसलमान अँगरेज़ों के क्रोध-भाजन भी बने। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जिस समय अपने साहित्यिक एवं सार्वजनिक जीवन का सूत्रपात किया उस समय मुसलमान अपने राज्य से हीन और ब्रिटिश शासन-विधान में राजनीतिक अछूत बने हुए थे। बंगाल में वे हर तरह से काफ़ी आर्थिक हानि उठा चुके थे। सेना से भी उन्हें निकाला जाने लगा था। सरकारी नौकरियाँ देने में अँगरेज़ सरकार मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दुओं को अधिक पसन्द करती थी। स्वयं मुसलमान अपनी कट्टरता और अँगरेज़ों के प्रति सांस्कृतिक आशंका के फलस्वरूप आर्थिक,

सामाजिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी क्षेत्रों में हिन्दुओं से पिछड़ गए थे। मैकॉले से पहले मुसलमानों की अरबी और फ़ारसी शिक्षा का प्रबन्ध था। किन्तु १८२८ के बाद ही कंपनी सरकार ने मस्जिदों के लिए दी गईं ज़मीनों को वापिस लेना शुरु कर दिया था। इन मस्जिदों में अरबी-फ़ारसी शिक्षा दी जाती थी। इससे मुसलमानों को अपनी परंपरागत शिक्षा से भी वंचित रह जाना पड़ा। उनका जो कुछ शिक्षा-क्रम जारी रहा वह कट्टर मौलवियों के हाथ में था। मुसलमानों के साथ यह सरकारी व्यवहार लगभग १८८५ तक जारी रहा। १८८५ के प्रारंभ तक ही भारतेंदु जीवित रहे। सर सैयद अहमद ने मुसलमानों को पाश्चात्य शिक्षा, राजनीति, तथा अन्य हर प्रकार से आगे बढ़ाने की चेष्टा की—यहाँ तक कि इस धुन में वे १८८४ तक की अपनी हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य-भावना भी भुला बैठे। किन्तु गया वक्त सरलतापूर्वक हाथ नहीं आता। वैसे भी मुसलमान हिन्दुओं से आधी शताब्दी से भी अधिक पीछे थे।

मुग़ल-मरहठा साम्राज्य के अन्त और अँगरेज़ी राज्य की स्थापना के बाद हिन्दू-मुसलमानों का पारस्परिक सम्बन्ध नवीन दृष्टिकोण से देखा जाने लगा। मुसलमानी शासन-काल में ज़बरदस्त चोट खाने पर भी हिन्दू धर्म अपना अस्तित्व बनाए रखने में समर्थ हो सका था। उसकी अनेक शाखाएँ मुर्झा गईं थीं, किन्तु उसकी जड़ अब भी स्वस्थ और मज़बूत थी। इससे हिन्दू धर्म की मूल शक्ति का परिचय प्राप्त होता है। औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद जिस अराजकता का जन्म हुआ उसमें सांप्रदायिकता या हिन्दू-मुसलमान का प्रश्न नहीं था। और, जैसा कि प्रायः इतिहास में देखा जाता है कि किसी संक्रांति-काल की क्रांतिकारी उथल-पुथल के बाद जनता का ध्यान अपने प्राचीन इतिहास की ओर आकृष्ट होता है, अँगरेज़ी राज्य में विद्रोह के बाद शांति स्थापित हो जाने और प्राचीन भारत के ऐतिहासिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक अध्ययन के फलस्वरूप नवशिक्षित मध्यवर्गीय हिन्दुओं की इस मनोवृत्ति ने प्रमुख रूप धारण कर लिया। अपनी सामाजिक एवं धार्मिक हीनावस्था और कुरीतियों का मूल कारण विदेशी धर्मावलंबियों को समझ कर वे उन्हें दूर करने का प्रयत्न करने लगे। वे जब काशी की औरंगज़ेबी मस्जिद, मथुरा की लाल मस्जिद तथा अन्य स्थानों पर हिन्दू देवस्थलों के स्थान पर मस्जिदें खड़ी देखते और धार्मिक अत्याचारों का उल्लेख पढ़ते थे तो मुसलमानों के प्रति उनका विद्वेष भड़क उठता था। यद्यपि आज इन विषयों के सम्बन्ध में एक दूसरे मत की स्थापना की जाने लगी है, किन्तु आलोच्य काल के हिन्दुओं के ऐतिहासिक अध्ययन ने उन्हें यही पाठ पढ़ाया

था। सम्भव है विदेशी शासकों ने ये बातें बढ़ा कर उनके सामने रक्खी हों, या वे केवल किंवदन्तियाँ हों। तत्कालीन हिन्दू सोचते थे कि किसी किंवदन्ती का विस्तार अप्रामाणिक हो सकता है, किन्तु उसके आधार में सत्य का अभाव नहीं होता।

अँगरेज़ों की सांप्रदायिक नीति के अतिरिक्त उस समय देश में उनकी प्रबल सैनिक शक्ति का आतंक छाया हुआ था। राजनीतिक दृष्टि से उनके विरुद्ध आवाज़ उठाने की बहुत दिनों तक किसी को हिम्मत न हुई। जो कुछ विरोध हुआ भी वह 'सविनय' था। लोगों के हथियार छीन लिए गए थे और हिन्दू-मुसलमान सब पर टैक्स लगाए जा रहे थे। शिक्षित धनिक और मध्यवर्गीय हिन्दुओं ने उन हिन्दुओं को मूढ़ कहा जिन्होंने विद्रोह में भाग लिया था और सरकार के प्रति अपनी राज्य-भक्ति प्रकट कर विद्रोह के फल-स्वरूप हिन्दुओं पर लगाए गए टैक्स का सविनय विरोध किया। किन्तु उनका विरोध केवल विरोध मात्र था।

देश की असाधारण परिस्थिति का प्रभाव भारतीय नरेशों पर भी पड़ा। एक समय था जब भारतीय सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन में देशी राज्यों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था। किन्तु भारतेंदु-कालीन भारत में उनकी महती शक्ति का लोप हो चुका था। देशी राज्यों को दबाने के लिए अँगरेज़ों ने पहले-पहल वणिक-वर्ग का सहारा लिया। सच तो यह है कि साम्राज्यवादी सभ्यता को नए उपनिवेश अधिकृत करते समय वहाँ के सामाजिक संगठन के आर्थिक नेताओं या वणिक-वर्ग का सहारा ही उपयोगी सिद्ध होता है। बहुसंख्यक लोगों को दबाए रखने के लिए साम्राज्यवाद को इन्हीं लोगों के साथ मित्रता स्थापित करनी पड़ती है। भारतवर्ष में पैर जमा लेने के बाद अँगरेज़ों ने भारतीय नरेशों को सूद पर कर्ज़ देकर तथा उनके राज्यों में अपनी सेना रख कर या केवल अपने सैनिक विशेषज्ञ रख-कर मित्रता के बहाने उनकी सत्ता का अपहरण कर लिया था। राजा-महाराजाओं को उन्होंने कठपुतलियों की तरह नचाया। अस्तु, भारत में इस प्राचीन सामंत वर्ग के निर्जीव और सत्ताहीन हो जाने से उनके साथ सम्बन्धित सांस्कृतिक जीवन तथा साहित्य का ह्रास हुए बिना भी न रह सका। उनके बाद अँगरेज़ी राज्य में वणिक वर्ग सांस्कृतिक जीवन का आश्रयदाता बना। फलतः साहित्य में इस वर्ग की रुचियों, आदर्शों एवं आकांक्षाओं का प्रकटीकरण होने लगा। उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध का नया साहित्य अधिकांश में इसी वणिक-वर्ग से सम्बन्ध रखता है।

राजनीतिक असंतोष के साथ-साथ ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासन की आर्थिक नीति के फल स्वरूप भारतीय जनसाधारण की निर्धनता भी बढ़ती गई। अँगरेज़ों की आर्थिक नीति के कारण समाज के थोड़े-से उच्चवर्गीय लोगों को ही लाभ हुआ। भारत के नए शासक केवल ज़मींदार और काश्तकार के संबंध से ही परिचित थे। यहाँ किसान का भूमि पर परंपरागत अधिकार था और वह अनाज के रूप में लगान देता था। अँगरेज़ों ने न केवल ज़मींदारी प्रथा का बीजारोपण किया, वरन् स्वयं एक बड़े ज़मींदार बन बैठे। ज़मींदार वर्ग सामाजिक और सांस्कृतिक अस्तित्त्व की दृष्टि से अँगरेज़ी शासन पर निर्भर था। उसने अपने आश्रयदाता के प्रति असीम भक्ति प्रकट की और समय-समय पर संकट के समय उसका साथ दिया। वह शासकों और कृषकों के बीच दलालों की सहायता से मध्यस्थ का काम करता था। ईस्ट इंडिया कंपनी की वाणिज्य नीति के कारण भारतीय ग्राम-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो चुकी थी। ऐसी परिस्थिति में भारतीय कृषकों की दशा बिगड़ती जा रही थी। कंपनी ने अपने शासन के प्रारंभिक काल (१७९५) में बंगाल में इस्तमरारी बन्दोबस्त की प्रथा जारी की जिससे वहाँ के कृषकों को अत्यधिक लाभ हुआ। उत्तर-पश्चिम की ओर अँगरेज़ी शासन का विस्तार हो जाने के बाद लगान के सम्बन्ध में विषम समस्याएँ उपस्थित हुईं। कुछ गवर्नर-जनरलों ने इन प्रदेशों में भी इस्तमरारी बंदोबस्त प्रथा जारी करने का विचार किया था। किन्तु कोर्ट के डाइरेक्टर बंगाल में इस प्रथा से काफ़ी हानि उठा चुके थे। अब वे फिर वैसी ग़लती करना नहीं चाहते थे। फलतः उन्होंने नवीन विजित प्रदेशों में अल्पकालीन बंदोबस्त प्रथाएँ जारी कीं और किसानों को फ़ौलादी पंजे से चूँसा। साथ ही इन प्रथाओं की अनिश्चितता और विभाग के अत्यधिक केन्द्रीकरण से कृषि संबंधी प्रगति में भी अनेक बाधाएँ पड़ीं। किसान कर्ज़ के भार से लद कर निर्धनता के बंधन में जकड़ गए और उन्हें अपने प्राचीन अधिकारों से हाथ धोने पड़े। वे आए दिन दुर्भिक्षों से पीड़ित रहने लगे। बैंटिंक के समय में आर० एम० बर्ड ने अल्पकालीन बंदोबस्त प्रथाओं में कुछ सुधार किए। इनसे किसानों का भार कुछ हल्का अवश्य हुआ, लेकिन जैसा लाभ उन्हें होना चाहिए था वैसा न हुआ। जेम्स टॉमिसन ने भी, जो १८४३ में उत्तर भारत में आए और दस वर्ष तक रहे, बर्ड की भाँति ही अनेक सुधार किए। बंदोबस्त प्रथा के संबंध में १८४४ से १८४६ तक के काल में सर्वप्रथम विधान प्रस्तुत किया गया। १८५१ में कोर्ट के डाइरेक्टरों को इस

विधान के अन्तर्गत किए गए कार्य का निरीक्षण करने के पश्चात् ज्ञात हुआ कि पहले की अपेक्षा किसानों और ज़मींदारों दोनों को अधिक लाभ पहुँचा था। किन्तु थोड़े और समय के अनुभव के बाद टॉमेसन की व्यवस्था भी अव्यावहारिक और त्रुटिपूर्ण जँची। इसलिए १८५५ में एक नवीन व्यवस्था का निर्माण हुआ जिसके अन्तर्गत लगान की रक़म कुल पैदावार की आधी रक्खी गई। यह व्यवस्था बाद की व्यवस्थाओं का आधार बनी। लगभग आधी शताब्दियों की ग़लतियों और अत्यधिक कर-निर्धारण के बाद अँगरेज़ शासकों ने अब केवल आधे तक अपनी माँग सीमित रक्खी। भारत के अन्य भागों में भी जहाँ-जहाँ इस्तमरारी बन्दोबस्त प्रथा जारी नहीं थी सरकार ने यही नियम लागू किया।

आगे चल कर कैनिंग के कृषि-सम्बन्धी सुधारों से जनता को यथेष्ट लाभ हुआ। १८५६ में जब अवध ब्रिटिश राज्य में मिल गया तो ताल्लुक़ेदारों को उनके अधिकारों से वंचित कर गाँवों के स्वत्वाधिकारियों से समझौता किया गया। इसीलिए अवध के ताल्लुक़ेदारों ने विद्रोह में बहुत बड़ा भाग लिया था। कैनिंग की नीति से उनमें यह शंका पैदा हो गई थी कि अँगरेज़ सरकार उनका अस्तित्त्व मिटा देना चाहती है। किन्तु १८५८ में उनके अधिकार उन्हें वापिस दे दिए गए। १८६० से १८७८ तक वहाँ की बन्दोबस्त प्रथा उसी नियम के अन्तर्गत पूर्ण हुई जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। लॉरेंस ने १८६८ में अवध का पहला लगान सम्बन्धी ऐक्ट (XIX) स्वीकार किया जिससे किसानों को यथेष्ट लाभ पहुँचा। तत्कालीन उत्तर-पश्चिम प्रदेश में भी बर्ड और डलहौज़ी १८५५ में उपर्युक्त नियम जारी कर चुके थे। किन्तु नॉर्थब्रुक ने १८७३ में मालगुज़ारी सम्बन्धी ऐक्ट (XIX) द्वारा उसमें एक महत्वपूर्ण परिवर्तन कर दिया। बर्ड और टॉमेसन की व्यवस्था के अनुसार एक इलाक़े के अनेक गाँवों का लगान एक साथ निर्धारित होकर फिर एक-एक गाँव का लगान निर्धारित होता था। १८७३ के ऐक्ट के अनुसार एक गाँव के बाद फिर पूरे इलाक़े का लगान निर्धारित होता था। इसलिए पुरानी व्यवस्था के समान अब अनुमान से लगान निर्धारित करने की गुंजायश न रह गई। अब ज़मींदार किसी गाँव के लिए मनमाना लगान निर्धारित कर जनता पर अत्याचार न कर सकता था। इस दृष्टि से १८७३ का ऐक्ट उपयोगी सिद्ध हुआ। किन्तु इन सब सुधारों से लाभ इतना न हुआ था जितनी मेयो की विकेन्द्रीकरण आयोजना (१८७०) से हानि हुई। जो नए-नए प्रान्तीय अथवा स्थानीय कर लगाए

गए उन सब का भार किसान ही पर पड़ा। इसलिए लगान की जो रक़म कुल पैदावार की आधी रक्खी गई थी वह आधी न रह कर उससे कहीं अधिक हो गई और किसानों के लिए एक नया आर्थिक कष्ट आ उपस्थित हुआ। इसके अतिरिक्त १८६० के भीषण दुर्भिक्ष के बाद कैनिंग ने कर्नल बेअर्ड स्मिथ की दुर्भिक्ष तथा इस्तमरारी बन्दोबस्त और सिंचाई आदि के सम्बन्ध में रिपोर्ट (१८६१) अपने तथा प्रान्तीय सरकारों के अनुकूल मत के साथ भारत सचिव सर चार्ल्स वुड के पास भेजी थी। १८६१ से १८८३ तक भारत में इस्तमरारी बन्दोबस्त जारी करने तथा सिंचाई का कार्य आगे बढ़ाने के सम्बन्ध में भारत सचिव और भारतीय सरकार में काफ़ी पत्र-व्यवहार हुआ। अन्तिम निष्कर्ष कैनिंग और कर्नल बेअर्ड की सिफ़ारिशों के विरुद्ध हुआ। इस्तमरारी बन्दोबस्त जारी न करने में उनका प्रधान उद्देश्य आर्थिक हानि से बचना था। सिंचाई की ओर अधिक ध्यान न देने का मूल कारण व्यापारिक लाभ की दृष्टि से रेलों की ओर अधिक ध्यान देना था। ब्रिटिश सरकार की इस नीति से जनता की आर्थिक दशा में कोई सुधार न हो सका।

उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के अन्तिम पच्चीस-तीस वर्षों में, जब भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति ख़ूब फूली-फली, किसानों की आर्थिक दशा सुधारने का कोई प्रयत्न न हुआ; केवल ईस्ट इंडिया कंपनी और सम्राज्ञी के शासन काल के पिछले वर्षों से चले आ रहे सिद्धांतों और क़ायदे क़ानूनों का ही, थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ, व्यवहार होता रहा। रिपन द्वारा स्वीकृत १८८५ के ऐक्ट द्वारा बिहार के पश्चिमी ज़िलों के किसानों को कुछ लाभ हुआ; इससे ज़मींदारों की माँगों पर बिना उन्हें हानि पहुँचाए हुए नियंत्रण लगा दिया गया। नहीं तो वैसे १८५५ की व्यवस्था का कभी-कभी उल्लंघन हो जाया करता था। यहाँ तक कि माल के कुछ सरकारी अफ़सरों ने पंचायती ज़मीन की बाबत भी लगान उघाना शुरू कर दिया जिससे ग्राम-जीवन की अनेक प्रथाओं और संस्थाओं का लोप हो गया। तीस वर्षीय अल्पकालीन बन्दोबस्त प्रथा के अन्तर्गत किसानों को जो कुछ आर्थिक लाभ होता था उसे भी सरकार तरह-तरह के करों के बहाने ले जाती थी और जिनसे १८५५ की व्यवस्था का भी उल्लंघन होता था। १८७२ तक यह नियम था कि मालगुज़ारी का कुछ भाग सड़कें बनवाने, शिक्षा का प्रचार करने, आदि सार्वजनिक कार्यों पर ख़र्च किया जाय। १८७२ के बाद इन सार्वजनिक कार्यों के लिए भी प्रजा से धन लिया जाने लगा। इस प्रकार

अवध के लिए १८७६ और तत्कालीन उत्तर-पश्चिम प्रदेश के लिए १८८१ का संशोधित तथा अन्य ऐक्टों के अतिरिक्त सरकारी नीति के फल-स्वरूप जनता का लगान के निश्चित सिद्धान्त से भी कहीं अधिक आर्थिक शोषण होने लगा; जनता की निर्धनता दिन पर दिन बढ़ती ही गई। निर्धनता के बढ़ने से जनता के सामान्य सांस्कृतिक जीवन पर घातक प्रभाव पड़े बिना न रह सका। वास्तव में सरकार की कर-निर्धारण नीति की अनिश्चितता और ज़मीन का ठीक-ठीक मूल्य-निर्धारण न होने के कारण जनता आर्थिक अत्याचार से पिसती रहती थी। प्रायः सभी वाइसरॉयों ने इस समस्या पर विचार किया, किन्तु वे किसी अन्तिम निश्चित निष्कर्ष पर न पहुँच सके। अन्त में रिपन ने १८८२ में यह मामला फिर उठाया। वे एक ऐसी स्थायी और लाभदायक व्यवस्था स्थापित करना चाहते थे जिससे किसान अपने को सुरक्षित समझ सकते और कृषि की उन्नति हो सकती; क्योंकि बार बार लगान के घटने-बढ़ने के प्रयोगों से किसान पर बड़ा बुरा असर पड़ता था। रिपन पिछले वाइसरॉयों, कैनिंग तथा लॉरेंस, की और समय-समय पर लगान घटाने-बढ़ाने की नीतियों के बीच का मार्ग ग्रहण करना चाहते थे। किन्तु १८८३ में भारत सचिव ने उनकी नीति का समर्थन न किया। भारत सचिव की दृष्टि अधिकाधिक आर्थिक लाभ प्राप्त करने की ओर थी, न कि भारतीय किसान के हित की ओर। १९०० में, जब जनता दुर्भिक्ष-पीड़ित थी, इस समस्या पर फिर विचार किया गया। कुछ सरकारी अफ़सरों ने इस सम्बन्ध में एक विस्तृत प्रार्थना-पत्र भेजा और इस्तमरारी बन्दोबस्त के पक्ष में अपना मत प्रकट किया। प्रार्थना-पत्र भेजने वालों का उद्देश्य रिपन के उद्देश्य के समान था। लेकिन न तो भारत सचिव ने उनका मत स्वीकार किया और न कर्ज़न ने ही उन्हें अधिक सहायता दी और भारतीय जनता पहले की भाँति ही अर्थ-पीड़ा सहन करती रही। अमीरों की तरह शान-शौकत से रहने वाले ज़मींदारों को ही सरकार ने अपने राजनीतिक पुनर्निर्माण की आधार-शिला बनाया। विभिन्न व्यवस्थाओं और ऐक्टों के फल-स्वरूप कुलीनवंशीय ज़मींदारों और किसानों के बीच की प्राचीन सौहार्द-भावना लुप्त हो गई और अनेक पारस्परिक झगड़े खड़े हो गए जिनसे किसान का धन कचहरियों में भी खर्च होने लगा। सरकारी नीति से न तो कृषि की उन्नति हुई और न किसानों के धन की वृद्धि हुई। किसान ज़मीन को अपनी न समझ कर विदेशी शासकों की समझने लगा और महाजनों के चंगुल में फँस गया। संसार के समस्त सभ्य देशों में से भारतीय किसान की सब से अधिक निर्ध-

नता आज उसकी शारीरिक, भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक प्रगति में बाधा बनी हुई है।

अँगरेज़ों की आर्थिक नीति के कारण यदि एक ओर भारतवर्ष की कृषि-संपत्ति का ह्रास हुआ तो दूसरी ओर उद्योग-धन्धे और वाणिज्य-व्यवसाय पूर्ण रूप से नष्ट हो गए। उद्योग-धन्धों के नष्ट हो जाने पर राष्ट्रीय सम्पत्ति के एकमात्र साधन कृषि के ह्रास से भी अधिक भयावह परिणाम हुआ। शासकों की नीति के कारण भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश रह गया था। १८३३ में चार्टर बदला जाने पर कंपनी से व्यापार का अधिकार छीन लिया गया था। अब कंपनी केवल शासक के रूप में थी। इसलिए जब व्यापार में उसे कोई दिलचस्पी न रही तो ११ फ़रवरी, १८४० को उसने वे समस्त प्रतिबन्ध हटा देने चाहे जिनकी सहायता से भारतीय उद्योग धन्धों को नष्ट करने में सहायता मिल सकी थी। इन प्रतिबन्धों, भाप की शक्ति, इँगलैंड में भारतीय माल पर लगाए गए कर, आदि से उद्योग-धन्धों के बिल्कुल नष्ट हो जाने से देश एक दम अपने पद से च्युत होता जा रहा था। इँगलैंड के मिल-मालिक और व्यवसायी लोग भारतवर्ष को कच्चा माल देने वाले कृषि-प्रधान उपनिवेश में परिणत करने में सफल हो रहे थे। मौंट्गौमरी मार्टिन के मतानुसार 'फ्री ट्रेड' की नीति से भारत के उद्योग-धन्धों और व्यापार को बड़ा भारी धक्का पहुँचा। देश में सड़कों, रेलों, आदि का भी निर्माण नहीं हुआ था। उधर १८४८ में फ्रान्स, जर्मनी, इटली, आस्ट्रिया, हंगरी, आयरलैंड तथा यूरोप के अन्य स्थानों में क्रान्तियाँ हुईं और स्वयं इँगलैंड में 'कॉर्न लॉ'-आन्दोलन (१८४६) सफल हो चुका था। इससे ब्रिटिश उद्योग-धन्धों की यथेष्ट उन्नति हुई। उस समय १८४८ में हाउस ऑव कामन्स ने भारत के सम्बन्ध में जाँच करने के लिए एक कमेटी नियुक्त की। उस कमेटी के सामने भारत के साथ किए गए अन्याय से सम्बन्ध रखने वाले अनेक तथ्य सामने आए। किन्तु अन्याय दूर करने का कोई प्रयत्न न किया गया। इसके बाद नमक-कर भी लगा। इँगलैंड और भारत के बीच आयात-निर्यात का इतिहास यह बताता है कि भारत से कच्चा माल बाहर जाता था और बना हुआ माल वापिस आता था। आए हुए माल के बदले अनाज देने से खाने का सामान भी बाहर चला जाता था जिससे भारतीय प्रजा का आर्थिक कष्ट और भी अधिक बढ़ गया। कंपनी ने अपने शासन-काल के अन्तिम वर्षों में गङ्गा और यमुना से नहरें निकाली थीं। किन्तु बहुत शीघ्र ही रेलों के सामने सिंचाई के साधनों की उपेक्षा होने लगी।

रेलें अँगरेज़ों को व्यापारिक और सैनिक दृष्टि से लाभदायक सिद्ध हुईं। उनसे न तो देश की पैदावार बढ़ सकी और न राजकीय आय में ही वृद्धि हुई।

कैनिंग ने बाहर से आने-जाने वाले माल पर लगाए जाने वाले करों में भारत के हित की दृष्टि से कुछ सुधार करना चाहा। किन्तु इँगलैंड के व्यापारियों ने उनका विरोध किया। कैनिंग को असफल होना पड़ा। उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के प्रथम पच्चीस वर्षों तक पहले की भाँति देश का धन भिन्न-भिन्न तरीक़ों से विदेश जाता रहा। लिटन के बाद भारतवर्ष की आर्थिक दशा और भी शोचनीय हो गई। वैसे तो जिस दिन रेलों का निर्माण प्रारम्भ हुआ उसी दिन से भारत में औद्योगीकरण और मशीन-युग का सूत्रपात हो जाना चाहिए था। किन्तु शासकों की नीति भारत में उद्योग-धन्धों की प्रगति और मशीन-युग की अवतारणा करने की नहीं थी। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक बहुत-कम नए उद्योग-धन्धे शुरू किए गए। जो कुछ किए भी गए वे बम्बई और कलकत्ते में। जो मिलें और कारखाने स्थापित किए गए उनके पीछे ब्रिटिश पूँजीपतियों की अपनी नीति छिपी हुई थी। भारत की आर्थिक क्रियात्मक शक्ति का ह्रास होने लगा था। उपनिवेशों को अपना माल देते रहने के साथ-साथ पूँजीपति देश को उनकी उत्पादन-शक्ति बढ़ाने की भी चिन्ता होती है। ऐसा न करने से वही परिणाम होता है जो उन्नीसवीं शताब्दी में भारतवर्ष का हुआ। विदेशी माल की बिक्री तो यहाँ दिन-पर-दिन बढ़ती गई, किन्तु यहाँ के बने हुए माल की बिक्री कुछ न रह गई। फलतः उत्पादन-शक्ति और फिर ख़रीदने की शक्ति कम हुई। १८५० के लगभग एक भारतीय ६ पैं० वार्षिक इँगलैंड की बनी चीज़ों पर ख़र्च करता था। १८४६ से पहले वह कहीं अधिक ख़र्च करता था। इससे इँगलैंड के पूँजीपति चिन्तित हुए और उन्होंने भारत की उत्पादन-शक्ति बढ़ाने के लिए तरह-तरह के उपाय सोचे। इसीलिए रेलों और नहरों के निर्माण की ओर उनका ध्यान गया। यहाँ की प्राकृतिक सम्पत्ति का भी उचित रूप में प्रयोग नहीं हुआ था। यह याद रखने की बात है कि पूँजीवादी साम्राज्यशाही सभ्यता ने भारत में वैज्ञानिक साधनों का वहीं तक प्रचार किया जहाँ तक उसे आर्थिक या सैनिक लाभ होने की सम्भावना थी। नहरों से पैदावार बढ़ी। मगर किसानों में खेती करने के नवीन वैज्ञानिक साधनों का प्रचार न किया गया। रेलों से माल के एक जगह से दूसरी जगह ले जाने में ख़र्च की कमी और सहूलियत हुई। किन्तु रेलों के प्रचार से जिस नवीन औद्योगिक सङ्गठन की आवश्यकता थी उस ओर बिल्कुल ध्यान

न दिया गया। मिल और कारखाने भी इस ढङ्ग से स्थापित किए गए कि भारत के लोग अधिकाधिक साम्राज्यवादी आर्थिक नीति पर निर्भर रहें। साम्राज्यवादी सभ्यता का हर उपनिवेश में यही रवैया रहा है। थोड़े से नए उद्योग-धन्धों तथा चाय, सन, आदि की पैदावार बढ़ाने में विदेशी पूँजी का ही अधिक भाग था। अधिकांश मुनाफ़ा विदेशी पूँजीपतियों के हाथ चला जाता था। भारत के परम्परागत उच्च श्रेणी के व्यापारीवर्ग को इन उद्योग-धन्धों और वाणिज्य-व्यवसाय से लाभ अवश्य हुआ, किन्तु उससे जनसाधारण की निर्धनता की समस्या हल न हो सकी। कुछ लाख मज़दूरों को काम मिल जाने से भी राष्ट्रीय आय में कोई वृद्धि न हुई। उद्योग-धन्धों के नष्ट होने से कृषि-क्षेत्र में सङ्कट उपस्थित हो ही गया था। उद्योग-धन्धों के नष्ट और कृषि-कर्म के प्रधान हो जाने के मुख्य कारणों के अतिरिक्त कृषि की प्रगति के साधनों का अभाव, भारत सरकार का इँगलैंड में शासन-व्यय (Home Charges) तथा अन्य अनेक प्रकार के कर्ज़ों, ब्रिटिश अफ़सरों की पेंशन, रुपए की कृत्रिम विनिमय दर, और उसका भारतीय उद्योग-धन्धों और व्यवसाय पर घातक प्रभाव, वकालत, डाक्टरी और शुद्ध साहित्यिक शिक्षा को छोड़ कर उद्योग-धन्धों-सम्बन्धी शिक्षा का अभाव, शिक्षित समुदाय में बेकारी की उत्तरोत्तर वृद्धि, सैनिक-व्यय, प्रान्तीय करों, आदि कारणों से भारतीय निर्धनता और भी बढ़ी। १८५७ के विद्रोह के दबाने का चार करोड़ और कंपनी के राज्य का अन्त होने पर उसकी पूँजी और मुनाफ़े के बदले तीन करोड़ सत्तर लाख रुपया भी भारतीय कोष से दिया गया। उत्तर-पश्चिम-सीमान्त प्रदेश की सैनिक नीति, अदन के शासन, लंदन के इंडिया ऑफ़िस, फ़ारस भेजे हुए मिशन, चीन में राजदूत रखने, अनेक ब्रिटिश कंपनियों को दी गई आर्थिक सहायता, आदि का करोड़ों रुपए का खर्च भारतीय जनता के ऊपर लादा गया। अकेले इंडिया ऑफ़िस का व्यय लाखों पौंड पड़ता था। इँगलैंड के पूँजी-पतियों की सन्तान को नौकरियाँ भी यहीं दी जाती थीं। देशी राज्यों में रक्खी गई सेनाओं के व्यय का भार रियासती जनता पर पड़ता था। पुलीस और औपनिवेशिक नौकरशाही का वेतन अलग रहा। किसानों की बेदखली और खेतिहर मज़दूरों की तथा अन्य अनेक समस्याएँ देश के कोढ़ में खाज का काम कर रही थीं। इससे जनता के आर्थिक शोषण और दुरवस्था का अनुमान लगाया जा सकता है। इस दुरवस्था का देश के सांस्कृतिक जीवन पर जो प्रभाव पड़ा होगा वह सोचने योग्य है। और प्रश्न केवल निर्धनता का ही नहीं था,

वरन् साधारण से साधारण किसान और मज़दूर की शिक्षा भी एक महत्वपूर्ण समस्या थी जिसकी ओर शासकों ने बिल्कुल ध्यान न दिया। इसके साथ-साथ भारतीय उद्योग-धन्धों और व्यवसायों की संरक्षा की भी अत्यन्त आवश्यकता थी। १८८६ से १८६२ तक के समय में तो आर्थिक परिस्थिति बहुत शोचनीय होगई थी। दादाभाई नौरोजी के, जो १८६२ में पार्लियामेंट के प्रथम भारतीय सदस्य चुने गए थे, प्रयत्नों के फलस्वरूप १८६५ में ग्लैड्सटन ने रॉयल कमीशन की स्थापना की। इस कमीशन की रिपोर्ट (१६००) प्रकाशित होने पर भारत के हितैषियों को अत्यन्त निराशा हुई।

वैसे तो विविध आन्दोलनों का जन्म सामान्य राष्ट्रीय चेतना के कारण हुआ था और अन्त में, विशेष परिस्थितिवश, वे राजनीतिक आन्दोलन में घुल-मिल गए। किन्तु स्वदेशी आन्दोलन का जन्म प्रधानतः अँगरेज़ों की आर्थिक नीति के कारण हुआ। इस आन्दोलन के औद्योगिक और राजनीतिक दोनों पहलू थे। रेलों के निर्माण के साथ-साथ कुछ कल-पुर्ज़ों के कारखानों का बनना भी अनिवार्य था। भारत के अल्पसंख्यक धनी और पूँजीपति व्यवसायियों ने इससे लाभ उठाकर अपनी फ़ैक्टरियाँ और मिलें स्थापित कीं। सरकार ने उन्हें अपनी आर्थिक नीति के कारण कुछ प्रोत्साहन दिया। जिस समय उन्हें अपना व्यापार बढ़ाने की चिन्ता हुई उस समय भारतीय सरकार इँगलैंड के पूँजीपति मिल-मालिकों के दबाव के कारण मैंचेस्टर और लंकाशायर के बने हुए कपड़े का प्रचार कर रही थी। महसूल, चुङ्गी, आदि प्रतिबन्धों के कारण भारतीय व्यवसाय को पनपने का अवसर ही नहीं मिल रहा था। परिणाम स्वरूप व्यवसायी वर्ग ने, जो शिक्षित था, अपने हितों की रक्षा की माँगें सरकार के सामने सविनय रक्खीं और देशवासियों से स्वदेशी वस्तुओं, विशेष रूप से कपड़े, के इस्तेमाल के लिए अपील की। यहीं से स्वदेशी आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। भारतेन्दु के समय में इस आन्दोलन के प्रारम्भिक रूप ने अच्छी प्रगति कर ली थी।

अँगरेज़ों के शासन-प्रबन्ध तथा आर्थिक नीति, और इस काल में पड़े दुर्भिक्षों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। उन्नीसवीं शताब्दी में अँगरेज़ों के राज्य के फैलने के साथ भारतीय जनता दुर्भिक्षों से पीड़ित रहने लगी। दुर्भिक्ष पहले भी पड़ते थे। किन्तु उस समय किसी प्राकृतिक तथा अन्य कारण से अनाज का वास्तव में अभाव हो जाया करता था। लोग रुपया हाथ में लिए मर जाते थे पर उन्हें खाना नहीं मिलता था। और फिर उस समय यातायात के साधनों का भी अभाव था। अँगरेज़ों के समय में ऐसी कोई बात नहीं थी।

रेलों और सड़कों के ज़रिए अनाज आसानी से एक जगह से दूसरी जगह ले जाया जा सकता था। वर्षा का अभाव भी कोई प्रधान कारण नहीं था। सच बात तो यह है कि अँगरेज़ी राज्य में लोग इतने ग़रीब हो गए थे कि संकट पड़ने पर वे अनाज खरीद तक नहीं सकते थे। अनाज की सब जगह कमी रहती थी। बचा हुआ अनाज बाहर भेज दिया जाता था। कमी पड़ने पर जो अनाज बाहर से मंगाया जाता था वह इतना महँगा पड़ता था कि निर्धन जनता उसे खरीदने में असमर्थ रहती थी। फलतः जब-जब देश के किसी छोटे या बड़े भूमि-भाग में दुर्भिक्ष पड़ा लाखों व्यक्ति काल के ग्रास बने; गाय, भैंस, आदि पशुओं का तो कुछ ठिकाना ही नहीं। दुर्भिक्ष के कारण जनता का स्वास्थ्य नष्ट होता था, तरह-तरह के रोग फैलते थे, चोरी-डकैतियाँ पड़ती थीं, और भिखारियों की संख्या में वृद्धि होती थी। राष्ट्रीय हित और उन्नति की दृष्टि से ये बातें अभिशाप रूप थीं। आलोच्य-काल महारानी विक्टोरिया का शासन-काल था। चेचक, प्लेग, हैज़ा, फ़सली बुखार, आतिश-ज़नी, भूचाल तथा अन्य भौतिक या दैवी आपत्तियों और संकटों से तो लोग आए दिन पीड़ित रहते ही थे, लेकिन इस शासन-काल में १८३७, १८६०, १८६६, १८६६, १८७४, १८७७-७८, १८८६, १८६८, १८६६, और १६०० के दुर्भिक्ष प्रसिद्ध हैं। उत्तर भारत भी इन दुर्भिक्षों से पीड़ित हुआ और तत्कालीन उत्तर-पश्चिम प्रदेश, अवध, पंजाब, मध्य प्रदेश, बिहार, आदि में दिल्ली, आगरा, लखनऊ, इलाहाबाद, पटना, जयपुर, जोधपुर, आदि अनेक नगरों की जनता उनसे त्रस्त हुई। इन दुर्भिक्षों में से १८७७-७८ और १८६६ के दुर्भिक्ष अत्यन्त भीषण दुर्भिक्ष थे।[1] नॉर्थब्रुक और लिटन ने

[1] मौलवी मज़हर अली सँदीलवी ने अपनी डायरी (१८६७-१९११) में अगस्त, १८७७ के दुर्भिक्ष के विषय में लिखा है कि अनाज का भाव बहुत तेज़ हो गया था। दिन-रात चोरियाँ होती थीं। दिन को लू और शाम को ठंडी हवा चलती थी। वर्षा का नाम तक नहीं था। लोग भूखों मरते थे। दो-दो दिन तक खाना नहीं मिलता था। लोग कहते थे कि लॉर्ड लिटन और पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध के लेफ़्टिनेंट-गवर्नर, कूपर साहब, की नीयत अच्छी नहीं है इसीलिए सूखा पड़ा है। सितंबर में बैसाख-जेठ की तरह गरम हवा चलती थी और रात को ठंड पड़ती थी। मालगुज़ारी का वसूल होना दुश्वार हो गया था। किन्तु सरकार ने कोई रियायत न की। दिसंबर में कुछ वर्षा हुई। ग़ल्ला तैयार नहीं था। फलतः अनाज की तेज़ी बढ़ती ही गई।

दुर्भिक्ष दूर करने के प्रयत्न किए। उन्होंने इस विषय की जाँच के लिए कमेटियाँ नियुक्त कीं और भविष्य में दुर्भिक्ष-पीड़ितों की रक्षा के लिए सरकारी आय में से कुछ रुपया अलग निकाल कर रख दिया। साथ ही नहरें, रेलें, सड़कें, आदि बनवाने का प्रबन्ध किया गया। १८९८-१९०० के दुर्भिक्षों में इस पिछली निर्धारित नीति ने अच्छा काम दिया।

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का अनेक अंशों में घातक प्रभाव पड़ा। साम्राज्यवादी नीति के कारण यह प्रभाव ही प्रमुख और प्रधान रहा। किन्तु, जैसा कि कार्ल मार्क्स का मत है, ब्रिटिश नीति का प्रगतिपूर्ण और रचनात्मक प्रभाव भी पड़े बिना न रह सका। यद्यपि पूँजीवादी आर्थिक नीति से

भिखारियों की संख्या बढ़ी। फ़रवरी, १८७८ में अनाज और भी तेज़ हो गया (गेहूँ १० सेर)। छोटे-बड़े सभी तरह के लोगों को परेशानी थी। भूखे रहने के कारण लोग पहिचाने तक नहीं जाते थे। मार्च, १८७८ में ग़ल्ला आ जाने के कारण लोगों को कुछ चैन मिला।—'उर्दू', जनवरी, १९११

फ़रवरी, १८९६ में सूखा पड़ने से फ़सल की शिकायत हुई। सख़्त मुसीबत का सामना था। दो-दो, तीन-तीन दिन तक खाना नहीं मिलता था। लोगों ने दूसरों की ग़ुलामी की, सन्तान बेची। सन् '७७ के दुर्भिक्ष से भी बुरी हालत थी। अगस्त, १८९६ में किसान दहाड़ मार-मार कर रोते थे। उन्हें खाना नहीं मिलता था। हालत ऐसी हो गई थी कि चंद क़दम नहीं चल सकते थे। सूरतें डरावनी हो गई थीं। शरीर में सिर्फ़ हड्डी-पसलियाँ दिखाई देती थीं। सितंबर, १८९६ की प्रथम पैदावारी से तेज़ी आई और सैकड़ों आदमी भूखों मर गए। भिखारियों की संख्या बढ़ी और लूट-मार व डकैतियों का बाज़ार गर्म हुआ। इस समय की तेज़ी सन् '७७ की तेज़ी से भी अधिक थी। अक्तूबर, १८९६ में वर्षा के अभाव में पैदावार मारी गई। आगरे की मंडी कंगालों ने लूट ली। साथ में हैज़ा भी फैला। लॉर्ड ऐल्गिन वाइसरॉय थे और एँटनी मैक्डॉनेल्ड सूबे के लेफ़्टिनेंट-गवर्नर थे। लोग समझते थे कि छोटे-बड़े सरकारी कर्मचारी ख़ुशनीयत नहीं हैं। जून, १८९७ तथा सितंबर, १८९९ में अवध तथा भारत के अन्य स्थानों में दुर्भिक्ष के चिन्ह दिखाई देने लगे। पहले दुर्भिक्ष को अभी दो वर्ष भी नहीं हुए थे। वर्षा के अभाव से अक्तूबर, १८९९ में राजपूताना में दुर्भिक्ष पड़ा। डकैतियाँ पड़ने लगीं। बड़े-बड़े मारवाड़ी जोधपुर छोड़ कर भाग गए और भीख माँग-माँग कर गुज़र करने लगे।—'उर्दू', अप्रैल, १९११

देश के उद्योग-धंधों और कृषि का ध्वंस हुआ, तो भी घुणाक्षरन्याय से उससे मृतप्राय जीवन-सङ्गठन के स्थान पर नवीन क्रान्तिकारी व्यवस्था का जन्म हुआ और जीवन नई-नई दिशाओं की ओर प्रधावित हुआ। ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत सैनिक सङ्गठन, सड़कों, रेल, तार, प्रेस, डाक-विभाग, नवशिक्षा, आदि की स्थापना से देश में एकसूत्रता स्थापित हुई और औद्योगिक एवं वैज्ञानिक उन्नति में सहायता मिली। शासकों ने स्वार्थवश ही इस ओर ध्यान दिया था। न केवल भारतवर्ष के सुदूर स्थित स्थानों के बीच का फ़ासला ही कम हुआ, वरन् भारत और इँगलैंड का पारस्परिक सम्बन्ध बढ़ जाने की भी बहुत गुंजायश हो गई। इससे देश में पश्चिमी विचारों का प्रचार भी अधिकाधिक हो चला। वैसे तो रेल, तार, आदि का बनना कंपनी के राज्य में डलहौज़ी के शासनान्तर्गत ही शुरू हो गया था, किन्तु उसके शासन का अन्त हो जाने के बाद ही यह आयोजना पूर्ण हो सकी। लगभग १८४० तक कंपनी सरकार ने सड़कों और नहरों आदि के सम्बन्ध में प्रायः कुछ भी नहीं किया था। उस समय एक स्थान से दूसरे स्थान तक सेना ले जाना ही मुख्य ध्येय था। किन्तु शीघ्र ही कर्नल कूटले ने नहरें बनाने का कार्य शुरू किया। तत्पश्चात् हेनरी कॉटन ने उनका कार्य आगे बढ़ाया। रेल, तार, डाक और सड़कों की ओर भी डलहौज़ी ने ध्यान दिया। सैनिक दृष्टि से ही नहीं वरन् व्यापारिक दृष्टि से भी यह कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। उनके समय में बम्बई, कलकत्ता और लाहौर को जोड़ते हुए रेलवे कंपनियों ने रेलें बनाना शुरू कर दिया था। इन्हीं उद्देश्यों से प्रेरित होकर तारों की प्रबल शक्ति का भी प्रबन्ध किया गया।[1]

---

[1] अँगरेज़ी राज्य में रेल, तार, नल, जन-गणना, आदि के सम्बन्ध में हिन्दी के कुछ प्रसिद्ध कवियों की ही कविताएँ नहीं मिलतीं, वरन् कुछ लोक-गीत भी मिलते हैं, जैसे :

फिरंगी, तेरो राज सुन्दर सदा रहियो।
तैने रुपिया चलाये चेहरा - साही।
फिरंगी, तेरो राज....
तैने सड़क पर रेल चलाई।
फिरंगी, तेरो राज....
तैने धुएँ के शब्द उड़ाए।
फिरंगी, तेरो राज....

यूरोप में भाप की शक्ति का आविष्कार हो जाने और फिर एलेक्ज़ैंड्रिया तथा स्वेज़ (१८६६) का मार्ग खुल जाने से भारत और यूरोप के बीच का फ़ासला कम हुआ और आने जाने की सुविधा हो गई। यातायात के इन साधनों

तैने नेनू चलाये बूटेदार।
फ़िरंगी, तेरो राज...
तैने पैसा चलाये कलदार।
फ़िरंगी, तेरो राज...
तेरी रैयत ने सुख पाई।
फ़िरंगी तेरो राज...

× × ×

फ़िरंगी तैने अच्छे नल-नल लगवाये।
कलकत्ते से नल मँगवाये; मैथान लगवाये।
राजा की मंडी, लोहे की मंडी, गोकुलपुरा लगाये। फ़िरंगी तैने...
द्वार-द्वार पर टिकट लगाये; सब के नाम लिखाये। फ़िरंगी तैने...
थेला उठाये, इगहल धरि दीनों, औंधे कैसा मारे। फ़िरंगी तैने...
ताल खोदा, तलैया खोदाई, वामें गोला गरकाये।
जमुना काटि कै पानी मँगाये, दोहरे पेच लगाये। फ़िरंगी तैने...

(आगरा ज़िले में गाया गया)

× × ×

राजा फिरंगी रेल चलाई; छिन में आती जाती है।
छिन् ही दिल्ली, छिन् ही आगरा, छिन् ही भरतपुर आती है।
अन्न न खाती, पानी पीती, धुआँ के बल से जाती है।
कच्ची सड़क पर वह नहिं चलती, लोहे लट्ठों पर जाती है।
आगे अंजन पीछे गाड़ी, 'भक् भक्' होती जाती है।
बिगुल बजत और सीटी देती, झंडी दिखाई जाती है।
राजा फिरंगी रेल चलाई; छिन में आती जाती है।

मौलवी मज़हर अली सँदीलवी ने अपनी डायरी (१८६७-१९११) में लिखा है कि लोग शौकिया रेल पर चढ़ने के लिए दूर-दूर से आते थे। १८६८ में तमाम भारत में जन-गणना हुई।

का देश के साधारण जीवन पर व्यापक प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी था। किन्तु कंपनी के शासन का अन्त हो जाने के बाद ही नवीन वैज्ञानिक साधनों का वास्तविक प्रभाव दृष्टि-गोचर हो सका। इन साधनों से भारतीय पत्रकारकला और फलतः गद्य की उन्नति हुई।

यातायात के आधुनिक वैज्ञानिक साधनों के साथ-साथ अँगरेज़ी भाषा के माध्यम द्वारा भी एकता का सूत्रपात हुआ और भविष्य के लिए भारतीय प्रगति की अच्छी आशा बँध गई। पाश्चात्य विज्ञान और साहित्य का ही भारतीय विचार-धारा पर प्रभाव नहीं पड़ा, वरन् रेल और समुद्र-यात्रा से हिन्दुओं के सामाजिक प्रतिबन्ध भी शिथिल होने लगे। उधर पाश्चात्य विद्वान् भी देश की कला और संस्कृति का अध्ययन कर उसके प्राचीन गौरव का अध्ययन करने में लग गए। भारतवासियों को देश की प्राचीन ज्ञान-गरिमा की याद दिलाने में इस कार्य ने अच्छा योग दिया। भारतेन्दु के जीवन-काल में तथा उसके बाद सब सुधारों और नई शक्तियों का यहाँ के धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, और साहित्यिक जीवन पर प्रभाव पड़े बिना न रह सका। यातायात के साधनों की उन्नति में ब्रिटिश पूँजीवादी आर्थिक नीति का बहुत बड़ा हाथ था। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासक भारतवासियों की सामाजिक, राजनीतिक, आदि उन्नति के लिए वास्तव में उत्सुक थे। वास्तविक उन्नति तो स्वयं भारतवासियों ने विविध नए साधनों से लाभ उठाने की चेष्टा द्वारा की। अस्तु, अँगरेज़ी साम्राज्यवादी नीति ने परोक्ष रूप से भारतीय जीवन की प्राचीन व्यवस्था छिन्न-भिन्न कर नवीन समाज का निर्माण करने में सहायता की। लेकिन भारत ने जो थोड़ी उन्नति की भी उसके लिए उसे कितना भारी मूल्य देना पड़ा, यह विचारने की बात है।

इन सब परिवर्तित परिस्थितियों, सुधारों और शक्तियों के फलस्वरूप हिन्दी प्रदेश में एक नवयुग का जन्म हुआ जिसका जीवन और अन्त में साहित्य पर प्रभाव पड़े बिना न रह सका। उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में उसका प्रथम चरण था।

भारतवासी बहुत दिनों से अपनी स्वाधीनता खो बैठे थे। कोई देख-रेख करने वाला न रह जाने पर हिन्दू धर्म का ह्रास होने लगा था। जिस समय अँगरेज़ों का आधिपत्य स्थापित हुआ उस समय हिन्दू धर्म शिथिल हो चुका था। ब्राह्मण अपने उच्च आसन से पतित हो चुके थे और जिस धर्म के तत्वज्ञान के आगे संसार सिर झुकाता है, वे उसी को भूल कर दान लेने

में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ बैठे थे। लेकिन अज्ञान और अन्ध-परम्परा से संवेष्टित अशिक्षित भारतीय जनता अब भी उनके आगे माथा टेक रही थी। यह जाति की दुर्बलता और प्राणशून्यता का परिचय था। देश-काल के अनुसार सामाजिक और धार्मिक सुधारों की ओर किसी ने ध्यान न दिया। सच तो यह है कि मानसिक अध्यवसाय रहने पर भी भारतवासी जड़ पदार्थ में परिणत हो गए थे। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त पण्डे, पुरोहित, ज्योतिषी, 'गुरु', आदि जैसे अशिक्षित और अर्द्ध-शिक्षित ब्राह्मण हिन्दू समाज पर छाए हुए थे। उनके मुख से सुनी हुई ग़लत या ठीक बातों को समाज वेद-वाक्य मान कर तदनुकूल आचरण करने के लिए प्रस्तुत रहता था। अपने अधिकार, उच्चपद और आमदनी खो देने के भय से ब्राह्मण परम्परागत धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन होते देखना नहीं चाहते थे। सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मण वर्ग के अतिरिक्त अन्य किसी वर्ग को धर्मशास्त्रों का अध्ययन करके धार्मिक जीवन के सञ्चालन करने का अधिकार न होने तथा संस्कृत भाषा से परिचित न होने के कारण समाज ब्राह्मणों का पतित शासन उखाड़ फेंकने में असमर्थ था। ऐसे ही पतित धार्मिक शासन के अन्तर्गत क्रूर, अत्याचारपूर्ण और हृदय-विदारक सती-प्रथा जैसी अन्य अनेक कुप्रथाओं और कुरीतियों का प्रचार था। कूप-मण्डूक ब्राह्मणों तथा उनके अनुयायियों के विरोध करने पर भी उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में राजा राममोहन राय, द्वारिकानाथ ठाकुर, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर प्रभृति सज्जनों की सहायता से बैंटिंक (१८२८-१८३५) तथा कंपनी के कुछ अन्य कर्मचारियों ने इन कुप्रथाओं और कुरीतियों को बन्द करने का प्रयत्न किया था। बाल-हत्या और नर-बलि तक धर्म-सम्मत मानी जाती थी। बाल-विवाह समाज में घुन की तरह काम कर रहा था। वर्ण-भेद के अन्तर्गत असंख्य जातियों और उपजातियों में विभाजित होने के कारण भारतवासियों को सङ्गठित होने में बड़ी कठिनाई पड़ रही थी। इनके साथ ही विधवा-विवाह-निषेध, बहुविवाह, खानपान-सम्बन्धी प्रतिबन्ध, समुद्र यात्रा के कारण जाति-बहिष्कार, नशाखोरी, पर्दा, स्त्रियों की हीनावस्था, धार्मिक साम्प्रदायिकता, अफ़ीम खाना, आदि अनेक कुप्रथाओं का चलन हो गया था। इनमें से कुछ तो काल-वश स्वयं हिन्दू जाति में उत्पन्न हो गई थीं और कुछ विदेशी आक्रमणकारियों के कारण फैल गई थीं। हिन्दू धर्म के बाह्य, समय-समय पर बदलते रहने वाले और अप्रधान तत्वों को वास्तविक, मूल और प्रधान तत्व मान कर लोग धर्माचरण करने लगे; वे हिन्दू धर्म के सच्चे

रूप से अनभिज्ञ थे। आलोच्य-काल में हिन्दू धर्म और समाज की अत्यन्त शोचनीय अवस्था हो गई थी।

उन्नीसवीं शताब्दी में अँगरेज़ों की जीवित जाति के संस्पर्श में आने से देश के जीवन का उससे प्रभावित होना अनिवार्य था। मुसलमान शासकों की भाँति अँगरेज़ों ने भारतवर्ष अपना घर नहीं बनाया, यह ठीक है। लेकिन तो भी यूरोप की सभ्यता का आघात पाकर पहले बंगाल और फिर समूचा देश उत्तेजित हो उठा। ऐसी अवस्था में आत्मगरिमा भूली हुई हिन्दू जाति में अभ्युदयाकांक्षा के जन्म से नवजीवन का सञ्चार होना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी।

हिन्दू जाति की नवजात चेतना के मूल में वैज्ञानिक साधनों तथा नवशिक्षा ये दो प्रधान कारण थे। उच्च शिक्षा का प्रबंध भारत में प्राचीन काल से था। मुसलमानी काल में भी हिन्दुओं और मुसलमानों की शिक्षा क्रमशः पंडितों और मौलवियों के हाथ में थी। यह शिक्षा प्रधानतः धार्मिक और परंपरागत थी। अठारहवीं शताब्दी की अराजकतापूर्ण परिस्थिति और अँगरेज़ी शासन के प्रारंभिक काल में यह शिक्षा-सङ्गठन टूट चुका था। तब भी शिक्षा का आदर बना हुआ था। किन्तु अब वह समयानुकूल न रह गई थी। पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क से देश में बड़े-बड़े परिवर्तन हो रहे थे। ज्ञान-विज्ञान की दिन प्रति दिन उन्नति हो रही थी। ऐसी दशा में केवल धार्मिक शिक्षा से ही काम न चल सकता था। शुरू में बहुत दिनों तक कंपनी ने भारतवासियों की शिक्षा की ओर ध्यान न दिया। वारेन हेस्टिंग्ज़ (१७७४-१७८५) और बम्बई के गवर्नर, जॉनेथन डंकन (१७६५-१८११), ने हिन्दू और मुसलमानों को क्रमशः संस्कृत और फ़ारसी के माध्यम द्वारा सांस्कृतिक शिक्षा देने का प्रयत्न किया था। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में ईसाई मिशनरियों, डेविड हेअर (१८१६), स्टुअर्ट एलफिंस्टन (१८२४), एलेक्ज़ेंडर डफ़ (१८३०) और राजा राममोहन राय जैसे प्रगतिशील भारतवासियों के व्यक्तिगत प्रयत्नों के फलस्वरूप अँगरेज़ी शिक्षा का प्रचार होने लगा था। सामाजिक और धार्मिक कुरीतियों को देखते हुए अँगरेज़ी शिक्षा-प्रचार की परम आवश्यकता समझी गई। ईसाई धर्म का प्रचार करने वाली मिशनरी सोसायटियों और आधुनिक भारत के आदि गुरु राजा राममोहन राय ने तत्कालीन राज्य-सत्ता का ध्यान नवीन शिक्षा की ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न किया। राजा साहब पाश्चात्य साहित्य और विज्ञान की शिक्षा के प्रचार से प्राचीन शिक्षा-प्रणाली बदल कर देश का

सामाजिक जीवन सुधारना चाहते थे। ईसाई मिशनरियों का प्रधान उद्देश्य तो ईसाई धर्म का प्रचार करना था, लेकिन भारत जैसे प्राचीन देश में विचार-शैली परिवर्तित किए बिना केवल धर्म का प्रचार करना दुस्तर कार्य था। इसलिए उन्होंने नवीन शिक्षा-प्रणाली प्रचलित करने की पूरी कोशिश की। वे देश की तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों को सामने रखते हुए उनकी तुलना में ईसाई धर्म की श्रेष्ठता सिद्ध करना चाहते थे। राजा राममोहन राय प्राचीन गौरव की याद दिला कर देश का समयानुकूल सुधार करना चाहते थे। कंपनी-सरकार अँगरेज़ी शिक्षा-प्रणाली अपनाने में इसलिए डरती थी कि भारतीय जनता कहीं उसे अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक रूढ़ियों पर आघात न समझ बैठे। किन्तु कंपनी का शासन-कार्य ज्यों-ज्यों पेचीदा होकर बढ़ता गया त्यों-त्यों उसे सरकारी दफ़्तरों में काम करने के लिए अँगरेज़ी शिक्षित भारतवासियों की आवश्यकता पड़ने लगी; क्योंकि स्पष्ट है कि सभी सरकारी नौकरियों के लिए वह इँगलैंड से अँगरेज़ बुला कर न रख सकती थी। अस्तु, साम्राज्य दृढ़ बनाने की दृष्टि से १८३३ में सरकार ने अपनी शिक्षा-नीति बदली। मैकॉले की मिनिट्स के अनुसार उसने अँगरेज़ी शिक्षा के प्रचार का कार्य हाथ में लिया। १८३५ में गवर्नमेंट का प्रस्ताव प्रकाशित हुआ। १८४४ में हार्डिंज का घोषणा-पत्र प्रकाशित हुआ कि सरकारी नौकरियाँ अँगरेज़ी पढ़े-लिखे लोगों को दी जा । इससे अँगरेज़ी के प्रचार में बहुत बड़ी सहायता मिली।

१८५३ में कंपनी को नया चार्टर मिला। उस समय पहली आयोजना को बीस वर्ष हो चुके थे। मैकॉले द्वारा निर्धारित शिक्षा-पद्धति में सुधार की आवश्यकता का अनुभव हुआ। बैंटिंक और मैकॉले के बाद और १८५४ से पहले के वाइसरॉय अँगरेज़ी शिक्षा के प्रचार के पक्षपाती नहीं थे, क्योंकि उन्हें डर था कि अँगरेज़ी शिक्षा के प्रचार से भारतवर्ष अँगरेज़ों के हाथ से तीन महीने में निकल जायगा। हार्डिंज ने वर्नाक्यूलर और अँगरेज़ी शिक्षा-प्रचार के सम्बन्ध में अच्छा कार्य किया। १८५४ में सर चार्ल्स वुड की शिक्षा-आयोजना के अनुसार उच्च शिक्षा के साथ-साथ गाँव-गाँव में पाठशालाएँ खोलने की व्यवस्था की गई। गाँवों में प्राथमिक शिक्षा-सम्बन्धी संस्थाएँ और ज़िलों में हाई स्कूल खोले गए। देशी भाषाओं पर भी ज़ोर दिया गया। मैकॉले की शिक्षा-नीति के कारण देशी भाषाओं में ज्ञान-विज्ञान-सम्बन्धी पुस्तकों की रचना का क्रम रुक अवश्य गया था, किन्तु निम्न कक्षाओं के लिए देशी भाषाओं में पुस्तकों की रचना बराबर होती

रही। चार्ल्स वुड की आयोजना के अन्तर्गत भी इस प्रकार की पुस्तकों की फिर से आवश्यकता हुई। वे पाश्चात्य विज्ञान, साहित्य और इतिहास के ज्ञान का अध्ययन देश में फैलाना चाहते थे। उन्होंने हाई स्कूल तक की प्रारम्भिक शिक्षा का माध्यम देशी भाषाएँ और उच्च शिक्षा का माध्यम अँगरेज़ी रखने की सम्मति प्रकट की। देशी भाषाओं को वे दबाना नहीं चाहते थे। उन्होंने सोचा था कि ऊपर से पढ़ कर आए हुए लोग जब प्रारम्भिक स्कूलों में पढ़ावेंगे तो वे आवश्यकतानुसार देशी भाषाओं में ज्ञान-विज्ञान का भाण्डार बढ़ावेंगे, परन्तु अँगरेज़ी सरकार ने अपने हित-साधन के लिए स्वार्थपूर्ण नीति का अवलम्बन ग्रहण कर चार्ल्स वुड की आयोजना में उल्लिखित बातों को कार्यरूप में परिणत न किया और न किसी और तरह से प्रोत्साहन ही दिया। फलतः न तो शिक्षा का जैसा प्रचार होना चाहिए था वैसा प्रचार ही हुआ और न देशी भाषाओं की उन्नति ही हुई। उच्च शिक्षा के लिए अँगरेज़ी माध्यम थी। १८५७ में कलकत्ता, मद्रास और बंबई विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। बाद को लाहौर (१८८२) और प्रयाग (१८८७) विश्वविद्यालय भी स्थापित किए गए। महारानी विक्टोरिया के शासन-काल के अन्तिम वर्ष (१९०१) में अँगरेज़ी संस्थाओं में शिक्षा पाने वाले विद्यार्थियों की संख्या चालीस लाख थी। इन संस्थाओं द्वारा भारत में पाश्चात्य विचार-धारा का काफ़ी प्रचार हुआ।

उच्च अँगरेज़ी शिक्षा के फल-स्वरूप भारतीय शिक्षित समुदाय यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान का महत्व समझने लगा था। उस समय संस्कृत-शिक्षा का ह्रास हो चुका था। प्राचीन भारत के सम्बन्ध में ज्ञानोपार्जन करने के लिए शिक्षितों को मैक्समूलर तथा अन्य पाश्चात्य विद्वानों की कृतियाँ उठाकर देखनी पड़ती थीं। कुछ भारतीय इतिहास-लेखक भी अपनी कृतियों से भारत के प्राचीन गौरव पर प्रकाश डाल कर देशवासियों का 'राष्ट्रीय गर्व' बढ़ा रहे थे। अपने पूर्वपुरुषों की रचनाओं को वे ज्ञान के क्षेत्र में अन्तिम समझते थे। अरबी, फ़ारसी और उर्दू साहित्य के स्थान पर भी अँगरेज़ी साहित्य का अध्ययन होने लगा था। कुछ लोग तो ऐसे भी मौजूद थे जो प्राचीन ज्ञान को रद्दी के टोकरे में फेंकने योग्य समझते थे। संक्षेप में, प्राचीन भारत के प्रति लोगों को किसी-न-किसी रूप में अनभिज्ञता ही अधिक थी। अँगरेज़ी भाषा को माध्यम बनाने से भारतीय साहित्य और जीवन का बड़ा अहित हुआ। भाषाओं की उन्नति रुक गई और देश की क्रियात्मक शक्ति का ह्रास हो गया। पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से अँगरेज़ी पढ़ने-लिखने वालों की

मौलिकता और मानसिक शक्ति का विकास न हो सका। जिन महान् व्यक्तियों पर आज देश गर्व करता है वे इस शिक्षा-प्रणाली के कारण नहीं, वरन् अपनी शक्ति से उसकी बुराइयाँ दूर करने के कारण आगे बढ़ सके। नहीं तो इस शिक्षा का कुप्रभाव किसी से छिपा नहीं है, और न उस समय छिपा हुआ था। भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, आदि साहित्यिकों ने भरसक उसके विनाशकारी प्रभावों से बचने के लिए चेतावनी दी। इस शिक्षा के पीछे अँगरेज़ों का जो ध्येय था उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। केवल शुद्ध साहित्यिक शिक्षा के अतिरिक्त अन्य उपयोगी शिक्षाओं का प्रबन्ध इन संस्थाओं में नहीं था। फलतः भारतीय जीवन का एकाङ्गी और सङ्कीर्ण विकास हो पाया। अँगरेज़ी शिक्षित व्यक्ति सरकारी नौकरी, अध्यापन-कार्य, वकालत और डॉक्टरी करने के सिवाय और किसी काम के न रह गये। शीघ्र ही इन क्षेत्रों में भी उन्हें बेकारी का सामना करना पड़ा।

अँगरेज़ी राज्य में प्रचलित वैज्ञानिक साधनों तथा नवीन शिक्षा के प्रचार और भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया का एक और महत्वपूर्ण पहलू है। हिन्दू धर्म तथा जीवन में पहले भी अनेक परिवर्तन हुए थे। किन्तु ये परिवर्तन देश-जीवन की आभ्यन्तरिक शक्तियों के स्वाभाविक विकास के रूप में हुए थे। उन्नीसवीं शताब्दी में जो परिवर्तन हुए वे स्वाभाविक विकास के रूप में न होकर दो भिन्न सभ्यताओं के सम्पर्क द्वारा हुए। सम्पर्क स्थापित होने के समय इन दो सभ्यताओं में एक दुरूह, उन्नत तथा सजीव थी और दूसरी सरल, पतित और गतिहीन थी। फलतः पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क ने भारतीय समाज को स्वाभाविक प्रगति प्रदान न कर उसके अलसाये जीवन को तीव्र आघात तथा वेग से झकझोर डाला। इसलिए इस सम्पर्क से बहुत अच्छा परिणाम न निकल कर अनेक अंशों में सामाजिक एवं धार्मिक अराजकता का जन्म हुआ; समाज और धर्म में एक भारी सङ्कट उपस्थित हो गया। अँगरेज़ी शिक्षित अल्पसंख्यक लोगों के विचारों में तो क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए; वे पाश्चात्य सभ्यता के चकाचौंध की ओर आकृष्ट हुए। लेकिन साधारण जनता जीवन का प्राचीन क्रम अपनाए रही। जीवन के नवीन और प्राचीन क्रम में अनेक परस्पर-विरोधी बातें थीं। पश्चिमी सभ्यता द्वारा प्रदत्त जीवन-क्रम देश के परम्परागत एवं स्वाभाविक जीवन-क्रम के साथ मेल न खा सका। होना तो यह चाहिए था कि पश्चिमी विचारों से प्रभावित होकर नवशिक्षित भारतीय सामाजिक तथा धार्मिक जीवन के प्रधान तत्वों का फिर से मूल्याङ्कन कर साधारण जनता का

उचित रूप से मार्ग-प्रदर्शन करते। इसके स्थान पर उन्होंने जो कुछ प्राचीन था उसका घोर खण्डन तो किया, किन्तु देश के सामाजिक और आध्यात्मिक जीवन के अनुरूप कोई नवीन व्यवस्था न दी। परिणाम यह हुआ कि देश का साधारण जीवन जहाँ था वहीं पड़ा रहा और वे स्वयं उसमें न खप सके। वे अपने और देश के स्वाभाविक जीवन में कोई सन्तुलन स्थापित न कर सके। यदि पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव साधारण जनता तक पहुँच जाता तो सम्भवतः परिस्थिति दूसरी होती। इसके अतिरिक्त स्वयं नवशिक्षितों के जीवन में एक विषमता उत्पन्न हो गई थी जिससे वे कहीं के न रह गए। नवशिक्षितों का पुरातनत्व से लिप्त घरेलू जीवन उनकी नवीन शिक्षा से भिन्न था। वे अध्ययन तो करते थे मिल्टन, मिल, आदि के विचारों का, किन्तु घरों में पंडों-पुरोहितों के विचारों और मूर्ति-पूजा का प्रचार था। बौद्धिक दृष्टि से हिन्दू धर्म के प्रचलित रूप में विश्वास न रह जाने पर भी उनका सामाजिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक जीवन उसी से सञ्चालित होता था। इस विषमता तथा अराजकता का उत्तरदायित्व सरकारी शिक्षा-संस्थाओं पर था। लेकिन सरकार उसे दूर करने में भी असमर्थ थी। उसने तो केवल सती-प्रथा, बाल-हत्या, नर-बलि जैसी कुछ क्रूर प्रथाओं के सम्बन्ध में ही हस्तक्षेप किया था; अन्यथा वह सामाजिक तथा धार्मिक समस्याओं के प्रति उदासीन बनी रही। एक विदेशी सरकार के स्थान पर यह कार्य स्वयं भारतवासी ही अच्छी तरह कर सकते थे। और यद्यपि सामाजिक तथा धार्मिक अराजकता कुछ ही लोगों तक सीमित थी, तो भी उनका अस्तित्व समाज के लिए खतरे से खाली नहीं था। उनमें वास्तविक वस्तुस्थिति पहचान कर उसके अनुरूप कार्य करने की क्षमता रखने वाले लोग बहुत कम थे। किन्तु साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि जिन विषम परिस्थितियों में वे पड़ गए थे उन पर उनका कोई अधिकार नहीं था; वे मजबूर थे। वे लोग काफ़ी शिक्षित अवश्य थे, पर परिस्थितिवश अपने ही समाज में खप नहीं रहे थे। उनका मानसिक जीवन अनेक विरोधी तत्वों से पूर्ण था। अँगरेज़ी शिक्षा प्राप्त करने वालों में वे अग्रणी थे। इसके लिए उन्हें जो मूल्य चुकाना पड़ा वह किसी हालत में कम नहीं था। केवल जातीय संस्कारों और सामाजिक भावनाओं ने उनके जीवन की रक्षा की। पाश्चात्य सभ्यता के अनेक अवगुण आ जाने पर भी उनमें उसके सद्गुणों का अभाव नहीं था। सामाजिक, धार्मिक तथा घरेलू जीवन की अराजकताओं और राजनीतिक असन्तोष के बीच अपने जीवन का मार्ग प्रशस्त करने में नवशिक्षितों को

जिन कठिनाइयों का अनुभव करना पड़ा होगा उनका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। वैसे भी अँगरेज़ी शिक्षा का सूत्रपात हुए अभी बहुत दिन नहीं हुए थे। संक्रान्ति-कालीन अनेक दोष उस समय उत्पन्न हो गए हों तो कोई आश्चर्य नहीं। उस समय जो थोड़े-से व्यक्ति नवशिक्षा प्राप्त करने पर भी अपने जीवन-मूल से शक्ति सञ्चित करना न भूले, वे ही धर्म और समाज के सच्चे नेता बने। पाश्चात्य सभ्यता के प्रहार पर प्रहार सहन करने पर भी अपना अस्तित्व बनाए रखने वाले हिन्दू धर्म की मूल शक्ति और समाज की पुरातनत्व के प्रति मोह वाली प्रवृत्ति का वास्तविक रूप न पहचान कर केवल हिन्दू धर्म के श्रेष्ठ और हीन सभी रूपों का खण्डन करने वाले नव-शिक्षितों को अपनाने से समाज ने इन्कार कर दिया।

यद्यपि नवशिक्षा का सम्यक् प्रभाव अच्छा न पड़ा, तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह देश के लिए सर्वथा घातक सिद्ध हुई, या उसका कोई महत्वपूर्ण परिणाम ही नहीं हुआ। बुराइयाँ होते हुए भी भारतवासियों ने नवीन शिक्षा-प्रणाली के साथ पूरा सहयोग प्रकट किया। उसके सहारे ही वे समय की प्रगति के साथ आगे बढ़ सकते थे। पाश्चात्य विज्ञान और साहित्य तथा इतिहास के अध्ययन से देश की सामाजिक और धार्मिक अवस्था में बहुत-कुछ सुधार हुआ, नए-नए विचारों और राष्ट्रीयता का प्रचार हुआ, देश की राजनीतिक एवं नैतिक उदासीनता दूर हुई और वह उद्योग-धन्धों में दिलचस्पी लेकर आगे बढ़ा। भारतवासियों का उस विज्ञान से परिचय हुआ जिसने पश्चिम में औद्योगिक क्रान्ति की अवतारणा की थी और एशिया और अफ्रीका के महाद्वीपों पर साम्राज्यवाद का अंकुश बिठा दिया था। विज्ञान के अतिरिक्त बर्क, मिल, मौर्ले, स्पेंसर, मिल्टन, आदि पाश्चात्य विचारकों का भी उन पर प्रभाव पड़ा। मिल के विचारों ने स्त्रियों की स्वाधीनता और प्रतिनिधि शासन की ओर शिक्षितों का ध्यान आकृष्ट किया। पाश्चात्य विचारकों की रचनाओं में उनकी श्रद्धा प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। इंगलैंड और भारत के बीच आने-जाने की सुगमता हो जाने से पश्चिम के विचारकों और तत्कालीन इँगलैंड के विक्टोरियन सामाजिक आचार-विचारों और राजनीतिक आकांक्षाओं का देश में प्रभाव पड़े बिना न रह सका। पश्चिमी प्रभाव के कारण देशवासियों का दृष्टिकोण व्यापक हुआ, उनके जीवन के प्रत्येक पहलू में नई स्फूर्ति और उत्तेजना पैदा हुई। नवशिक्षितों में भी दो दल थे। एक दल तो वह था जिसे पश्चिम ने बिल्कुल मोह लिया था। दूसरा दल वह था जो अँगरेज़ी शिक्षा प्राप्त

करने पर भी भारतीयत्व बनाए रखना चाहता था। कहना न होगा कि हिन्दी साहित्यिकों का सम्बन्ध दूसरे दल से था। भारतीयत्व की उमङ्ग में कभी-कभी उनका 'प्रतिक्रियावादी' विचारों का पोषक हो जाना सम्भव था। किन्तु पश्चिम से मोहित अतिवादी सुधारकों की अपेक्षा समाज में उनका स्थान कहीं अधिक सहज स्वाभाविक था। सारांश यह है कि पाश्चात्य सभ्यता के स्पर्श से देश का शिक्षित समुदाय एक या दूसरी दिशा में चलने के लिए आतुर हो उठा था, उसमें गतिशीलता आ गई थी। इसके अतिरिक्त जो कुछ देश में था वह पुराना था और बहुत बड़े अंश में पुराना था।

आध्यात्मिकता के मूल तत्वों की भित्ति पर खड़ा हुआ वृहत् हिन्दू जीवन प्राणहीन हो गया था। काल-गति से उसका जीवन निस्तेज और निस्पन्द हो गया था। ईसाई और इस्लाम धर्मों से वह अत्यन्त प्राचीन था। इतने लम्बे समय में विभिन्न सङ्कट-कालों में उसकी विशालता ही उसके प्राण बचाने में बहुत उपयोगी सिद्ध हुई। ऊपरी विभिन्नता और कमज़ोरियाँ होते हुए भी हिन्दू समाज रहस्यमय आध्यात्मिक एकता के सूत्र में बँधा हुआ था। मुसलमानों के दीर्घकाल-व्यापी राजत्वकाल में इस्लाम धर्म से प्रभावित होकर देश जातीय उन्नति के मूल सामाजिक सङ्गठन, ऐक्य और स्वजाति-हितैषिता का महत्त्व समझने लगा था। इस्लाम धर्म का हिन्दू धर्म तथा समाज पर प्रभाव अवश्य पड़ा, किन्तु ऐसी अनेक बातें जिन्हें इस्लाम-धर्म से लिया बतलाया जाता है स्वयं हिन्दू धर्म की हैं। समय-समय पर पर विशेष परिस्थितियों का सामना करने के लिए समाज के नेताओं ने हिन्दू धर्म के अक्षय भाण्डार में से कोई एक अनुकूल तत्व खोज कर आत्म-रक्षा के साधन जुटाए। यही हिन्दू-धर्म की गतिशीलता है। मुग़ल साम्राज्य के ध्वंस के बाद अँगरेज़ों के साथ-साथ ईसाई मिशनरी भी इस देश में आए। अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक कंपनी सरकार ने राजनीतिक दृष्टि से ईसाई धर्म-प्रचारकों का पूरा विरोध किया। किन्तु वेलेज़ली की नीति और १८१३ के विल्बर्फ़ोर्स ऐक्ट से पादरियों का उत्साह बढ़ गया। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक ईसाई धर्म का भारत में काफ़ी प्रचार हो चुका था। हिन्दू और मुसलमानों के धर्मों पर उचित-अनुचित आक्षेपों के साथ उन्होंने आबकारी से होने वाली सरकारी आय के विरुद्ध आवाज़ उठाई। ईसाई धर्म में दीक्षित करने के प्रयोजन से वे कभी-कभी दीन-दुःखियों की आर्थिक सहायता भी कर देते थे। अफ़ीम का प्रचार करने की प्रथा का भी उन्होंने विरोध किया। लेकिन इतना सब कुछ होते हुए भी पन्द्रहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं

शताब्दी तक ईसाई मिशनरियों को बहुत कम सफलता मिल सकी थी। थोड़े से उच्च और निम्न श्रेणियों के भारतवासियों ने ही ईसाई धर्म में दीक्षा प्राप्त की। पर उन्नीसवीं शताब्दी में ब्राह्म समाज और आर्य समाज ने पतित हिन्दू समाज से असन्तुष्ट और उसके प्रति विद्रोह करने वाले भारतवासियों की सुधारवादी प्रवृत्ति और जिज्ञासा की परितुष्टि कर अनेक हिन्दू धर्मावलम्बियों को जो ईसाई या मुसलमान हो गए थे फिर से हिन्दू धर्म की सघन छाया के नीचे ले लिया। इस कार्य में उन्हें पूर्ण सफलता न मिल सकने का उत्तरदायित्व हिन्दू-समाज की कमज़ोर पाचन-शक्ति पर था। तब भी इन दो भारतीय धार्मिक आन्दोलनों से ईसाई और इस्लाम धर्म में सम्मिलित होने का स्रोत बहुत-कुछ बन्द हो गया। हिन्दू धर्म के पुनरुद्धार के लिए नई चेष्टाएँ की जाने लगीं। उसके बाद ईसाइयत का प्रचार निम्नश्रेणी के अशिक्षित समुदाय तक ही सीमित रह गया। नवशिक्षा और सामाजिक आन्दोलनों के फलस्वरूप आत्मविस्मृत भारतीय जनसमूह को फिर से अपने धर्म का श्रेष्ठत्व मान्य हुआ।

लेकिन इतना ज़रूर मानना पड़ेगा की ईसाई पादरियों ने अनेक भयङ्कर और क्रूर धार्मिक एवं सामाजिक प्रथाओं के विरुद्ध आन्दोलन किया और सरकार को उन प्रथाओं के बन्द करने पर मजबूर किया। उनका उद्देश्य हिन्दू धर्म की आलोचना कर ईसाई धर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित करना था। परन्तु धार्मिक विषयों में हस्तक्षेप न करने की नीति अँगरेज़ों ने शुरू से ही ग्रहण कर रक्खी थी। इसलिए लॉर्ड बैंटिंक के काल के अतिरिक्त कंपनी के राज्य में अनेक धार्मिक एवं सामाजिक कुरीतियाँ प्रचलित रहीं। धार्मिक और सामाजिक चेतना के फलस्वरूप स्वयं हिन्दुओं में उनके विरुद्ध आन्दोलन शुरू हो गया था। अनेक नवशिक्षित भारतीय उन कुप्रथाओं को रोकने का प्रयत्न करने लगे थे। सरकार को अच्छा अवसर मिला। उसने केवल तान्त्रिक मत को प्रबलता लिए हुए नर-मांस द्वारा देवी, चण्डिका, चामुण्डा और काली, आदि शक्तियों की उपासना बन्द कर दी। वंश-वृद्धि की कामना से कभी-कभी हिन्दू लोग अपने प्राणाधिक पुत्रों को गङ्गासागर में फेंक देते थे या देवताओं की बलि चढ़ा देते थे। कन्या को जन्म के समय ही मार डालते थे। सरकार ने ऐसी ही नृशंस रीतियाँ रोकने का प्रयत्न किया। किन्तु अब स्वयं हिन्दू समाज सुधारों के लिए प्रयत्नशील था। स्थान-स्थान पर सार्वजनिक सभाएँ की जाने लगीं जिनमें सती-दाह, बाल-हत्या, नर-बलि, बाल-विवाह, विवाह में फ़िज़ूलखर्च,

मद्यपान, वेश्यावृत्ति, आदि के विरोध में प्रस्ताव स्वीकार किए जाते थे। सरकार की हस्तक्षेप-नीति केवल दो-चार अमानुषी प्रथाओं तक ही बरती गई। गम्भीर धार्मिक विषयों में वह उदासीनता ग्रहण किए रही। इस नवजात चेतना के कारण हिन्दू धर्म की उन्नति और उसमें विश्वश्रेष्ठ आत्मगरिमा पुनर्जीवित करने के लिए अनेक महान् व्यक्ति अपना जीवन उत्सर्ग करने लगे।

आलोच्य-काल में प्रेस का भी शिक्षा-प्रचार और साहित्यिक उन्नति के साथ अभिन्न सम्बन्ध है। ज्यों-ज्यों हिन्दी प्रदेश में प्रेसों का प्रचार बढ़ता गया, त्यों-त्यों हिन्दी गद्य भी विकसित होता गया, यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। प्रेस के साथ ही समाचार-पत्रों का सम्बन्ध है। हेस्टिंग्ज़ और कॉर्नवालिस के समय में बंगाल और फिर मद्रास में कई प्रेस खुल गए थे। उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के प्रारम्भ में विलायत से खबरों के आने-जाने का साधन हो जाने, और नवशिक्षितों का सार्वजनिक क्षेत्र में काम करने से प्रेस को प्रोत्साहन मिला। राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक और साहित्यिक नेताओं के हाथ में यह एक प्रबल अस्त्र था। इससे वे लोकमत को जिस रास्ते लगाना चाहते थे लगा सकते थे। राजनीतिक क्षेत्र में काम करने वाले नवशिक्षितों का किसी एक पत्र के सहारे बिना काम चल ही नहीं सकता था। पहले-पहल उन्होंने अँगरेज़ी में पत्र निकाले। लेकिन शीघ्र उन्होंने अपनी ग़लती महसूस की और उनमें से कई ने देशी भाषाओं में भी पत्र निकाले। हिन्दी-प्रचार, धर्म और समाज-सुधार-सम्बन्धी तो अनेक पत्र निकलते थे। पत्रों के साथ-साथ हिन्दी के साहित्यिक रूप निबन्ध का विकास हुआ और हिन्दी गद्य नए-नए साँचों में ढाला जाने लगा।

अँगरेज़ी राज्य के अन्तर्गत शासन तथा आर्थिक व्यवस्था और नवशिक्षा के कारण जहाँ अनेक परिवर्तन हुए वहाँ सबसे बड़ा परिवर्तन भारत की सामाजिक व्यवस्था में मध्यम वर्ग का जन्म होना था—एक प्रकार से अन्य सभी परिवर्तन इसी मध्यम वर्ग के कारण हुए। उच्चवर्ग नवीन प्रभावों से अलग कट्टर और अपरिवर्तनशील था। उन्हें नवीन शिक्षा देने की न तो शासकों की (राजनीतिक दृष्टि से) नीति थी और न उन्होंने स्वयं उसके प्रति रुचि प्रकट की। निम्नवर्ग निर्धन और अशिक्षित था। अस्तु, वकील, डॉक्टर, अध्यापक, साधारण हैसियत के व्यापारी, सरकारी नौकरों, आदि का ही एक वर्ग ऐसा था जो नवशिक्षा ग्रहण कर पाश्चात्य सभ्यता के अधिक से अधिक सम्पर्क में आया था। इसलिए यही

नवचेतना से सबसे अधिक प्रभावित था। नवीन विचारों से प्रेरित होकर मध्यम वर्ग ने भारतीय जीवन में अभूतपूर्व क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित किए। इसी वर्ग के माध्यम द्वारा भारत आधुनिकता की ओर अग्रसर हो कर संसार के अन्य देशों से सम्पर्क स्थापित कर सका है। उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में इस वर्ग की चेतना का जन्म प्रधानतः राजनीतिक और आर्थिक रूप में हुआ था। नवोत्थानकालीन होने के कारण इस वर्ग की राजनीतिक राष्ट्रीयता बहुत-कुछ हिन्दुत्व लिए हुए थी और 'हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्थान' उसके मुखशब्द थे। साथ ही वर्ग, धर्म एवं साम्प्रदायिक विषयों से सम्बन्ध रखनेवाली एक दूसरी राजनीतिक विचारधारा थी जिसने साम्प्रदायिक निर्वाचन, सरकारी नौकरियों, आर्थिक रियायतों, आदि की माँगों को जन्म दिया। दोनों विचारधाराएँ तत्कालीन भारत में प्रचलित थीं और कहीं-कहीं आपस में एक-दूसरे को छूकर फिर अलग हो जाती थीं। किन्तु राजनीति के निराशा और अन्धकारपूर्ण वातावरण में यह वर्ग धार्मिक और सामाजिक विषयों की ओर झुका; क्योंकि एक ओर से निराश होने पर जीवन शून्य में स्थित नहीं रह सकता था, उसे किसी न किसी सांस्कृतिक आधार की आवश्यकता थी। धर्म तथा समाज के अतिरिक्त उसकी आन्तरिक सन्तुष्टि का और कोई साधन न रह गया था। इससे न तो सरकार को किसी का डर था और न किसी को सरकार का डर था। विक्टोरिया के घोषणा-पत्र ने भी ठीक इसी समय शासन की ओर से धार्मिक और सामाजिक सहिष्णुता का परिचय दिया। उसने समाज को अछूता छोड़ दिया। नवोदित राष्ट्रीयता वैसे भी देश के प्राचीन गौरव की अपेक्षा रखती है। उसने इस्लामी और भारतीय सभ्यताओं के सम्पर्क से उत्पन्न मिश्रित जीवन की ओर ध्यान न दिया। और अन्त में राष्ट्रीय चेतना का रूप राजनीतिक और आर्थिक न रह कर प्रमुख रूप से धार्मिक और आर्थिक राष्ट्रीयता के रूप में परिणत हो गया। मध्यम वर्ग की इसी नवचेतना ने भारतीय नवोत्थान का रूप ग्रहण किया।

संसार में प्रायः धर्म और समाज में अभिन्न सम्बन्ध रहता है। किन्तु हिन्दू धर्म में यह बात सबसे अधिक देखी जाती है। हिन्दू धर्म वास्तव में धार्मिक व्यवस्था की अपेक्षा सामाजिक व्यवस्था अधिक है। धर्म की दृष्टि से उसमें अनेक 'वादों' का सङ्घटन होते हुए भी अनेकता में एकता का सूत्र अन्तर्निहित है। पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क से उत्पन्न नवीन धार्मिक तथा सामाजिक आन्दोलनों के मूल में यही तथ्य था। नवशिक्षित हिन्दुओं ने

नवोत्थान की भावना से अनुप्राणित होकर धर्म और समाज की कुरीतियाँ और कुप्रथाएँ दूर करने का प्रयत्न किया।

सुधारवादी आन्दोलनों का सूत्रपात पश्चिमी प्रभाव के अन्तर्गत सर्वप्रथम बंगाल के ब्राह्म समाज (१८२८) द्वारा हुआ। हिन्दी साहित्य का इससे कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था। ब्राह्म समाज ने धर्म-शिथिल भारतवासियों को विशुद्ध हिन्दू धर्म का ज्ञान कराने का प्रयत्न किया और धीरे-धीरे परंपरानुगत कट्टरता का लोप होने लगा। किन्तु 'कट्टर' हिन्दूपन के लोप होने के साथ-साथ उस पर पश्चिमी प्रभाव अधिकाधिक बढ़ता गया। पाश्चात्य विचारधारा की नींव पर तो वह पहले से ही स्थापित था। पश्चिमी प्रभाव बढ़ जाने से 'कट्टर' हिन्दू ब्राह्म समाज आन्दोलन से और भी अलग रहने लगे। बंगाल के शिक्षित समुदाय पर उसका जो प्रभाव पड़ रहा था उसे भारतेंदु अपनी बंगाल-यात्रा में देख आए थे। यह आन्दोलन समाज के एक विशेष अल्पसंख्यक शिक्षित समुदाय तक ही सीमित था।

किन्तु शीघ्र ही सुधारवादी आन्दोलनों ने विशुद्ध भारतीय दृष्टिकोण अपनाना शुरू किया। यह प्रतिक्रिया बढ़ते हुए पश्चिमी प्रभाव के विरोध स्वरूप थी। कुछ पश्चिमी विद्वानों द्वारा प्राचीन भारतीय साहित्य के अध्ययन से देशवासियों को अपने प्राचीन गौरव का ज्ञान प्राप्त होने पर उस प्रतिक्रिया को और भी बल प्राप्त हुआ। हॉजसन (Hodgson) ने १८३३-४४ तक नैपाल में बौद्ध-मत सम्बन्धी खोज और रॉथ ने १८४६ में वैदिक साहित्य और उसके इतिहास पर अपनी रचना प्रकाशित की। तत्पश्चात् बोत्लिंक (Bohtlingk) ने १८५२ और मैक्समूलर ने १८४६ से १८७५ तक अपनी रचनाएँ प्रकाशित कीं। उनके बाद प्रिंसेप, कनिघम, एड्विन आर्नल्ड तथा यूरोप के अन्य अनेक विद्वानों ने इस ओर विशेष कार्य किया। उनकी खोजों और रचनाओं का शिक्षित भारतवासियों पर बहुत प्रभाव पड़ा। उन्हें अपने पूर्वजों की महानता का परिचय प्राप्त हुआ। थियोसोफ़ीकल सोसायटी (१८७५) ने भी देशवासियों का देश के प्राचीन गौरव की ओर ध्यान आकृष्ट किया। बनारस, कलकत्ता तथा अनेक छोटे-छोटे स्थानों पर संस्कृत शिक्षा भी कुछ-कुछ जारी थी। इन सब कारणों से बढ़ते हुए पश्चिमी प्रभाव के विरुद्ध प्रतिक्रिया होना और भारत की प्राचीन ज्ञान-गरिमा की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक था। इस प्रतिक्रिया ने विशुद्ध भारतीय दृष्टिकोण अवश्य अपनाया, किन्तु उद्देश्य विशुद्धवादियों का भी सुधारवादी था। उन्होंने तत्कालीन प्रचलित हिन्दू धर्म को ज्यों का त्यों

न अपना कर कुरीतियों, कुप्रथाओं तथा कालगति से उत्पन्न अनेक दोषों से मुक्त उसका वास्तविक और विशुद्ध रूप जनता के सामने रक्खा।

भारतीय नवोत्थान के विशुद्ध दृष्टिकोण का सर्वोत्तम उदाहरण हमें आर्य समाज आन्दोलन में मिलता है। इस आन्दोलन ने हिन्दू धम का पुनरुद्धार करने के लिए महान् प्रयत्न किया। अनेक व्यक्तियों ने घर-बार छोड़ कर उसके हित जीवन का उत्सर्ग कर दिया। इस काल के ऐसे महान् व्यक्तियों में से, जिनका हिन्दी भाषा और साहित्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है, स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२४-१८८३) का नाम बड़े गौरव और आदर के साथ लिया जा सकता है। १८७५ में उन्होंने आर्य समाज की स्थापना की। थोड़े ही समय में समस्त उत्तरी भारत में उसका प्रचार हो गया और स्थान-स्थान पर उसकी शाखाएँ खुल गईं। भारतेन्दु के जीवन-काल में ही आर्य समाज का प्रचार हो गया था और भारतवासियों ने बहुत बड़ी संख्या में उसे अपनाया। ब्राह्म समाज से कहीं अधिक प्रचार आर्य समाज का हुआ। उसने शिक्षितों को ही नहीं, वरन् अशिक्षित या अर्द्ध-शिक्षित जनता को भी प्रभावित किया। इससे समाज में कट्टरता और ईसाई और मुस्लिम धर्म-प्रचार को आघात पहुँचा। रूढ़िग्रस्त धर्म से असन्तुष्ट लोगों को पश्चिमी प्रभावों से मुक्त सुधारों से सन्तोष प्राप्त हुआ। और, यद्यपि कुछ लोग स्वामी दयानन्द और आर्य समाज को सन्देहात्मक दृष्टि से देखते थे, तो भी देश के धार्मिक, सामाजिक और शिक्षा-सम्बन्धी क्षेत्र में उनकी सेवाएँ चिरस्मरणीय रहेंगी। स्वामी दयानन्द आधुनिक भारत के महान् निर्माताओं में से हैं। सुधारवादी सनातनधर्मियों के हाथ में बागडोर होते हुए भी हिन्दी साहित्य आर्य समाज से प्रभावित हुए बिना न रह सका। उसने साहित्यिकों को तरह-तरह के विषय सुझाए और भाषा में संस्कृत तत्व को प्रोत्साहन दिया। आर्य समाज ने अनेक हिन्दुओं को मुसलमान और ईसाई होने से बचा लिया। सामाजिक क्षेत्र में समाजियों ने सबसे बड़ा कार्य किया। विधवा-विवाह-निषेध, अछूतोद्धार, बाल-विवाह, स्वदेशी-प्रचार, तथा ब्राह्मण धर्मान्तर्गत कर्मकाण्ड और अन्ध-विश्वासों का विरोध कर उन्होंने विशुद्ध वैदिक धर्म के प्रचार की आवाज़ बुलन्द की और वेदों और वैदिक जीवन का आदर्श सामने रक्खा। उन्होंने स्थान-स्थान पर गो-रक्षिणी सभाएँ स्थापित कीं; वैदिक आदर्श के अनुरूप शिक्षा देने के लिए गुरुकुल स्थापित किए और वेदों में आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्तों का मूल रूप देखा।

१८७५ में ही अमरीका के न्यू यॉर्क नगर में मैडम ब्लैवट्स्की और कर्नल अलकॉट ने थियोसोफ़ीकल सोसायटी की नींव डाली। १८७६ में वे भारतवर्ष आए और यहीं उसका प्रधान केन्द्र स्थापित किया। उन्होंने अपनी सोसायटी द्वारा पाश्चात्य दर्शन की महत्ता प्रकट करने के साथ-साथ भारत की प्राचीन ज्ञान-गरिमा से भी परिचय प्रकट किया। १८९३ में जब श्रीमती ऐनी बिसेंट भारत आईं तो इस मत का और अधिक प्रचार हुआ। उन्होंने भी देश के प्राचीन गौरव का गुणगान किया। सरशार के आज़ाद मियाँ की भाँति बहुत-से लोगों के थियोसोफ़ी को शोबदेबाज़ी, मदारी का खेल और ग़ैब का हाल बताने वाली विद्या समझने और उसका थोड़े-से अँगरेज़ी शिक्षित लोगों में ही प्रचार होने पर भी सामाजिक और शिक्षा-सम्बन्धी क्षेत्र में उसका अच्छा प्रभाव पड़ा, यद्यपि हिन्दी साहित्य से उसका कभी सम्बन्ध नहीं रहा। किन्तु सोसायटी ने राष्ट्रीयता का पोषण किया और नवीन शिक्षा को भारतीय हितों के विरुद्ध बताया। और भी अनेक सुधारवादी आन्दोलनों का जन्म हुआ जिन्होंने धार्मिक एवं सामाजिक कुरीतियों और कुप्रथाओं के उन्मूलन में योग दिया। हिन्दी से सम्बन्ध न होने कारण उनके उल्लेख की यहाँ आवश्यकता नहीं है। लेकिन रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ के विचार भारतीयत्व तथा स्वदेश-भक्ति के पोषक और भारत के नव समाज को गतिदायक सिद्ध हुए। ब्राह्म समाज का पाश्चात्य प्रभाव रोकने की चेष्टा आर्य समाज ने की। उसने देश का ध्यान वेदों और भारत की प्राचीन सभ्यता की ओर आकृष्ट किया। थियोसोफ़ी ने सङ्कीर्णता दूर करने की चेष्टा की। स्वामी विवेकानन्द ने सब भेद-भाव हटा कर शिकागो में भारत की आध्यात्मिकता का प्रतिपादन किया और अपने शक्तिशाली विचारों से भारत में राष्ट्रीय, सामाजिक तथा धार्मिक चेतना को स्फूर्ति प्रदान की। १८८७ के लगभग तक सुधारवादी और राजनीतिक आन्दोलनों में काफ़ी अच्छा सम्बन्ध था। किन्तु उसके बाद ज्यों-ज्यों राजनीति की प्रमुखता होती गई, त्यों-त्यों धार्मिक एवं सामाजिक विवादों से भारतीय राजनीतिक ऐक्य को आघात न पहुँचने देने के ध्येय के कारण वे अलग-अलग हो गए और बाद को धार्मिक एवं सामाजिक आन्दोलन बिल्कुल ही पिछड़ गए।

भारतीय दृष्टिकोण लिए हुए सुधारवादी आन्दोलनों का एक मुख्य ध्येय अनेक अँगरेज़ी-शिक्षित नवयुवकों का सुधार करना भी था। नवीन शिक्षा के कारण देश में प्राचीन धर्म सम्बन्धी अनभिज्ञता बढ़ने और सांस्कृतिक

ह्रास होने के कारण देश-भक्तों को मर्मान्तक पीड़ा होती थी। नवशिक्षित युवक ज्ञान-विज्ञान की ओर झुक कर विद्योपार्जन कर रहे थे, यह ठीक है, परन्तु विदेशी शिक्षा ने भारत के इन नवयुवकों को इतना मोहित कर लिया था कि वे स्वधर्माचारों से उदासीन और विदेशी पद्धतियों के ग़ुलाम बन गए। वे अशिक्षित भारतीयों का उद्धार करने के बजाय उनसे घृणा करने लगे। यह शिक्षा उनके नैतिक जीवन के लिए भी अनुकूल सिद्ध न हुई। विदेशी हाव-भाव, चाल-चलन, आचार-विचार, खान-पान, आदि के वे ऐसे भक्त बने कि स्वदेश की बातें वे गँवारू समझने लगे।

भारत की नवोदित राष्ट्रीय चेतना के साथ भाषा की समस्या का भी अविच्छिन्न सम्बन्ध है। अन्य प्रान्तीय भाषाएँ उन्नति कर रही थीं। किन्तु हिन्दी की समस्या दूसरी थी। अँगरेज़ी शिक्षा अनिवार्य हो जाने से सब विषयों की शिक्षा अँगरेज़ी में होती थी। तत्कालीन उत्तर-पश्चिम प्रदेश, अवध, राजस्थान, उत्तरी मध्य प्रान्त तथा बिहार जैसे बड़े भूमिभाग की साहित्यिक अथवा बोली जाने वाली भाषा हिन्दी थी। किन्तु १८३७ के बाद सरकारी और हिन्दी भाषी अमलों तथा वकीलों की उदासीनता के फलस्वरूप अदालतों में उर्दू भाषा को स्थान मिला। फलतः जीविका की दृष्टि से लोगों का झुकाव अँगरेज़ी और उर्दू की तरफ़ हुआ और हिन्दी की उन्नति का मार्ग अवरुद्ध हो गया। सरकारी अनीति का समस्त देश-भक्तों ने विरोध किया। इस सम्बन्ध में अनेक व्याख्यान दिए गए और लेख तथा कविताएँ प्रकाशित हुईं। १८८२ में हंटर कमीशन के पास बहुसंख्यक हिन्दी-भाषी जनता ने अनेक मेमोरियल भेजे। ईसाइयों और कुछ मुसलमानों तक ने उसकी माँग का समर्थन किया। हिन्दी-प्रचार-आन्दोलन बड़े वेग से फैला। अन्त में भाषा तथा साहित्य-प्रेम के कारण स्वर्गीय बा० (बाद को डॉ०) श्यामसुन्दर-दास, पं० रामनारायण मिश्र और ठाकुर शिवकुमार सिंह के प्रयत्नों से १८९३ में स्थापित काशी नागरी-प्रचारिणी सभा, मेरठ के पं० गौरीदत्त और स्वर्गीय पं० मदनमोहन मालवीय के अथक प्रयत्नों के फलस्वरूप १९०० में लेफ़्टिनेंट-गवर्नर एँटनी मैकडॉनेल (१८९५) ने अदालत में हिन्दी भाषा और नागरी लिपि भी व्यवहार में लाने का सरकारी आज्ञा-पत्र निकाला। किन्तु कोई क़ानूनी प्रतिबन्ध न होने पर भी यह आज्ञा-पत्र आज तक कार्यरूप में परिणत नहीं हुआ।[1]

---

[1] मौलवी मज़हर अली सँदीलवी ने अपनी डायरी (१८६७-१९११)

अन्त में, उपर्युक्त विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आलोच्य काल में पश्चिमी सभ्यता के साथ सम्पर्क स्थापित होने से विविध सुधारवादी तथा अन्य आन्दोलनों और नई शक्तियों की वृद्धि से अभूतपूर्व आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक एवं सामाजिक परिवर्तन हुए जिनके फलस्वरूप हिन्दी साहित्य और भाषा की गतिविधि भी परम्परा छोड़ कर नवदिशोन्मुख हुई। स्थूल रूप से समाज चार भागों में बँटा हुआ था—एक राजा-महाराजाओं का वर्ग; दूसरा ज़मींदारों का वर्ग; तीसरा नवशिक्षितों और व्यवसायियों का वर्ग; और चौथा किसानों, मज़दूरों, कारीगरों आदि का निम्न वर्ग। चौथा वर्ग संख्या में सबसे अधिक था। नवीन परिवर्तनों से वैसे सभी वर्ग प्रभावित हुए, किन्तु तीसरे और चौथे वर्ग निश्चित रूप से किसी न किसी शक्ल में प्रभावित हुए। नवशिक्षित होने के कारण तीसरे वर्ग ने सबसे अधिक क्रियाशीलता प्रकट की। पूर्व और पश्चिम के सम्पर्क से नव-चेतना उत्पन्न हुई, समाज अपनी बिखरी शक्ति बटोर कर गतिशील हुआ, नवयुग के जन्म के साथ विचार-स्वातंत्र्य का जन्म हुआ, साहित्य में गद्य की वृद्धि हुई और कवि ने अपनी परिपाटी-विहित और रूढ़ि-ग्रस्त कविता छोड़ कर दुनिया नई आँखों से देखनी शुरू की। सामञ्जस्य स्थापित करने से पूर्व साहित्यिकों ने वैज्ञानिक तथा अन्य नई-नई बातों को कुतूहल और उत्सुकतापूर्ण दृष्टि से देखकर उनका वर्णन किया है। उन्होंने नवीन भावों और विचारों को सन्देह की दृष्टि से भी देखा। पूरे तौर से सत्य रूप में तो वे अब ग्रहण किए गए हैं। उस समय शायद वही स्वाभाविक था। आलोच्य काल के हिन्दी साहित्य का अध्ययन करने पर यह तथ्य किसी से छिपा नहीं रह सकता कि यद्यपि साहित्य में बहुत बड़ी हद तक पुरातनत्व बना हुआ था, तो भी तत्कालीन नाटक, उपन्यास, कविता, प्रहसन, निबन्ध, आदि सभी पर राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक एवं सामाजिक आन्दोलनों की गहरी छाप है। भारतेन्दु, राधाकृष्णदास, श्रीनिवासदास, बालकृष्ण भट्ट, प्रताप-नारायण मिश्र, बद्रीनारायण चौधरी, किशोरीलाल गोस्वामी, बालमुकुन्द गुप्त,

---

में लिखा है कि नागरी अक्षर जारी करने के सम्बन्ध में १८ अप्रैल, १६०० के गज़ट में सूचना प्रकाशित होने पर बड़े-बड़े शहरों में कमेटियाँ हुईं और नागरी जारी न करने के लिए सरकार से अनुरोध किया गया। कारण यह बताया गया कि नागरी अक्षर जारी करने से तकलीफ़ बढ़ेगी।' (इससे मुस्लिम दृष्टिकोण का परिचय मिलता है—ले०)—'उर्दू', अप्रैल, ११६६

श्रीधर पाठक, देवकीनन्दन त्रिपाठी तथा अन्य अनेक लेखक और कवि साहित्यिक होने के साथ-साथ राजनीतिज्ञ, समाज-सुधारक और धर्मोपदेशक भी थे। उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के हिन्दी लेखकों और कवियों ने अपनी रचनाओं में नव भारत की राजनीतिक और आर्थिक महत्वाकांक्षाएँ प्रकट कर अपने चारों ओर के धर्म और समाज की पतित अवस्था पर क्षोभ प्रदर्शित करते हुए भविष्य के उन्नत और प्रशस्त जीवन की ओर इङ्गित किया है। अँगरेज़ी साहित्य ने उनके भावों और विचारों को प्रभावित किया, नए-नए साहित्यिक रूपों का जन्म हुआ, और भाषा का शब्द-भांडार और अभिव्यञ्जनात्मक शक्ति बढ़ी।

किन्तु यह गतिशीलता समाज के अल्पसंख्यक लोगों तक सीमित थी। अशिक्षित होने के कारण साधारण जनता का इस सजगता, सप्राणता एवं सजीवता से सम्बन्ध नहीं था। और न साधारण जनता की शक्ति का कोई विशेष प्रकटीकरण राजनीतिक क्षेत्र में ही हुआ। प्राचीन ग्राम-व्यवस्था टूट जाने और औद्योगीकरण के अभाव में उसमें सामूहिक चेनता का जन्म न हो सका। उच्चवर्ग नवीन शासन से आतङ्कित और अपने वर्गीय स्वार्थ में लीन था। सजीव अँगरेज़ जाति ने विजय-गर्व के वशीभूत हो भारत-वासियों से अपने को अलग रक्खा। फलतः उनके सम्पर्क का जितना रचनात्मक और क्रियात्मक प्रभाव पड़ना चाहिए था उतना प्रभाव न पड़ सका। मध्यकालीन भारत में जो सांस्कृतिक चेतना हुई थी उसका अँगरेज़ों के शासन-काल में अभाव रहा। शुरू में जहाँ-जहाँ अँगरेज़ों का बराबरी के दर्जे पर देशवासियों के साथ सम्पर्क स्थापित हुआ, वहाँ-वहाँ आशाजनक सांस्कृतिक प्रभाव दृष्टिगोचर हुए। अवध में अमानत कृत 'इन्दर-सभा' इसी प्रभाव के कारण एक मुस्लिम राज-दरबार में जन्म ले सकी थी। इस प्रकार का सांस्कृतिक सम्बन्ध कम स्थानों पर और अस्थायी रूप से स्थापित हुआ और आगे चल कर उतना भी न रहा। अँगरेज़ी शिक्षा के कारण शिक्षितों और साधारण जनता के बीच व्यवधान पैदा हो गया था। जनता की ओर केवल उन्हीं लोगों ने ध्यान दिया जिन्होंने अँगरेज़ी शिक्षा प्राप्त करने पर भी भारतीयता और देशी भाषा एवं साहित्य से सम्बन्ध बनाए रक्खा अथवा जो अँगरेज़ी शिक्षा प्राप्त न करने पर भी नवयुग की चेतना से अनुप्राणित थे। उन्होंने 'बिगड़े हुए' शिक्षित युवकों के सुधार की ओर भी विशेष ध्यान दिया। नवोत्थान काल के प्रथम चरण में जितने भी सार्वजनिक आंदोलनों का जन्म हुआ उन सभी ने अन्ततः किसी न किसी प्रकार राष्ट्रीय

रूप ग्रहण किया। हिन्दी से सम्बन्ध रखने वाला आर्य समाज आन्दोलन इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। यह आन्दोलन जनता का आन्दोलन था। सैद्धान्तिक दृष्टि से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के और आर्य समाज के विचारों में अधिक अन्तर नहीं था। सनातनधर्मी वैष्णव होते हुए भी आर्य-समाज की अनेक बातों में उन्हें स्वयं विश्वास था।

वास्तव में हिन्दी नवोत्थान द्विमुखी होकर अवतरित हुआ था। एक की दृष्टि भूतकालीन गौरव की ओर थी तो दूसरे की दृष्टि भविष्य की ओर आशा लगाए हुए थी। नवोत्थान की अवतारणा के पीछे जिन शक्तियों ने कार्य किया उनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी का नवोत्थान आन्दोलन उस व्यापक भारतीय आन्दोलन का एक भाग था, जो अन्त में स्वयं उस महान् ऐतिहासिक क्रम का एक प्रमुख भाग था, जो उन्नीसवीं शताब्दी के कुछ पूर्व से ही प्रधानतः ऐंग्लो-सैक्सन सभ्यता के सम्पर्क द्वारा मिश्र, टर्की, अरब, ईराक़, ईरान, अफ़ग़ानिस्तान, चीन, जापान, जावा, सुमात्रा, मलयद्वीप, आदि समस्त पूर्वी संसार का जीवन स्पन्दित कर रहा था। पूर्वी संसार का आध्यात्मिक और मानसिक जीवन पूर्वी और पश्चिमी दोनों शक्तियों से प्रेरित हुआ। उस समय उसकी क्रियात्मक शक्ति का ह्रास हो चुका था। विज्ञान और औद्योगिक विकास के बल पर पश्चिम को विजय प्राप्त हुई। स्त्रियों की स्वाधीनता, विविध सामाजिक एवं धार्मिक सुधारवादी आन्दोलनों, राजनीतिक चेतना, मातृभाषा, नए वर्गों के जन्म, आदि के रूप में पाश्चात्य विचारों का प्रभाव सभी देशों के नवोत्थान आन्दोलनों पर लगभग समान रूप से पाया जाता है। इस सम्बन्ध में भारतीय आन्दोलन की अपनी एक विशिष्टता थी। एक प्राचीन तथा उच्च सभ्यता का उत्तराधिकारी और यूरोप से दूर होने के कारण भारत दूसरा टर्की न बन सकता था। हिन्दी भाषियों ने एक सार्वभौम ऐतिहासिक क्रम में अपना पूर्ण योग दिया। वे क्रान्तिकारी न होकर सुधारवादी थे, अथवा उनके सुधार ही मौन क्रान्ति का रूप धारण कर रहे थे। पश्चिमी विचारों के आघात ने भारत के प्राचीन सांस्कृतिक भवन की दीवारों को एकबारगी हिला डाला था। अच्छा यह हुआ कि उसकी नींव दृढ़ बनी हुई थी। भारतेन्दुकालीन हिन्दी मनीषि एक बिलकुल ही नया भवन खड़ा करने के स्थान पर उसी प्राचीन दृढ़ नींव पर नए ज्ञान और अनुभव के प्रकाश में एक ऐसे भव्य प्रासाद का निर्माण करना चाहते थे जिसके साये में रह कर समस्त भारतीय जनसमूह सुख और शान्तिपूर्वक धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—

जीवन के ये चारों फल प्राप्त कर सकता। वे युगधर्म में पोषित थे। उनकी वाणी में नव भारत का स्वर प्रतिध्वनित था। वे भारतीय संस्कृति के प्रधान अङ्ग पुनर्जन्म के सिद्धान्त से परिचित थे। उन्होंने अपने नवीनतम ज्ञान और अनुभव का सम्बल लेकर भारतीय मङ्गल-क्रान्ति के लिए शङ्ख-ध्वनि की।

३

गद्य

प्रकरण १

हिन्दी का पिछला गद्य परिपक्वता प्राप्त न कर सका था। वह अपनी प्राथमिक अवस्था में लड़खड़ाता हुआ चल रहा था। उसमें धार्मिक वार्ताओं, टीकाओं और भक्तजनों की कथाओं का वर्णन विशेष रूप से होता था। साहित्यिक शैलियों का भी जन्म न हो सका। पहले अध्याय में दिखाया जा चुका है कि उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में भिन्न-भिन्न शक्तियों द्वारा खड़ीबोली हिन्दी गद्य में जान डाली जा रही थी। परन्तु अभी तक वह व्यवस्थित और सुगठित रूप में नहीं था। ब्रजभाषा और राजस्थानी गद्य का पूर्णरूप से विकास भी न हो पाया था कि अँगरेज़ी राज्य की स्थापना के साथ-साथ व्यावहारिक दृष्टिकोण से गद्य-पुस्तकों की आवश्यकता हुई। फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में जो आयोजना तैयार की गई थी उससे हिन्दी गद्य का विशेष हित-साधन न हो सका। लल्लूलाल की रचनाओं ने किसी नवीन विषय या शैली की स्थापना न की। केवल ईसाई मिशनरियों ने उनके गद्य से लाभ उठाया। फ़ोर्ट विलियम से बाहर मुंशी सदासुखलाल, इंशा, आदि भी गद्य-साहित्य का निर्माण कर रहे थे। लल्लूलाल और सदल मिश्र की भाषा ब्रज-रञ्जित है। मुंशी सदासुखलाल भगवद्भक्त थे और उन्होंने किसी की प्रेरणा से 'सुखसागर' नामक ग्रन्थ नहीं लिखा था। उनकी भाषा में हमें हिन्दी की आने वाली साहित्यिक भाषा का आभास मिलता है। इंशा कृत 'रानी केतकी की कहानी' की भाषा ठेठ और कलापूर्ण होते हुए भी ज्ञान-विज्ञान के लिए अनुपयुक्त ठहरी। ईसाई धर्म-प्रचारकों के अधकचरे प्रयासों से हिन्दी गद्य का प्रचार अवश्य हुआ, किन्तु विषय या शैली की दृष्टि से उसका विकास न हो सका। संस्कृत और फ़ारसी के माध्यम द्वारा सांस्कृतिक शिक्षा के स्थान पर देशी भाषाओं के माध्यम द्वारा ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा की आयोजना से हिन्दी गद्य के विकास की बहुत-कुछ आशा बँध गई थी। मैकॉले की मिनिट्स द्वारा उसके सम्यक् विकास को आघात पहुँचा। साथ

ही साहित्य में अभी तक गद्य को प्राधान्य न मिल पाया था। काव्य-चातुर्य ही साहित्यिकों का मुख्य आदर्श बना हुआ था। अस्तु, उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में हिन्दी गद्य का पूर्ण विकास न हो पाया। उसमें स्थायी गद्य-साहित्य और उसके विभिन्न साहित्यिक रूपों का आविर्भाव न हो सका। परन्तु गद्य के विकास-क्रम की इस अवस्था का मूल्य किसी हालत में कम नहीं है, क्योंकि इसी की आधार-शिला पर आगे के हिन्दी-गद्य-साहित्य का भवन खड़ा किया गया।

उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में देश में एक प्रकार से शान्ति स्थापित हो गई थी। हिन्दी-भाषा-भाषियों का पाश्चात्य शिक्षा और साहित्य से सम्पर्क बढ़ा। नवशिक्षा के कारण अनेक सामाजिक, धार्मिक, और राजनीतिक आन्दोलन उठ खड़े हुए। पत्र-पत्रिकाएँ निकलीं। इन सब बातों के फलस्वरूप हिन्दी गद्य का अभूतपूर्व विकास हुआ।

१८५४ में सर चार्ल्स वुड की शिक्षा-आयोजना के अनुसार गाँवों और क़सबों में मदरसे खोले गए जिनमें देशी भाषाएँ शिक्षा का माध्यम बनाई गई थीं। इससे प्राथमिक पुस्तकों का निर्माण गद्य में हुआ। किन्तु सरकारी नीति से उच्च कोटि की पुस्तकों के लिए गद्य को प्रोत्साहन न मिल सका। साथ ही तत्कालीन उत्तर-पश्चिम प्रदेश और अवध में हिन्दी और उर्दू दो भाषाओं का चलन होने के कारण भाषा का बड़ा पेचीदा सवाल उठ खड़ा हुआ। अदालत की भाषा उर्दू हो चुकी थी। थोड़े से शहराती पढ़े-लिखे हिन्दू मुसलमान भी उसे पालपोस कर बड़ा कर रहे थे। परन्तु हिन्दी जनसाधारण की भाषा थी। उसे पाठ्य-क्रम में स्थान न देना बिल्कुल असम्भव था। इस सम्बन्ध में राजा शिवप्रसाद (१८२३-१८९५) ने शिक्षा-विभाग में हिन्दी की रक्षा के लिए जो कार्य किया उसे हिन्दी-भाषी कभी नहीं भुला सकते। अनेक कठिनाइयों का सामना करते हुए भी उन्होंने हिन्दी को शिक्षा-विधान में स्थान दिलाया। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि फ़ोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना से हिन्दी गद्य को कोई लाभ न पहुँचा। सदासुखलाल (१७४६-१८२४), इंशा (१८१७ में मृत्यु), लल्लूलाल (१७६१-१८२४ के लगभग), और सदल मिश्र (१७६८ के लगभग—१८४८ के लगभग), और उनके अनन्तर ईसाई मिशनरियों ने गद्य में कुछ रचनाएँ अवश्य की थीं, परन्तु उनके द्वारा प्रतिष्ठित गद्य से कोई व्यावहारिक लाभ न हुआ। ज्ञान-विज्ञान तथा नवीन विषयों की शिक्षा के लिए वह गद्य उपयुक्त न ठहरा। सरकारी नीति के कारण इस अभाव की पूर्ति भी न हो सकी।

इसीलिए बहुत दिनों बाद १८८६ तक में शिक्षा-विभाग के कर्मचारी वीरेश्वर चक्रवर्ती को लिखना पड़ा था : 'जो दो-तीन पढ़ाई जाती हैं, वे एक प्रकार से अच्छी हैं, परन्तु केवल प्राचीन लेखों को अर्थात् रामायण प्रेमसागर आदि ग्रन्थों के अंशों को लेकर बनाई गई हैं। यद्यपि रामायण प्रेमसागर से ग्रन्थ हिन्दी भाषा में कम हैं, तो भी केवल उन पुस्तकों के पढ़ने से भाषा-शिक्षा का फल पूरी तरह से नहीं मिल सकता। क्योंकि, वे केवल प्राचीन और शास्त्रीय भाषा में लिखी गई हैं। जिस चलित भाषा में लोग बातचीत करते हैं, नई-नई किताबें और समाचार-पत्री लिखी जाती हैं, जिनकी सहायता से वाणिज्य व्यापार और हर एक किस्म के काम-काज, पढ़ने वालों को चारों ओर, नित्य चल रहे हैं, उसका मुहाव्वरा इन ग्रन्थों के पढ़ने से नहीं आ सकता और इस जीवित भाषा की आलोचना के बिना भाषा-शिक्षा का अभिप्राय भी सिद्ध नहीं हो सकता।'[1] दूसरे, १८५४ से पहले कई जगह शिक्षा के लिए स्कूल खुल चुके थे। ये स्कूल अँगरेज़ सरकार और पादरियों द्वारा खोले गए थे। इनमें अँगरेज़ी के साथ-साथ हिन्दी की पढ़ाई भी होती थी। आगरा कॉलेज में भी हिन्दी-शिक्षा का प्रबन्ध था। उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में इन संस्थाओं से अनेक शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तकें प्रकाशित हुईं जिनके विषयों में अनेकरूपता थी। ईसाई धर्म-प्रचारकों का उद्देश्य चाहे हिन्दू धर्म की उचित-अनुचित आलोचना करना ही रहा हो, परन्तु यह मानना पड़ेगा कि शिक्षा के सम्बन्ध में उन्होंने सराहनीय कार्य किया। इसलिए पाठ्य-पुस्तकों की कमी तो न थी, लेकिन मैकॉले के आयोजना-पत्र के कारण उनका प्रकाशन बहुत बड़ी हद तक रुक गया था। फिर १८५४ की शिक्षा-आयोजना के अनुसार ये पुस्तकें बेकार साबित हुईं। उधर हिन्दी-उर्दू का संघर्ष अलग ही चल रहा था। इन सब बाधाओं और कठिनाइयों के होते हुए राजा शिवप्रसाद और उनके साथियों ने हिन्दी भाषा का ध्यान रक्खा, यह कोई मामूली बात नहीं थी। उन्हें फिर नए सिरे से काम करना पड़ा।

१८३६ तक ईस्ट इंडिया कंपनी के सरकारी दफ़्तरों की भाषा फ़ारसी थी। तत्पश्चात् उसकी जगह देशी भाषाओं को दी गई। परन्तु हिन्दी के सम्बन्ध में यह व्यवस्था स्थापित न हो सकी। अदालती लोगों में एक तो वैसे ही अरबी-फ़ारसी शब्दों, मुहावरों और वाक्य-विन्यास का अधिक प्रचार था, दूसरे मुसलमानों ने इस बात का घोर प्रयत्न किया कि सरकारी दफ़्तरों

---

[1] 'साहित्य संग्रह' (१८८९) की भूमिका से।

की भाषा हिन्दी न हो सके, उर्दू हो जाय। मुसलमानों में अँगरेज़ी राज्य के अन्तर्गत अपने सांस्कृतिक ह्रास के कारण असन्तोष फैला हुआ था। इसलिए उनके अन्तिम सांस्कृतिक चिह्न, फ़ारसी, को हटा देने के बाद कंपनी सरकार ने इस सम्बन्ध में उदासीनता की नीति ग्रहण की। १८३७ के बाद सरकारी दफ़्तरों की भाषा अप्रत्यक्ष रूप से उर्दू हो गई और धीरे-धीरे 'नागरी' का बहिष्कार होता गया। उर्दू में अरबी-फ़ारसी शब्दों का बाहुल्य रहता था। सरकार ने जब सर्वसाधारण की शिक्षा के लिए मदरसे खोलने की बात उठाई तो भाषा के सम्बन्ध में फिर हिन्दी का विरोध किया गया। जीविका की दृष्टि से उर्दू सीखना आवश्यक हो गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि लोग हिन्दी भाषा और नागरी लिपि भूलते गए। जिस समय राजा शिवप्रसाद शिक्षा-विभाग में आए, उस समय हिन्दी की ऐसी ही शोचनीय अवस्था थी। स्वयं राजा साहब का कहना है :

> 'शुद्ध हिन्दी चाहने वालों को हम यह यक़ीन दिला सकते हैं कि जब तक कचहरी में फ़ारसी हरफ़ जारी हैं इस देश में संस्कृत शब्दों को जारी करने की कोशिश बेफ़ायदा होगी।'[1]

ज्यों-ज्यों लोगों का लगाव उर्दू के साथ बढ़ता गया, त्यों-त्यों हिन्दी के प्रति उनकी उदासीनता बढ़ती गई। बालमुकुन्द गुप्त के शब्दों में उस समय यह हालत थी कि :

> 'जो लोग नागरी-अक्षर सीखते थे वह फ़ारसी-अक्षर सीखने पर विवश हुए और हिन्दी भाषा हिन्दी न रह कर उर्दू बन गई।'....'हिन्दी उस भाषा का नाम रह गया जो टूटी-फूटी चाल पर देवनागरी-अक्षरों में लिखी जाती थी।'[2]

अथवा वीरेश्वर चक्रवर्ती के शब्दों में :

> '...हिन्दी भाषा का प्राचीन साहित्य अत्यन्त मनोहर और प्रसिद्ध है परन्तु, देश में बहुत दिनों तक मुसलमानों का राज्य रहने के कारण कुछ काल के लिये उर्दू भाषा का चलन हो गया था। यह उर्दू किसी

---

[1] 'हरिऔध' कृत 'हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास', पृ० ६४०-६४१ से उद्धृत।

[2] रमाकान्त त्रिपाठी कृत 'हिन्दी गद्य मीमांसा' (१९२९), पृ० ४० से उद्धृत।

देश की भाषा नहीं है, पर फ़ारसी और अरबी शब्दों के संग हिन्दी की विभक्ति, सर्वनाम और क्रियाओं की मिलावट से मुग़ल सेना की छावनी में इसका जन्म हुआ। इस कृत्रिम भाषा की चर्चा अधिक होने के कारण, हिन्दी की उन्नति बहुत दब गई, और अदालत के कुल आदमी, शहर के रहने वालों और रईसों के बीच, इस मिश्रित भाषा में बोलचाल, लिखना, पढ़ना शुरू हुआ। यहाँ तक कि, भारी-भारी काम-काज इसी के ज़रिये निर्बाह होने लगे। सिर्फ़ हिन्दी जानने वाले गँवार कहलाने लगे। उर्दू के जानने के बिना भद्र मण्डली में प्रवेश करने का अधिकार भी न रहा।'[1]

देवनागरी अक्षरों का दिन पर दिन प्रचार कम होता जा रहा था। 'पढ़े-लिखे' लोग तो अपनी चिठ्ठियाँ तक उर्दू में लिखने लगे थे।

हिन्दी के इस संकट-काल में राजा शिवप्रसाद साहित्यिक क्षेत्र में आए। सरकारी दफ़्तरों में उर्दू घुस चुकी थी। राजा साहब 'इंसपैक्टर ऑव स्कूल्स' थे और सरकारी कर्मचारी की हैसियत से उन्हें सरकारी नीति का समर्थन करना पड़ता था। विद्या-व्यसनी होने के कारण भाषा की ओर स्वभावतः उनका ध्यान आकृष्ट हुआ। जब उनसे पाठ्य-पुस्तकें तैयार करने के लिये कहा गया तो उन्हें सरकारी नीति का ही व्यवहार करना पड़ा। जहाँ तक लिपि से सम्बन्ध था वे देवनागरी के पक्ष में थे। कचहरी में फ़ारसी लिपि का प्रयोग होते देख कर उन्हें दुःख होता था। लेकिन-खुल्लमखुल्ला विरोध करने का उनमें साहस नहीं था। इस विषय में वे लाचार थे :

> 'If we cannot make Court character which is unfortunately Persian universally used to the exclusion of Devanagari, I do not see why we should attempt to create a new language.'[2]

भाषा की तरफ़ उनका रुख़ दूसरा था। वे उसमें अरबी-फ़ारसी शब्दों के प्रयोग के पक्ष में थे। यहाँ पर यह याद रखना चाहिए कि राजा साहब हमेशा शिक्षित समुदाय को दृष्टि में रखते थे। जनसाधारण से वे 'शिष्ट

---

[1] 'साहित्य संग्रह' (१८८६) की भूमिका से।

[2] 'इतिहासतिमिरनाशक' (१८८३ सं०), भाग १, की भूमिका से।

समुदाय की भाषा' बोलने की आशा करते थे। साथ ही मदरसों में पढ़ने वाले हिन्दू और मुसलमान विद्यार्थियों का भी उन्हें ध्यान रहता था। कक्षा में वे दो अलग-अलग भाषाएँ सीखते और पढ़ते थे, लेकिन बाहर निकल कर एक ही भाषा का प्रयोग करते थे। बोलचाल की भाषा और ग्रन्थों की भाषा के भेद का ध्यान न रख कर इस कृत्रिमता के दूर करने के प्रयत्न में उनकी निगाह खड़ीबोली के अरबी-फ़ारसीमय अदालती भाषा के रूप पर जा पड़ी। वे चाहते थे कि अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग कर हिन्दू लोग अपनी भाषा पर 'पालिश' करें, क्योंकि भाषा का वह रूप ही शिक्षित समुदाय (सरकारी नौकर) द्वारा प्रयुक्त होता था। वे 'आमफ़हम' अरबी-फ़ारसी शब्दों के प्रयोग के पक्ष में थे :

'I may be pardoned for saying a few words here to those who always urge the exclusion of Persian words, even those which have become our household words, from our Hindi books, and use in their stead Sanscrit words, quite out of place and fashion, or those coarse expressions which can be tolerated only among a rustic population.'[1]

आगे चल कर उनका कहना है :

'Persian words such as A'tish, Ma'ruf, Shitab, Zambur, Sardar, Koh etc have been used by first Hindi author (as I at least regard him) Chand, the famous bard of Prithiraj, and I think it is better for us to try our best to help the people in increasing their familiarity with the court language.'[2]

या

'पस जब यह बात पक्की ठहरी कि हमारी बोली में संस्कृत और अरबी फ़ारसी के चाहे सही चाहे ग़लत बहुत से शब्द मिलते हैं और

---

[1] वही

[2] वही

अब उनसे छुटकारा भी नहीं हो सकता बल्कि वह हमारी बोली के एक अंग बन गये हैं जैसा कि अगले कवि लोग बराबर करते आये हैं ॥ श्लोक ॥ संस्कृतं प्राकृतं चैव सोरसेनं च मागधम्। पारसीकामपभ्रंशं भाषायां लक्षणानिषट् ॥ १ ॥ दोहा ॥ अन्तर्वेदी नागरी गौड़ी पारस देस। अरु अरबी जामै मिलै मिश्रित भाषा बेस ॥ १ ॥ ब्रजभाखा भाखा रुचिर कहैं सुमति सब कोय। मिलै संस्कृत पारस्यौ अतिसय सुगम जो होय ॥ २ ॥...'[1]

राजा साहब की इन सब बातों से किसी का कोई भी मतभेद नहीं हो सकता। चन्द क्या, तुलसी, सूर, बिहारी, भूषण, मतिराम, पद्माकर, आदि हिन्दी के प्रायः सभी छोटे-बड़े कवियों ने अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग किया है। ऐसा होना बिल्कुल स्वाभाविक था। किसी भी साहित्यिक के लिए अरबी-फ़ारसी के प्रभाव से बचना कठिन था। अरबी-फ़ारसी शब्दों के प्रयोग के पक्षपाती होने के साथ ब्रजभाषा शब्दों का प्रयोग राजा साहब को नहीं रुचता था, क्योंकि उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध, और बहुत-कुछ उत्तरार्द्ध, में खड़ी-बोली गद्य में ब्रजभाषा के शब्दों और रूपों का प्रयोग बराबर बना हुआ था। वे चाहते थे :

'.....to try our best to help the people in increasing their familiarity with the court language and in polishing their dialects, than to make them strangers to the courts of the districts and ashamed when they talk before the higher classes.'[2]

इन उच्च श्रेणी के लोगों और जनसाधारण के बीच भाषा-सम्बन्धी खाई पाटने की उन्हें सबसे अधिक चिन्ता थी। इस चिन्ता में जनसाधारण की भाषा की ओर झुकने के बजाय वे अदालती भाषा की ओर झुके। लल्लूलाल की शैली में लिखी गई हिन्दी को वे पिछड़ी हुई चीज़ समझते थे। 'विशुद्ध' हिन्दी के साथ-साथ अरबी-फ़ारसी शब्दावली से लदी हुई उर्दू भी उन्हें नापसन्द थी और वे मदरसों के हिन्दू-मुस्लिम विद्यार्थियों के लिए

---

[1] 'हिन्दी व्याकरण' (१८८७, द्वि० सं०) के 'परिशेष' से।

[2] 'इतिहासतिमिरनाशक' (१८८१ सं०), भाग १, की भूमिका से।

सर्वमान्य भाषा भी बनाना चाहते थे। दो भाषाओं के अस्तित्व से उत्पन्न अस्वाभाविक परिस्थिति दूर करने के लिए उन्होंने १८७६ में हिन्दी-उर्दू पाठ्य-पुस्तकों, विशेष रूप से हिन्दी पाठ्य-पुस्तकों, के भाषा-सम्बन्धी सुधार के सम्बन्ध में सरकार को एक पत्र लिखा और जैसा वे चाहते थे वैसा ही हुआ।[1]

राजा साहब को हिन्दी इतनी 'गँवारू' भाषा जँची कि उसका 'गँवरपन' दूर करने के लिए वे अरबी-फ़ारसी शब्दावली की ओर अधिकाधिक झुकते गए। देवनागरी लिपि को छोड़ कर उनकी भाषा हिन्दी न रह कर उर्दू हो गई। उसे 'फ़ैशनेबुल' बनाते-बनाते वे यहाँ तक कह बैठे कि 'Urdu is becoming our mother-tongue'।[2] हिन्दी-भक्त के इस कायापलट के लिए क्या कहा जाय!

अस्तु, देवनागरी लिपि के स्थान पर फ़ारसी लिपि का प्रयोग वे अच्छा नहीं समझते थे। लेकिन जितना प्रयत्न उन्होंने हिन्दी को 'फ़ैशनेबुल' बनाने के लिए किया उससे आधा भी प्रयत्न उन्होंने अदालतों में देवनागरी लिपि के व्यवहार के लिए नहीं किया। दूसरे, तत्कालीन परिस्थिति में हिन्दी-उर्दू की खाई पाटने के लिए उन्हें यही उचित जान पड़ा कि समस्त ग्राम-पाठशालाओं की प्राथमिक पाठ्य-पुस्तकें देवनागरी या फ़ारसी लिपि में एक आम भाषा में लिखी जायँ। दुर्भाग्यवश इस भाषा का आदर्श नमूना उन्हें अदालती भाषा में मिला जो तत्सम अरबी-फ़ारसी शब्दावली, उनके मुहावरों और वाक्य-विन्यास से लदी रहती थी, और लदी रहती है, और जो अब तक बहुत कम लोगों की समझ में आती है।

राजा शिवप्रसाद कृत रचनाओं की भाषा का अध्ययन करने पर उनके विचार और भी स्पष्ट हो जाएँगे। अपनी भाषा-नीति का अनुसरण कर वे 'आमफ़हम' भाषा का निर्माण न कर सके; क्योंकि उनका प्रधान उद्देश्य हिन्दी-उर्दू का अन्तर मिटा कर एक आम भाषा (हिन्दुस्तानी) प्रचलित करने का था। लेकिन क्या उनका उद्देश्य पूर्ण हो सका?

पहले कहा जा चुका है कि मदरसों में पाठ्य-क्रम के लिए पुस्तकों की आवश्यकता थी। राजा साहब ने स्वयं पुस्तकों की रचना की तथा अपने अन्य मित्रों को भी पुस्तकें लिखने में लगाया। 'आलसियों का कोड़ा',

---

[1] दे०, 'हिन्दी व्याकरण' (१८८६ सं०) की भूमिका।

[2] 'इतिहासतिमिरनाशक' (१८८२ सं०), भाग १, की भूमिका से।

'राजा भोज का सपना', 'भूगोलहस्तामलक', 'इतिहासतिमिरनाशक', 'गुटका', 'हिन्दुस्तान के पुराने राजाओं का हाल', 'मानवधर्मसार', 'सिक्खों का उदय और अस्त', आदि उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि राजा साहब कृत 'मानवधर्मसार' (तथा 'मानवधर्मसार का सार'), 'योग वाशिष्ठ के कुछ चुने हुए श्लोक', और 'उपनिषद्सार' जैसी पुस्तकों की, जो स्पष्टतः मदरसों के विद्यार्थियों के लिए नहीं लिखी गई थीं, या केवल हिन्दू विद्यार्थियों के लाभार्थ थीं, भाषा संस्कृत-मिश्रित है। इन पुस्तकों से कुछ अंश नीचे उद्धृत किए जाते हैं :

'आयुष के चार भागों में से पहले में गुरुकुल में जाके वास करे दूसरे भाग में विवाह करके गृह में रहे (इस स्थान में यह सन्देह हो सकता है कि आयुष का निश्चित काल परिणाम तो जान नहीं पड़ता चार भाग का पहिला भाग किस प्रकार से जाना जाय कदाचित् कहो कि शत वर्ष के पुरुष होते हैं यह श्रुति में लिखा है तो २५ वर्ष चौथा भाग हुआ तो मनु जी ने छत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य करना यह कहा है इसके साथ विरोध जान पड़ेगा इसलिए जब तक ब्रह्मचर्य हो सोई आयुष का चौथा भाग है) ॥१॥'[1]

'पुरुषों के यौवन रूपी शरद ऋतु में शोभा से उज्ज्वल गुण सुगन्धादिक सो वृद्धा रूपी हेमन्त में नष्ट होते हैं चित्त की समाधीनता और आस्था भी अति दूर चली जाती है जैसे हिम ऋतु में कमलों की' ॥२२॥[2]

'...जो सम्पूर्ण भूतों में रह कर सम्पूर्ण भूतों से अन्तर जिसको सम्पूर्ण भूतों को भीतर होके यम (प्रेरणा) करता है सो आत्मा अन्तर्यामी भी अमृत है।'[3]

इन पुस्तकों की भाषा में 'होवै', 'बितावने', 'सेवते', 'आय जाता है', 'भगावत', 'आवते', 'बिताय', 'भये हैं', 'सो', आदि प्रयोगों में ब्रजभाषा का प्रभाव या लल्लूलालपन मिलता है, यद्यपि सिद्धान्त रूप में राजा साहब ऐसे प्रयोगों से बहुत चिढ़ते थे। धर्मशास्त्रों की भाषा होने के कारण

---

[1] 'मानवधर्मसार' (१८१० सं०), पृ० २१

[2] 'योग वाशिष्ठ' (१८६१ सं०), पृ० ३२

[3] 'उपनिषद्सार' (१८६५ सं०), पृ० २५

वह संस्कृत गर्भित है। उसमें अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग नहीं मिलता। साथ ही यह भाषा राजा साहब की आदर्श भाषा नहीं कही जा सकती। ये पुस्तकें धार्मिक प्रवृत्ति से प्रेरित होकर लिखी गई थीं। केवल एक यही तथ्य राजा साहब की भाषा-नीति पर यथेष्ट प्रकाश डालता है। क्योंकि, उदाहरण के लिए, जहाँ वे मुख्य विषय से अलग कोई बात कहना चाहते हैं वहाँ उनकी भाषा संस्कृत-गर्भित न रह कर अरबी-फ़ारसी शब्दों से मिश्रित 'हिन्दुस्तानी' हो जाती है। 'मानवधर्मसार' के मुख्य विषय की भाषा का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। उसकी भूमिका की भाषा इस प्रकार है :

'जब मैं सरिश्तै तालीम का इन्सपैक्टर हुआ हुक्म पाया कि लड़कों को उनकी 'ड्यूटी' अर्थात् उनको क्या करना चाहिए सिखलाओ। मैंने यह पुस्तक अपने अफ़सरों के सामने रक्खी ख़फ़ा हुए फ़र्माने लगे कि अब क्या गवर्नमेंट तुमको तुम्हारी मज़हबी किताबें भी अपना रुपया खर्च करके पढ़ावेगी? मैंने अर्ज़ किया कि अँगरेज़ी तर्जुमा मोजूद है एक बार आप आदि से अन्त तक देख जावें। जब देख गये तो कहने लगे कि यह तो इंजील का टुकड़ा है और रिपोर्ट करके और मंजूरी मंगा के गवर्नमेंट की ओर से छपवाया और तमाम मदरसों में बटवाया। बस यह तुम हिन्दुओं का धर्म तुम्हारे सामने है।'

इन पुस्तकों की भाषा के कुछ समीप 'भूगोलहस्तामलक (१८५१ या १८५२), भाग १, २, 'छोटा भूगोलहस्तामलक', 'स्वयंबोध उर्दू', 'वामा-मनरञ्जन', 'आलसियों का कोड़ा', 'विद्यांकुर', 'राजा भोज का सपना', और 'वर्णमाला' (नया) की भाषा चलती हुई सरल हिन्दी है। इन पुस्तकों की रचना स्कूलों के विद्यार्थियों के लिए तत्कालीन उत्तर-पश्चिम प्रदेश और अवध के लेफ्टिनेंट-गवर्नर के निरीक्षण में हुई थी। राजा साहब की भाषा-नीति के सम्बन्ध में यह कहा जा चुका है कि प्रारम्भ से वे सर्वप्रचलित अरबी-फ़ारसी शब्दों के प्रयोग के पक्षपाती थे और 'ठेठ हिन्दी' शब्दों के साथ सरल भाषा का व्यवहार करते थे। ऐसी ही सरल भाषा इन पुस्तकों में मिलती है। 'भूगोलहस्तामलक', भाग १, की भूमिका में उनका कहना है :

'कितने मित्रों की सम्मति थी, कि यह पुस्तक छुट हिन्दी बोली में लिखी जावे, फ़ारसी का कुछ भी पुट न आने पावे, परन्तु हमने जहाँ तक बन पड़ा बैताल पच्चीसी की चाल पर रखा, और इसमें यह लाभ

देखा कि फ़ारसी शब्दों के जानने से लड़कों की बोलचाल सुधर जावेगी, और उर्दू भी जो इस देश की मुख्य भाषा है सीखनी सुगम होगी।' फ़ारसी शब्दों का प्रचार करने में उनका क्या उद्देश्य था वह ऊपर के कथन से स्पष्ट हो जाता है। इसी उद्देश्य के कारण उनकी भाषा अधिकाधिक अरबी-फ़ारसी-गर्भित होती गई। जिस पुस्तक से उनका कथन उद्धृत किया गया है उसकी रचना १८५१ या १८५२ में हुई थी ('जानना चाहिये कि यह भूगाल हस्तामलक सन् १८५१ या १८५२ में लिखा गया था')। 'बैताल पच्चीसी' की भाषा रेख़ता या उर्दू है और उसमें अरबी-फ़ारसी के अनेक तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ है। किन्तु 'भूगोलहस्तामलक' की भाषा 'बैताल पच्चीसी' की भाषा के समान नहीं है। स्वयं ग्रन्थकार ने 'बैताल पच्चीसी की चाल पर' लिखा है। 'चाल' शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है कि वह अरबी-फ़ारसी शब्दों का वहिष्कार करना नहीं चाहता। 'भूगोल हस्तामलक' और 'बैताल पच्चीसी' की भाषा में अन्तर केवल इतना है कि पहली पुस्तक में दूसरी पुस्तक की भाँति अरबी-फ़ारसी के तत्सम और कठिन शब्दों का प्रयोग न होकर केवल सरल शब्दों का प्रयोग हुआ है। 'दरमियान', 'ज़ुदा', 'मुल्क', 'दर्याफ़्त', 'नामाकूल', 'क़यामत', 'रऐयत', 'ख़िदमत', 'मौक़ूफ़', 'मुआफ़', 'बख़िलाफ़', 'रूबरू', 'परन्दे', 'मुजरा' 'निक़ाब', 'लन्तरानियाँ', 'ज़ुल्म', 'ज़ाया', आदि शब्द उस समय के हिन्दी भाषियों में प्रचलित थे। और फिर राजा साहब ने इन पुस्तकों की रचना हिंदू-मुस्लिम विद्यार्थियों को दृष्टि में रखते हुए की थी। ये पुस्तकें धार्मिक पुस्तकें भी नहीं हैं। इसीलिए इन पुस्तकों की भाषा में संस्कृत शब्दों के साथ-साथ सरल और प्रचलित अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग हुआ है। अपनी नीति के अनुसार लेखक ने 'अतिरिक्त' और 'सिवाय', 'परन्तु' और 'लेकिन', 'तट' और 'किनारा', 'धर्म' और 'मज़हब', 'नदी' और 'दरिया', 'तारीफ' और 'प्रशंसा', आदि दोहरे प्रयोग भी रक्खे हैं। उसने अँगरेज़ी शब्दों, जैसे, 'सुप्रीम कोर्ट', 'म्यूज़ियम','मनमैंट', 'गन फ़ौंडरी','यूनीवर्सिटी', 'कॉलिज', आदि और इंशा की भाँति ठेठ शब्दों, जैसे, 'अचपलाहट', 'ढब', 'चुड़चुड़ाना', 'टुक', 'औसान', 'बोली ठोली', 'ठनकते', 'बिसूरते', 'बड़बड़ाते', आदि का बिना किसी हिचकिचाहट के प्रयोग किया है। 'आलसियों का कोड़ा', 'वर्णमाला', आदि अन्य पुस्तकों और कहीं-कहीं तो 'भूगोलहस्तामलक' तक में विदेशी शब्दों से रहित गद्यांश मिल जाते हैं। सम्यक् रूप से विचार करने पर इन पुस्तकों की भाषा के सम्बन्ध में

यही कहा जा सकता है कि यह वह भाषा है जिसके राजा साहब प्रारम्भ से ही पक्षपाती थे—कम-से-कम सिद्धान्त रूप में। विदेशी शब्दों का ठीक उसी प्रकार प्रयोग हुआ है जिस प्रकार चन्द, तुलसी, बिहारी, आदि ने अपने-अपने समय में प्रचलित विदेशी शब्दों का प्रयोग किया था। प्रचलित अरबी-फ़ारसी शब्दों से मिश्रित यह भाषा सर्वसाधारण में बोधगम्य थी। उदाहरण-स्वरूप कुछ पंक्तियाँ नीचे उद्धृत की जाती हैं :

'बोली इस मुल्क में अब उर्दू मुख्य गिनी जाती है, परंतु यह केवल थोड़े ही दिनों से जारी हुई है, उर्दू का अर्थ लशकर है, जब तुर्क, अफ़ग़ान और मुग़लों की हिन्दुस्तान में बादशाहत हुई, और उनके आदमी यहां लशकर के दर्मियान बाज़ारियों के साथ हर वक्त ख़रीद-फ़रोख्त में बोलने चालने लगे, तो उनकी अरबी-फ़ारसी और तुर्की इन लोगों की हिन्दी के साथ मिलकर यह एक जुदी बोली बन गई, और इसका विकास उर्दू अर्थात् लशकर के बाज़ार से होने के कारन नाम भी इसका उर्दू की ज़ुबान रक्खा गया। महाराज पृथ्वीराज के भाट चन्द ने जो दोहरे बनाए हैं, वह उसी असली हिन्दी बोली में हैं, जो मुसलमानों के चढ़ावे से पहले इस देश में बोली जाती थी, अब जिस बोली में फ़ारसी-अरबी के शब्द कम रहते हैं और हिन्दी हर्फ़ों में लिखी जाती है उसे हिन्दी और जिसमें फ़ारसी अरबी के शब्द अधिक रहते हैं, और फ़ारसी हर्फ़ों में लिखी जाती है उसे उर्दू कहते हैं, प्राचीन समय में यहां प्राकृत अर्थात् मागधी भाषा बोली जाती थी, बौद्धमत और जैनमत की बहुत पोथी इसी भाषा में लिखी है।'[1]

'निदान यह बंगाले का मैदान नदियों से सिंचा हुआ गङ्गा के दोनों तरफ़ हिमालय और विन्ध के बीच हरिद्वार तक चला गया है, और गंगा-यमुना के बीच जो देश पड़ा है उसे अन्तरवेद और पुराना दुआबा भी कहते हैं और यही दो-चार सूबे अर्थात् दिल्ली आगरा अवध और इलाहाबाद यथार्थ मध्यदेश अर्थात् असली हिन्दुस्तान है।'[2]

'एशिया का मुल्क अगली तवारीख़ और इतिहासों में बड़ा प्रसिद्ध है, क्योंकि पहला आदमी जिससे हम सब मनुष्य उत्पन्न हुए पृथ्वी के इसी भाग में पैदा हुआ था, और इसी भाग से सभी बातें बुद्धि

---

[1] 'भूगोलहस्तामलक', भाग १ (१८१७ सं०), पृ० ५७-५८

[2] 'भूगोलहस्तामलक', भाग २ (१८७७ सं०), पृ० १५०

विवेक और सुख की निकलनी शुरू हुई। पहले ही पहल पृथ्वी के इसी भाग में लक्ष्मी और विद्या का पैर आया; सिवाय इसके जैसे नदी पहाड़, जंगल और मैदान पृथ्वी के इस भाग में पड़े हैं, और जैसे फल फूल औषधि अन्न पशु पक्षी धातु रत्न इत्यादि इसमें पैदा होते हैं, ऐसे कदापि दूसरे खंडों में नहीं मिलेंगे।'[1]

'यह भी याद रखने की बात है कि जब कोई सस्वर व्यंजन से स्वरहीन व्यंजन आ मिलता है अर्थात् दो व्यंजनों के बीच से देहली दीपक की तरह एक ही स्वर होता है तो वह स्वर हिज्जे करने से अर्थात् अक्षर-अक्षर जुदा बोलने में दोनों व्यंजन के पीछे बोला जाता है।'[2]

'विदर्भ नगर के राजा भीमसेन की कन्या भुवन मोहिनी दमयन्ती का रूप औ गुण सारे भारतवर्ष में प्रख्यात हो गया था निषध देश के राजा वीरसेन के पुत्र सर्वगुण विशिष्ट अति सुशील धार्मिक नल से स्वयंवर में उसने जयमाल देकर विवाह किया।'[3]

'शूर ऐसा कि एक बार बिना हथियार केवल मन की मज़बूती से शेर को पछाड़ डाला और इस पर शील और नम्रता यहाँ तक कि ज़रा सी बात में मुसकुरा कर आंखें नीची कर लेता इन्साफ़ मानों उसके दिल का शौक़ था ग़रीब से ग़रीब रैयत की फ़र्याद सुनता और ज़बरदस्त से ज़बरदस्त गुनहगारों को सज़ा देता मुल्क निहायत आबाद और रैयत सारी खुशहाल।'[4]

'एक ईसाई ने अच्छा कहा है कि तौरेत में जो यह वचन न होता कि (तू अपनी भौं के पसीने से रोटी कमावेगा) और यह बात लिखी होती कि यह संसार सुख का घर और खेल-कूद का स्थान है कभी श्रम न करो, तो लोग अवश्य उसको अधिक चाहते।'[5]

'तू ईश्वर की निगाह में क्या है क्या हवा में बिना धूप तसरेणु भी दिखाई देते हैं पर सूर्य की किरन पड़ते ही कैसे अनगिनत चमकने लग जाते हैं क्या कपड़े में छाने हुए पानी के दरमियान किसी को कीड़े मालूम

---

[1] 'छोटा भूगोलहस्तामलक' (१८८८ सं०), पृ० ६

[2] 'स्वयंबोध उर्दू' (१८९१ सं०), पृ० ११

[3] 'वामामनरंजन' (१८७९ सं०), पृ० ६

[4] वही, पृ० ६८

[5] 'बालकियों का कोष' (१८८७ ई०), पृ० १-२

पड़ते हैं पर जब उस शीशे को लगाकर देखो जिससे छोटी चीज़ बड़ी नज़र आती है तो उस एक बूँद में हज़ारों ही जीव सूझने लग जाते हैं।'[1]

'एक लोमड़ी धूप में प्यासी पानी के लिये भटकती-भटकती किसी अंगूर की टट्टी के नीचे जा निकली बहुतेरा चाहा कि उछल कूद कर किसी गुच्छे पर दांत लगावे पर वे ऊंचे बहुत थे इसका मुंह उन तक न पहुंचा तब यों कहती हुई वहां से फिरी कि ये अंगूर ही खट्टे हैं मेरे खाने लाइक़ नहीं।'[2]

१८८५ में राजा साहब ने बनारस इन्स्टिट्यूट में 'थियासुफ़ी और ड्यूटी' (ज्ञान और कर्म) पर एक 'लेक्चर' दिया था। उसकी भाषा भी सरल और चलती हुई है :

'मैं प्रार्थना करता हूँ कि मेडम ब्लवत्सकी के देश में जिस तरह निहिलिस्ट (Nihilist) बढ़े जाते हैं (शायद इसी तरह के उपदेशों से) ईश्वर हिन्दुस्तान की रक्षा करे बुद्धि शुतुर बे मुहार कर देने से ऐसे ही नतीजे निकलते हैं एक टापू के आदमी इसी को बुद्धिमानी का काम समझते हैं कि हर साल मेला करके बूढ़ों को सुपारी के पेड़ों पर चढ़ाते हैं और खूब हिलाते हैं जो गिर पड़े उनको काट कर खा जाते हैं क्योंकि ऐसे निकम्मे को मिहनतियों की कमाई खिलाना उनकी समझ में न्याय का काम नहीं है यदि यहाँ भी नवशिक्षित नौजवान किसी दिन सर्कार से ऐसा एक क़ानून जारी करने की दर्खास्त करें मैं आश्चर्य न करूँगा मेरी समझ में यदि कर्नल आलकाट कोई ऐसा लेक्चर दें जिनसे औलाद अपने मा-बाप की आज्ञा मानें हम निस्सन्देह उनका उपकार मानेंगे और अब कि रात अधिक गई हम आज इसी बात पर खतम करेंगे 'धर्म्म कुरु धर्म्म कुरु धर्म्म कुरु।'[3]

राजा साहब का फ़ारसी शब्दों और उर्दू के प्रति मोह उनकी भाषा को किधर ले जा सकता था, यह बात उनकी शेष रचनाओं से स्पष्ट हो जाती है। 'स्वयंबोध उर्दू' (१८६१, च० सं०) में वे कह ही चुके थे :

'उर्दू जो अब हमारे मुल्क की मुख्य भाषा गिनी जाती है और कचहरियों में सारे काग़ज़-पत्र इसी के दर्मियान लिखे जाते हैं।'[4]

---

[1] 'राजाभोज का सपना' (१८६९ सं०), पृ० ८-९

[2] 'वर्णमाला' (१९०० सं०), पृ० १०-११

[3] पृ० १०

[4] पृ० १

एक दूसरे स्थान पर वे लिखते हैं :

'Our Court language is Urdu, and the Court language has always been regarded by all nations as the most fashionable language of theday. Urdu is now becoming our mother tongue and is spoken more or less, and well or badly, by all in the North-Western Provinces.'[1]

उनकी इस प्रवृत्ति में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई, यहाँ तक कि 'हिन्दुस्तान के पुराने राजाओं का हाल', 'इतिहासतिमिरनाशक', तीन भाग, और 'सिक्खों का उदय और अस्त' नामक रचनाओं में वे अपनी भाषा-नीति के चरम रूप पर पहुँच गए हैं। उनका सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ 'इतिहासतिमिरनाशक' १८६४ में लिखा गया था। यद्यपि उसमें तथा 'हिन्दुस्तान के पुराने राजाओं का हाल' (यह ग्रन्थ 'इतिहासतिमिरनाशक', भाग १, में भी शामिल है) में अरबी-फ़ारसी के तत्सम शब्दों के साथ-साथ संस्कृत और तद्भव शब्दों का प्रयोग भी काफ़ी मिलता है, तो भी इन दोनों की भाषा उर्दू के ही अधिक समीप है। 'इतिहासतिमिरनाशक' से कुछ अवतरण नीचे उद्धृत किए जाते हैं :

'तुग़लक का भाई मसऊद खां निहायत हसीन था बग़ावत का शुबहा हुआ पूछने पर उक़ूबत और सियासत के डर से झूठा इक़रार कर दिया बहुतेरे उक़ूबत और सियासत से मौत को बिहतर समझते हैं बादशाह ने भाई का सिर कटवा डाला और लाश को तीन दिन तक उसी जगह पड़ा रखा।'[2]

'अमीर खुसरो लिख गया है कि मुसलमानों को "हिंदवी" का सीखना बड़े फ़ख़र का बाइस था मौलाना दाऊद ने सन् १३७० ई० में एक हिंदवी पुस्तक जिसका नाम चन्दाबन था जौनाशाह खांजहां के हाल में बनाया था हिन्दू फ़ारसी नहीं पढ़ते थे इसीलिये बादशाही बड़े उहदे नहीं पाते थे पहले ही पहल सिकंदर लोदी के समय में हिन्दू ने जिसका तखल्लुस बर्हमन था फ़ारसी किताब बनायी और विद्यार्थियों

---

[1] 'इतिहासतिमिरनाशक' (१८८२ सं०), भाग १, की भूमिका से।

[2] 'इतिहासतिमिरनाशक' (१८७७ सं०), भाग ३, पृ० ११

को पढ़ाई अकबर के वक्त में इसका चर्चा बहुत फैला माल का काम सब हिन्दी में होता था टोडरमल ने देखा कि जब तक हिन्दू बादशाह की ज़ुबान अर्थात् फ़ारसी न सीखेंगे कभी बादशाही बड़े-बड़े उहदे न पा सकैंगे हुक्म दिया कि सब दफ़्तर फ़ारसी में हो जायं, टोडरमल दीवाना हुआ....'[१]

'हमारी यह जी से अभिलाषा है कि जब परमेश्वर की कृपा से हिंदुस्तान में फिर अमन चैन हो जावे तो वहां सुलह के उद्योगों को उन्नति देवें और प्रजा के सुख की चीज़ें बनावें और ऐसा बंदोबस्त करें कि वहां की सारी हमारी प्रजा को लाभ हो उनकी वृद्धि से हमारी शक्ति है उनकी सन्तुष्टता से हमारी रक्षा है उनकी शुकरगुज़ारी यही हमको बड़ी प्राप्ति है सर्वशक्तिमान परमेश्वर हमको और जो लोग कि हमारे तहेत में इख्तियार रखते हैं सबको ऐसी शक्ति दे कि जिससे हमारी यह अभिलाषा हमारी प्रजा की भलाई के लिये भली भांति परिपूर्ण हो।'[२]

तीसरे उद्धरण की भाषा 'इतिहासतिमिरनाशक' में बहुत कम देखने को मिलती है। 'हिन्दुस्तान के पुराने राजाओं का हाल' में दो प्रकार की भाषा है। एक तो वह जिसमें हिन्दी के ठेठ शब्दों के साथ-साथ लोक-प्रचलित विदेशी शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। दूसरे प्रकार की वह जिसमें विदेशी शब्दों का बाहुल्य पाया जाता है। राजा साहब की इस पुस्तक की भाषा हिन्दी और उर्दू के बीच की भाषा मानी जा सकती है। इसकी अपेक्षा 'इतिहासतिमिरनाशक' में विदेशी शब्द कहीं अधिक हैं। 'इतिहासतिमिर-नाशक', दूसरे भाग, की भूमिका में राजा साहब ने लिखा है :

'I have adopted to a certain extent the language of Baital Pachchisi.'

'बैताल पच्चीसी' में 'कर्म', 'आज्ञा', 'आत्मा', 'सदृश्य', 'पृथ्वी', आदि संस्कृत शब्दों के रहते हुए भी शब्दों के प्रयोग तथा वाक्य-विन्यास की दृष्टि से भाषा उर्दू है (रेख़्ता) है। किन्तु उनके शब्दों 'to a certain extent' के अनुसार 'इतिहासतिमिरनाशक' की भाषा 'बैताल पच्चीसी' की भाषा का पूर्णरूप से अनुकरण नहीं है। उसे हम नागराक्षरों में लिखी गई ऐसी सरल उर्दू कह सकते हैं जिसमें संस्कृत के कुछ शब्दों का

---

[१] वही, पृ० ११२-११६

[२] 'इतिहासतिमिरनाशक' (१८४२ सं०), भाग २, पृ० १०१

भी प्रयोग हुआ है। 'हिन्दुस्तान के पुराने राजाओं का हाल' से दोनों ढंग की भाषाओं के अवतरण नीचे दिए जाते हैं :

'...प्रमरा बंश में सन् ईसवी से छप्पन बरस पहले एक महा प्रतापी राजा विक्रम उज्जैन में राजगद्दी पर बैठा, उसी ने एक बड़ी सी मूर्ति महाकाल की अपनी राजधानी में स्थापन की, यदि आप वह ऐसा पराक्रमी राजा था कि लोग आज तक उसके गुण गाते हैं लेकिन समझने की बात है कि वह इतने बड़े मुल्क का मालिक और राजाधिराज होकर भी इस क़दर सीधा सीधा और तपस्या ऐसी करता था कि नित एक चटाई पर सोता था, और अपने हाथ छिप्रा (सिपरा) नदी में से पानी का तूंबा भर कर ले आता।'[1]

'अब जानना चाहिये कि इस अगले ज़माने की कोई तवारीख़ ऐसी मोतबर नहीं है कि जिस्से उस वक्त का कोई हाल मुफ़स्सल और सिलसिलेवार जाना जावे इस वास्ते हम सिकंदर के वक्त से ख़बरों का लिखना शुरू करते हैं।'[2]

'ग़रज़ इसी कुतुबुद्दीन ने चंद रोज़ बाद दिल्ली के दर्मियान भी अपनी अमलदारी कर ली गोया उसी रोज़ से उसने हमारे मुल्क में मुसलमानों की सलतनत का बीज रोपा मगर कहनेवाले अब तक कहते हैं कि दिल्ली की बादशाहत एक ग़ुलाम की बनाई थी।'[3]

परन्तु 'सिक्खों का उदय और अस्त' में तो पलड़ा बिल्कुल ही उलट गया है। अन्य पुस्तकों में राजा साहब ने सर्वप्रचलित अरबी-फ़ारसी शब्दों के साथ-साथ संस्कृत शब्दों का भी प्रयोग किया है। किन्तु इस पुस्तक में सर्वसाधारण द्वारा समझे जाने वाले सरल संस्कृत शब्दों के स्थान पर भी अरबी-फ़ारसी शब्द व्यवहार में लाए गए हैं। शैली की दृष्टि से भी भाषा हिन्दी न रह कर उर्दू हो गई है। फ़ारसी अक्षरों में लिख देने पर वह ठेठ उर्दू जान पड़ेगी। 'सिक्खों का उदय और अस्त' से कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं :

'ज़ियादती से निहायत तंग और ज़ेरबार हो रहे थे; मिल जाने के ऐसी फ़ाहिश शिकस्त उसने खाई; बसबब बीमारी के लुक़मा मौत का हुआ।'[4]

---

[1] 'हिन्दुस्तान के पुराने राजाओं का हाल' (१८५७ सं०), पृ० ६-७

[2] वही, पृ० २

[3] वही, पृ० २१

[4] 'सिक्खों का उदय और अस्त' (१८८१ सं०), पृ० १

'हर एक शख्स मुल्क लेने की नीयत पर एक दूसरे से मुत्तफ़िक़ हो गया था और इसीलिये जब मुल्क मिला, तो हर एक ने उसको अपना हक़ तसव्वुर किया, हर एक गुरोह ने, जिसको उसकी ज़ुबान में मिसाल कहते हैं, अपने अपने दर्मियान से एक एक अच्छा लाइक़ और बहादुर आदमी देखकर अपना सर्दार मुक़र्रिर कर लिया।'[1]

'....कई एक तक़रीरें जो सर्कार अँगरेज़ी और राजे लाहौर के दर्मियान उठीं थीं खुशी खुशी अच्छी तरह से रफ़ा हो गईं और तर्फ़ैन का दिल दोस्ती और सुलह का वास्ता रखने के वास्ते माइल हुआ, इसलिए नीचे लिखी शर्तें अहदनामे की जिनका क़ायम रखना दोनों तरफ़ के वारिस और जानशीनों पर कर्ज़ होवेगा दर्मियान राजा रंजीतसिंह और चार्ल्स थियाफ़िलस मेटकफ़ साहिब की मार्फ़त सर्कार अँगरेज़ी के अमल में आईं।'[2]

'....ग़रज़ लाहौर के राज की खुदसरी व खुदमुख्त्यारी जो रंजीतसिंह ने इस मिहनत से क़ाइम की थी अब हमेशा के वास्ते नेस्त-नाबूद हुई, और पंजाब भी मिसल और छोटे रजवाड़ों के सर्कार का मुतीअ और फ़र्मांबर्दार हो गया, कुछ थोड़ी सी फ़ौज गवर्नर जेनरल बहादुर ने महाराजा और रानी साहिब की इस्तदआ बमूजिब लाहौर में छोड़ दी।'[3]

अन्त में, राजा साहब की 'गुटका', भाग १, २, ३, 'नया गुटका', भाग १, २ और 'हिन्दी व्याकरण' नामक रचनाएँ एक साथ रक्खी जा सकती हैं। 'गुटका' स्वतन्त्र रचना नहीं है, वरन् साहित्य-संग्रह है। तत्कालीन उत्तर-पश्चिम प्रदेश के लेफ़्टिनेंट-गवर्नर की आज्ञा से वे १८८५ से पहले प्रकाशित हो चुके थे। चुने हुए अंशों की भाषा बदली नहीं जा सकती थी, इसलिए उनसे संग्रहकर्ता की भाषा-नीति पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। इस सम्बन्ध में सरकारी आज्ञापत्र ने उन्हें स्वतन्त्रता दे दी थी।[4] 'व्याकरण' की भाषा, लेखक के कथनानुसार, हिन्दुस्तानी

---

[1] 'सिक्खों का उदय और अस्त' (१८८१ सं०), पृ० ६

[2] वही, पृ० १७

[3] वही, पृ० १०१

[4] 'व्याकरण' (१८८६ सं०), भूमिका, पृ० ५-८

है।[1] सरकारी आज्ञा-पत्र के अनुसार पारिभाषिक शब्द संस्कृत और फ़ारसी से लिए गए हैं।

राजा साहब ने अपने भाषा-सम्बन्धी सिद्धान्त का १८६८ में लिखित 'भाषा का इतिहास' ('कुछ बयान अपनी ज़ुबान का') में उल्लेख किया है। उसका अध्ययन करने से उनका झुकाव अरबी-फ़ारसी शब्दों और उर्दू की ओर साफ़ मालूम होता है। जहाँ तक सार्वजनिक संस्थाओं से सम्बन्ध था वहाँ तक 'मानवधर्मसार' या 'भूगोल हस्तामलक' की भाषा उनकी आदर्श और स्वीकृत भाषा नहीं थी। सर्वप्रचलित अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग करने में किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। किन्तु जिन अरबी-फ़ारसी शब्दों को राजा साहब आम जनता की बोलचाल के शब्द समझते थे, वे कभी भी जनता के बीच नहीं बोले जाते थे। चन्द ने भी उनकी जैसी भाषा का प्रयोग नहीं किया। यदि वे भारतीय जनता के जीवन, उसकी संस्कृति और हिन्दी साहित्य की भाषा-परंपरा पर ध्यान रखकर अपनी नीति निर्धारित करते तो यह भूल उनसे कदापि न होती। परन्तु शिक्षा-विभाग का उन पर ऐसा रंग चढ़ा कि फिर वे सम्हल न सके।

यदि हम राजा साहब को सरकार की मर्ज़ी के ख़िलाफ़ न चलने वाले लोगों में से कहें तो कोई अनौचित्य न होगा। वे संस्कृत जानते थे और संस्कृत-मिश्रित भाषा और शैली का प्रयोग भी करते थे। जैसा कि उपर्युक्त अवतरणों से सिद्ध होता है, उन्होंने अपनी अनेक रचनाओं में ऐसा किया है। लेकिन अफ़सरों को खुश करने के लिए वे अपनी भाषा का गला घोंट सकते थे। पहले तो उन्होंने हिन्दी-उर्दू के मेल का चर्चा चलाई। और फिर धीरे-धीरे चुपके से उर्दू-परस्त बन बैठे। आखिर वे शिक्षा-विभाग के कर्मचारी थे और हिन्दी का 'गँवरपन' निकाल कर उसे 'फ़ैशनेबुल' बनाना चाहते थे। हेनरी पिन्कौट (१८२६-१८६६) ने १ जनवरी, १८८४ के एक पत्र में भारतेन्दु को ठीक ही लिखा था :

> '...राजा शिवप्रसाद बड़ा चतुर है। बीस बरस हुए उसने सोचा कि अँगरेज़ी साहबों को कैसी कैसी बातें अच्छी लगती हैं उन बातों का प्रचलित करना चतुर लोगों का परम धर्म है। इसलिये बड़े चाव से उसने

---

[1] '[हिन्दी व्याकरण में हिन्दी] से यहां मतलब हिन्द या हिन्दुस्तान की उस देसी बोली से है जो अब यहां के सर्कार दरबार और हाट बाज़ार में बोली जाती है।'—'हिन्दी व्याकरण', पृ० १

काव्य को और अपनी हिन्दी भाषा को भी बिना लाज छोड़ कर उर्दू के प्रचलित करने में बहुत उद्योग किया।...राजा शिवप्रसाद को अपना ही हित सबसे भारी बात है।'[1]

भाषा का यह विदेशी रूप ग्रहण करने के लिए लोग तैयार नहीं थे। स्वयं शिक्षा-विभाग के वीरेश्वर चक्रवर्ती ने राजा साहब की भाषा का रूप ग्रहण नहीं किया।[2] वास्तव में यदि सच्ची हिन्दुस्तानी किसी ने लिखी तो वह जोधपुर के मुंसिफ़ मुंशी देवीप्रसाद (१८४७-१६२३) और प्रसिद्ध उपन्यास-लेखक देवकीनन्दन खत्री (१८६१-१६१३) ने। 'चन्द्रकान्ता संतति' की रचना करते समय देवकीनन्दन खत्री ने कहा था :

'जिस समय मैंने चन्द्रकान्ता लिखनी आरम्भ की थी उस समय से इस समय में बड़ा अन्तर है। हिन्दी के साहित्य में उस समय कविवर प्रतापनारायण मिश्र, पण्डितवर अम्बिकादत्त व्यास जैसे धुरंधर किन्तु अनुद्धत सुकवि और सुलेखक विद्यमान थे। राजा लक्ष्मणसिंह जैसे सुप्रतिष्ठित पुरुष हिन्दी की सेवा करने में अपना गौरव समझते थे परन्तु अब न वैसे धार्मिक कवि हैं और न वैसे सुलेखक! उस समय हिन्दी के लेखक थे परन्तु ग्राहक न थे, इस समय ग्राहक हैं पर वैसे लेखक नहीं हैं। मेरे इस कथन का यह मतलब नहीं है कि वर्तमान समय के साहित्य सेवी प्रतिष्ठा के योग्य नहीं हैं, बल्कि यह मतलब है कि जो स्वर्गीय सज्जन अपनी लेखनी से हिन्दी के आदि युग में हमें ज्ञान दे गये हैं वे हमारी अपेक्षा बहुत चढ़ बढ़ कर थे। उनकी लेख प्रणाली में चाहे भेद रहा हो परन्तु उन सब का लक्ष्य यह था कि इस भारत भूमि में किसी तरह मातृ भाषा का एकाधिपत्य हो, लेकिन यह कोई नियम की बात नहीं है कि वैसे लोगों से कुछ भूलें हों ही नहीं, उनसे भूल हुई तो यही कि प्रचलित शब्दों पर उन्होंने अधिक ध्यान नहीं दिया, राजा शिवप्रसाद जी के राजनीति के विचार चाहे कैसे ही रहे हों पर सामाजिक विचार उनके बहुत ही प्राञ्जल थे और वे समयानुकूल काम करना जानते थे, विशेषतः जिस ढंग की हिन्दी वे लिख गये हैं उसी से वर्तमान समय में हिन्दी का रास्ता कुछ साफ हुआ है।

---

[1] 'हिन्दी भाषा' (१८८०, बाँकीपुर सं०), पृ० २८

[2] दे०, 'साहित्य संग्रह' (१८८६) की भूमिका

'चाहे कोई हिन्दू हो चाहे जैन वा बौध हो और आर्यसमाजी व धर्म-समाजी ही क्यों न हो परन्तु जिन सज्जनों के माननीय अवतारों और पूर्वजनों ने इस पुण्यभूमि का अपने आविर्भाव से गौरव बढ़ाया है उनमें ऐसा अभागा कौन होगा जो पुण्यता और मधुरता युक्त संस्कृत भाषा के शब्दों का प्रचार चाहेगा ! मेरे विचार में किसी विवेकी भारत सन्तान के विषय में केवल यह देख कर कि वह विदेशी भाषा के शब्दों का प्रचार कर रहा है यह गढ़न्त कर लेना कि वह देववाणी के पवित्र शब्दों का विरोधी है भ्रम ही नहीं किन्तु अन्याय भी है। देखना यह चाहिये कि ऐसा करने से उसका मतलब क्या है। भारतवर्ष में आठ सौ वर्ष तक विदेशी यवनों का राज्य रहा है इसलिये फारसी और अर्बी के शब्द हिन्दू समाज में न 'पठेत यावनी भाषा' की दीवार लांघ कर उसी प्रकार घुसे जिस प्रकार हिमालय के उन्नत मस्तक लांघ कर वे स्वयं आ गये, यहां तक कि महात्मा तुलसीदास जी जैसे भगवद्भक्त कवियों को भी "गरीब निवाज" आदि शब्दों का बर्ताव दिल खोल के करना पड़ा।

'आठ सौ वर्ष के कुसंस्कार को जो गिनती के दिनों में दूर करना चाहते हैं उनके उत्साह और साहस की प्रशंसा करने पर भी हम यह कहने के लिये मजबूर हैं कि वे अपने बहुमूल्य समय का सदुपयोग नहीं करते बल्कि जो कुछ वे कर सकते थे उससे भी दूर हटते हैं। यदि ईश्वरचन्द्र विद्यासागर सीधे साधे शब्दों से बँगला में काम न लेते तो उत्तर काल के लेखकों को संस्कृत शब्द के बहुत प्रचार का अवसर न मिलता और यदि "राजा शिवप्रसादी हिन्दी" प्रगट न होती तो सरकारी पाठशालाओं में हिन्दी के चन्द्रमा की चांदनी मुश्किल से पहुँचती। मेरे बहुत से मित्र हिन्दुओं की अकृतज्ञता यों वर्णन करते हैं कि उन्होंने हरिश्चन्द्र जी जैसे देश हितैषी पुरुष की उत्तम उत्तम पुस्तकें नहीं खरीदीं, पर मैं कहता हूं कि यदि बाबू हरिश्चन्द्र अपनी भाषा को थोड़ा सरल करते तो हमारे भाइयों को अपने समाज पर कलंक लगाने की आवश्यकता न पड़ती और स्वाभाविक शब्दों के मेल से हिन्दी की पैसिंजर भी मेल बन जाती। प्रवाह के विरुद्ध में चलकर यदि कोई कृतकार्य हो तो निःसन्देह उसकी बहादुरी है परन्तु बड़े बड़े दार्शनिक पण्डितों ने इसको असम्भव ठहराया है। सार सुधानिधि और कवि वचन सुधा की भाषा यद्यपि भावुक जनों के लिये आदर की वस्तु थी परन्तु समय के उपयोगी

न थी। हमारे 'सुदर्शन' की लेख प्रणाली को हिन्दू के धुरन्धर लेखकों और विद्वानों ने प्रशंसा के योग्य ठहराया है परन्तु साधारणजन उससे कितना लाभ उठा सकते हैं, यह सोचने की बात है। यदि महाकवि भवभूति के समान किसी भविष्य पुरुष की आशा हो पर ग्रन्थकारों और लेखकों को यत्न करना चाहिये तब तो मैं सुदर्शन सम्पादक पण्डित माधव प्रसाद मिश्र को भी भविष्य की आशा पर बधाई देता हूं और यदि ग्रन्थकारों का भविष्य को अपेक्षा वर्तमान से अधिक सम्बन्ध है तो निःसन्देह इस विषय में मुझे आपत्ति है।

'किसी दार्शनिक ग्रन्थ वा पत्र की भाषा के लिये यदि किसी बड़े कोष को टटोलना पड़े तो कुछ परवाह नहीं परन्तु साधारण विषयों की भाषा के लिये भी कोष की खोज करनी पड़े तो निःसन्देह खेद की बात है। हमारी हिन्दी किसी श्रेणी की हिन्दी है, इसका निर्द्धारण मैं नहीं करता परन्तु यह मैं नहीं मानता हूं कि इसके लिये कोष की तलाश करनी नहीं पड़ती। चन्द्रकान्ता के आरम्भ के समय मुझे यह विश्वास न था कि उसका इतना अधिक प्रचार होगा, यह मनोविनोद के लिये लिखी गई थी पर पीछे लोगों का अनुराग देख कर मेरा भी अनुराग हो गया और मैंने अपने उन विचारों को जिनको मैं अभी तक प्रकाश नहीं कर सका फैलाने के लिये इसी पुस्तक को द्वार बनाया और सरल भाषा में उन्हीं मामूली बातों को लिखा जिसमें मैं उस मनोहर मण्डली का प्रिय पात्र बन जाऊं जिनके हाथ में भारत का भविष्य सौंप कर हमें इस असार संसार से बिदा होना है। मुझे इस बात से बड़ा हर्ष है कि मैं इस विषय में सफल काम हुआ और मुझे ग्राहकों की अच्छी श्रेणी मिल गई। यह बात बहुत से सज्जनों पर प्रगट है कि चन्द्रकान्ता पढ़ने के लिये बहुत से पुरुष नागरी की वर्णमाला सीखते हैं। जिनको कभी हिन्दी सीखना न था उन लोगों ने भी इसके लिये हिन्दी सीखी है।

'हिन्दी के हितैषियों में दो प्रकार के सज्जन हैं। एक तो वे जिनका विचार यह है कि चाहे अक्षर फारसी क्यों न हों पर भाषा विशुद्ध संस्कृत मिश्रित होनी चाहिये और दूसरे वे जो यह चाहते हैं कि चाहे भाषा में फारसी के शब्द मिले ही हों पर अक्षर नागरी होने चाहिये। पहिले पक्ष में पञ्जाब के आर्य्य समाजियों और धर्म सभा वालों को मान लेता हूं जिनमें वर्णमाला के सिवाय फ़ारसी अरबी को कछ सहारा नहीं है। सब कुछ संस्कृत का है और दूसरे पक्ष में मैं अपने

को ठहरा लेता हूं जो इसके ठीक विपरीत है। मैं इस बात को भी स्वीकार करता हूं कि जिस प्रकार फ़ारसी वर्णमाला उर्दू का शरीर और अरबी फ़ारसी के उपयुक्त शब्द उसका जीवन है ठीक उसी प्रकार नागरी वर्णमाला हिन्दी का शरीर और संस्कृत के उपयुक्त शब्द उसके प्राण कहे जा सकते हैं। यदि यह देश यवनों के अधिकार में न हुआ होता, यदि कायस्थादि हिन्दू जातियों को उर्दू भाषा का प्रेम अस्थि मज्जागत न हो गया होता तो हिन्दी का शरीर और जीवन पृथक पृथक दिखलाई न देता। उसी प्रकार हमारे ग्रंथों की सजीव उत्पत्ति होती जिस प्रकार द्विज बालकों की होती है। शरीर में यदि आत्मा न हो तो वह बेकार है और यदि आत्मा को मनुष्यादि उपयुक्त शरीर न मिलकर पशु पक्षी आदि का मिल जाय तो वह भी निष्फल ही है। इसलिये पहिले शरीर बना कर फिर उसमें आत्मदेव का स्थापन करना ही न्याय युक्त और फलप्रद है। "चन्द्रकान्ता और सन्तति" में यद्यपि इस बात का पता नहीं लगेगा कि कब और कहाँ भाषा का परिवर्तन होगया परन्तु उसके आरम्भ और अन्त ठीक वैसा ही परिवर्तन पावेंगे जैसा बालक और वृद्ध में। एकदम से बहुत से शब्दों का प्रचार करते तो कभी सम्भव न था कि उतने संस्कृत के शब्द हम उन कुपढ़ ग्रामीण लोगों को याद करा देते जिनके निकट काला अक्षर भैंस के बराबर या हमारे इस कर्त्तव्य का आश्चर्यमय फल देखकर वे लोग भी बोधगम्य उर्दू के शब्दों को अपनी विशुद्ध हिन्दी में लाने लगे हैं जो आरम्भ में इसी लिये हम पर कटाक्षपात करते थे। इस प्रकार प्राकृतिक प्रभाव के साथ साहित्य सेवियों की सरस्वती का प्रभाव बदलता देखकर समय के बदलने का अनुमान करना कुछ अनुचित नहीं है। जो हो भाषा के विषय में हमारा वक्तव्य यही है कि वह सरल हो और नागरी वर्णों में हो क्योंकि जिस भाषा के अक्षर होते हैं, उनका खिंचाव उन्हीं मूल भाषाओं की ओर होता है जिनसे उनकी उत्पत्ति हुई है।'

राजा शिवप्रसाद और देवकीनन्दन खत्री के विचारों में बहुत कुछ साम्य है। किन्तु व्यावहारिक रूप में देवकीनन्दन खत्री ने अरबी-फारसी के उन्हीं शब्दों का प्रयोग किया जो सूबा हिन्दुस्तान की जनता में प्रचलित थे। हिन्दुस्तानी स्कूल के सच्चे प्रतिनिधि वे ही हैं, राजा शिवप्रसाद नहीं। देवकीनन्दन खत्री की भाषा से तो सभी परिचित हैं। मुंशी देवीप्रसाद के 'हिन्दूपति

महाराणा उदयसिंह जी' (१८९३) से कुछ पंक्तियाँ नीचे उद्धृत की जाती हैं :

'संवत् १६१० में सलेमशाह के मरने पर राठौड़ पृथ्वीराज ने जोधपुर से जाकर फिर अजमेर के किले को घेरा किलेदार ने हिन्दूपति को किला देना करके चीतौड़ से बुलाया महाराणा बहुत सी फौज लेकर गये और पृथ्वीराज को हटाकर अजमेर में अमल कर लिया और पठानों को ज़िन्दा और सलामत निकाल कर नागौर भी जा दबाया इस बात से पृथ्वीराज को बड़ी शर्मिंदगी हुई और राव मालदेव जी के पास जो मेड़ता फ़तह करने को आते थे पहुँच कर बहुत कोशिश उनको अजमेर के ऊपर लाने की की मगर रावजी मेड़ते को फतह करना अजमेर से जियादा जरूरी समझ कर पृथ्वीराज को भी अपने साथ ले गये मगर वहाँ हार हुई और पृथ्वीराज काम आया।'[1]

अरबी-फ़ारसी-मिश्रित भाषा का अधिक प्रचार न हो सका। साहित्यिकों को भाषा का यह रूप बहुत खटका और उसकी कड़ी आलोचना की गई। आलोच्य काल के प्रारम्भ में गद्य के विकास की यह एक बड़ी दुरूह समस्या थी। अनेक लोगों ने अरबी-फ़ारसी-मिश्रित गद्य और शैली की घोर निन्दा की और संस्कृत परिवार की भाषाओं के लिए यह प्रवृत्ति घातक बताई। इस्लामी सभ्यता के साथ सम्पर्क स्थापित होने के बाद भाषाओं में अनेक विदेशी शब्द प्रचलित हो गए थे, इस बात से कोई इंकार नहीं कर सकता। इस सम्बन्ध में राजा शिवप्रसाद का भी मत ठीक ही था। किन्तु हिन्दी साहित्य में विदेशी शब्दों की संख्या दाल में नमक बराबर रही है और उनसे भाषा के व्यक्तित्व को आघात नहीं पहुँचा। विदेशी शब्द ग्रहण करने की रीति यही है कि उनका प्रयोग करने पर भी भाषा का व्यक्तित्व बना रहे। राजा शिवप्रसाद की भाँति अनावश्यक विदेशी शब्दों से अपनी भाषा सजाना उसकी समन्वयात्मक शक्ति का परिचय न देकर उसके जातीय स्वरूप को मिटा देना कहा जायगा। अँगरेज़ों ने जिस अदालती भाषा को आश्रय दिया उसकी शैली हिन्दी की जातीय शैली से कोसों दूर थी। राजा शिवप्रसाद उसी अदालती भाषा की ओर आकृष्ट हुए। 'बनारस अखबार' और पुस्तकों द्वारा वे अपनी अरबी-फ़ारसी-मिश्रित भाषा का प्रचार कर रहे थे। ऐसे समय में उनकी भाषा-नीति की प्रतिक्रिया के रूप में राजा लक्ष्मण-

---

[1] पृ० ८६-६०

सिंह (१८२६-१८९६) विशुद्ध हिन्दी लेकर आगे बढ़े। वे भी सरकारी नौकर थे और फ़ारसी तथा उर्दू से भली भाँति परिचित थे। किन्तु उनका कहना था :

'हमारे मत में हिन्दी और उर्दू दो बोली न्यारी न्यारी हैं हिन्दी इस देश के हिन्दू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों और पारसी पढ़े हुए हिन्दुओं की बोलचाल है हिन्दी में संस्कृत के पद बहुत आते हैं उर्दू में अरबी पारसी के परन्तु कुछ अवश्य नहीं है कि अरबी पारसी के शब्दों बिना हिन्दी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिन्दी कहते हैं जिसमें अरबी पारसी के शब्द भरे हों।'[1]

राजा लक्ष्मणसिंह हिन्दी को अरबी-फ़ारसी शब्दों के भार से मुक्त कर उसे उच्च साहित्यिक पद प्रदान करना चाहते थे। अरबी-फ़ारसी शब्द बचाने की चेष्टा में यद्यपि कहीं-कहीं उनकी भाषा कृत्रिम और अस्वाभाविक हो गई है, तो भी उसमें विदेशीपन नहीं आने पाया। दोषपूर्ण होते हुए भी उनकी भाषा सरल और साहित्य तथा देश की परम्परा के अनुकूल है। उन्होंने सर्व-साधारण में प्रचलित संस्कृत शब्दों का प्रयोग किया है। उनकी भाषा पर ब्रजभाषा का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। किन्तु उन्होंने 'अपनी हिन्दी भाषा को भी बिना लाज छोड़ कर उर्दू के प्रचलित करने में बहुत उद्योग' न किया। राजा लक्ष्मणसिंह ने अपने सिद्धान्तानुकूल अरबी-फ़ारसी शब्दों से रहित हिन्दी लिखी। उनके 'शकुन्तला' (१८६१) और 'मेघदूत' (१८८२-८४) का अच्छा स्वागत हुआ। स्वयं राजा शिवप्रसाद ने 'शकुन्तला' का बहुत बड़ा अंश अपने 'गुटका' में रक्खा। १८७८ में उन्होंने 'रघुवंश' का अनुवाद किया। राजा शिवप्रसाद को संस्कृत शब्दों के प्रयोग से जो डर था उसे राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा ने निर्मूल सिद्ध कर दिया। उनकी भाषा जनसाधारण की भाषा के अधिक निकट है। उदाहरण के लिए :

'जब फूल भी देह के संग से आयु का नाश करने को समर्थ हुए तौ हाय मारने वाले दई का साधन और कौन सी वस्तु न होगी ॥

'अथवा यम कोमल वस्तु को कोमल ही से मारता है ॥ इसमें पहला दृष्टान्त पाला लगने से नाश होने वाली कमलनी मैंने मानी है ॥

'जो यह माला प्राणघातिनी है तो छाती पर पड़ी हुई मुझे क्यों नहीं मारती ॥ ईश्वर की इच्छा से कहीं अमृत भी विष होता है कहीं विष अमृत ॥

---

[1] 'रघुवंश' (१८७८), विज्ञापन, पृ० २-३

'अथवा मेरा भाग्य लौटने से ब्रह्मा ने यह (माला) वज्र करदी है, यद्यपि इसने वृक्ष नहीं गिराया परंतु उसकी शाखा में लपटी हुई लता विनाश डाली ॥'[1]

परन्तु इतना ज़रूर कहना पड़ेगा कि राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा आईन, तर्कशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि ज्ञान-विज्ञान के उपयुक्त नहीं है। विशुद्धता का जो आदर्श उन्होंने अपने सामने रक्खा वह न तो भाषा-विज्ञान-सम्मत है और न व्यावहारिक। सर्वसाधारण में व्यवहृत अरबी-फ़ारसी के शब्द भी हिन्दी भाषा के अंग बन गए थे। उनका प्रयोग करने में कोई हानि नहीं थी। वास्तव में राजा शिवप्रसाद के ग़लत मार्ग की प्रति-क्रिया के रूप में राजा लक्ष्मणसिंह ने अरबी-फ़ारसी तथा अन्य किसी विदेशी भाषा के सर्वसाधारण में प्रचलित शब्दों तक का बहिष्कार करने की ठान ली हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यदि ऐसा न होता तो ऐलेन ऑक्टेवियन ह्यूम की सहकारिता में १८५६ (१८६५) के ऐक्ट नम्बर १० का उल्था करते समय उनको यह न लिखना पड़ता कि 'यद्यपि इसका नाम हिन्दी भाषा रख लिया है परंतु इसमें थोड़े से पारसी और अरबी और कहीं २ अँगरेज़ी भी शब्द अवश्य लाने पड़े जैसे गवाह, और अदालत, कलेक्टर, कारण यह है कि लोग इन शब्दों को उनके उल्था से अधिक समझते हैं....' और इन शब्दों के लिए पुस्तक के अन्त में एक कोष न जोड़ना पड़ता। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि लोग इन शब्दों को अधिक समझते हैं। फिर भी उन्हें हिन्दी से बाहर के शब्द मानने की तो कोई वजह नहीं थी। परन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी उनकी भाषा 'Sanscrit ridden' नहीं है। वह सरल और सीधी है। यह कार्य राजा लक्ष्मणसिंह जैसा प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति ही कर सकता था।

राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा उसके भावी रूप का आभास दे चुकी थी। उसमें अब परिमार्जित साहित्य के उत्पन्न होने की देर थी। ऐसे समय में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०-१८८५) का उदय हुआ। उनका भाषा और साहित्य दोनों पर प्रभाव पड़ा। उन्होंने भाषा का परिमार्जित, शिष्ट और जातीय रूप जनता के सामने रक्खा। १८८३-८४ के लगभग उन्होंने 'हिन्दी भाषा' नामक एक छोटी-सी पुस्तक लिखी जिसमें उन्होंने अपने समय में

---

[1] 'रघुवंश' (१८७८), अज-विलाप, आठवाँ सर्ग, पृ० २११

प्रचलित गद्य के नमूने दिए हैं। जो भाषा स्वयं उन्हें पसन्द थी वह राजा शिवप्रसाद की भाषा के अनुरूप नहीं है :

'नं० २ जिसमें संस्कृत के शब्द थोड़े हैं

सब विदेशी लोग घर फिर आए और व्यापारियों ने नौका लादना छोड़ दिया पुल टूट गए बांध खुल गए पंक से पृथ्वी भर गई पहाड़ी नदियों ने अपने बल दिखाए बहुत वृक्ष समेत कूल तोड़ गिराए सर्प बिलों से बाहर निकले महानदियों ने मर्यादा भङ्ग कर दी और स्वतंत्रता स्त्रियों की भाँति उमड़ चली।'

'नं०३ जो शुद्ध हिन्दी है

पर मेरे प्रीतम अब तक घर न आए क्या उस देश में बरसात नहीं होती या किसी सौत के फन्द में पड़ गए कि इधर की सुध ही भूल गए। कहां (तो) वह प्यार की बातें कहां एक संग ऐसा भूल जाना कि चिट्ठी भी न भिजवाना। हा! मैं कहां जाऊं कैसी करूं मेरी तो ऐसी कोई मुंह बोली सहेली भी नहीं कि उससे दुखड़ा रो सुनाऊं कुछ इधर उधर की बातों ही से जी बहलाऊं।'

वास्तव में नं०३ की शैली ही हिन्दी की जातीय शैली है। अनलंकृत और संस्कृत की कोमल-कांत-पदावली से मुक्त होने के साथ-साथ उसमें तद्भव और देशज शब्दों तथा कहावतों और मुहावरों का प्राधान्य और संस्कृत के सरल, सुबोध और लोकप्रचलित शब्दों का प्रयोग होना चाहिए। विदेशी शब्द उसमें वे ही आने चाहिए जो जनसाधारण में सरलतापूर्वक समझे जा सकते हैं और जो भाषा के अंग बन गए हैं। इस शैली का सर्वोत्तम उदाहरण भारतेन्दु के मौलिक नाटकों, विशेषतः उनकी 'चन्द्रावली' (१८७६) नाटिका, में मिलता है। आलोच्य-काल में भारतेन्दु द्वारा निर्धारित भाषा के उपर्युक्त दो रूपों का ही अधिक प्रचार हुआ। कुछ ऐसे लेखकों को छोड़कर जो फ़ारसी शिक्षा के कारण विदेशी शब्दों का प्रयोग किए बिना न रह सकते थे, इस काल में तत्सम और तद्भव दोनों प्रकार के शब्दों का न्यूनाधिक प्रयोग होता रहा। भारतेन्दु के भाषा सम्बन्धी आदर्श का परिचय ऊपर कराया जा चुका है। लेकिन नवोत्थान काल की अतीतोन्मुखी प्रवृत्ति तथा आर्य समाज आन्दोलन द्वारा प्रेरित संस्कृत साहित्य के अध्ययन तथा संस्कृत सभ्यता पर ज़ोर देने के फलस्वरूप और बँगला भाषा से अनुवादों की प्रथा चल पड़ने के कारण हिन्दी संस्कृत शब्दावली के अधिकाधिक प्रयोग की ओर चल पड़ी और भारतेन्दु द्वारा स्थापित भाषा का आदर्श लोगों की आँखों

से ओझल होगया। आर्य समाज आन्दोलन के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती की भाषा संस्कृत-गर्भित है, यद्यपि उसमें कहीं-कहीं ब्रजभाषापन भी मिल जाता है :

'पुरुषों का और कन्याओं का ब्रह्मचर्य्याश्रम और विद्या जब पूर्ण हो जाय तब जो देश का राजा होय और जितने विद्वान् लोग वे सब उनकी परीक्षा यथावत् करें जिस पुरुष वा कन्या में श्रेष्ठ गुण, जितेन्द्रियता, सत्य बचन, निरभिमान, उत्तम बुद्धि, पूर्ण बिद्या, मधुर बाणी, कृतज्ञता, बिद्या और गुण के प्रकाश में अत्यन्त प्रीति जिसमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक, कृतघ्नता, छल, कपट, ईर्ष्या, द्वेषादिक दोष न होवें पूर्ण कृपा से सब लोगों का कल्याण चाहें उसको ब्राह्मण का अधिकार देवें और यथोक्त पूर्वोक्त गुण जिसमें होय परन्तु बिद्या कुछ न्यून होय शूरबीरता, बल और पराक्रम ये तीन गुण वाला जो ब्राह्मण भया उससे अधिक हो उसको क्षत्रिय करें और जिसको थोड़ी सी विद्या होवै परन्तु व्यापारादिक व्यवहारों में नाना प्रकारों के शिल्पों में देश देशान्तर से पदार्थों का ले आने और ले जाने में चतुर होवै उसको वैश्य करना चाहिये और जो पढ़ने लगा जिसको शिक्षा भी भई परन्तु कुछ भी विद्या नहीं आई उसको शूद्र बनाना चाहिये इसी प्रकार कन्याओं की भी व्यवस्था करनी चाहिए।'[1]

'मैंने परीक्षा करके निश्चय किया है कि जो धर्मयुक्त व्यवहार में ठीक २ वर्तता है उसको सर्वत्र सुखलाभ और जो विपरीत वर्तता है वह सदा दुःखी होकर अपनी हानि कर लेता है। देखिये जब कोई सभ्य मनुष्य विद्वानों की सभा में वा किसी के पास जाकर अपनी योग्यता के अनुसार नम्रतापूर्वक नमस्ते आदि करके बैठ के दूसरे की बात ध्यान दे सुन, उसका सिद्धान्त जान निरभिमानी होकर युक्त प्रत्युत्तर करता है, तब सज्जन लोग प्रसन्न होकर उसका सत्कार और जो अण्डबण्ड बकता है, उसका तिरस्कार करते हैं।'[2]

---

[1] 'सत्यार्थप्रकाश' (१८७४), १९१६ में कालूराम शास्त्री द्वारा प्रकाशित १८७५ के संस्करण से, पृ० ६४

[2] 'व्यवहारभानु', भाग २, शताब्दी संस्करण संवत् १९८१ वि०, की भूमिका

'श्रीमती राजराजेश्वरी श्री विक्टोरिया महाराणी का विज्ञापन भी प्रसिद्ध है कि इन अव्यक्तवाणि पशुओं को जो २ दुःख दिया जाता है, वह २ न दिया जावे तो क्या भला मार डालने से भी अधिक कोई दुःख होता है ? क्या फाँसी से अधिक दुःख बंदीगृह में होता है ?'[1]

आर्य समाज की भाषा से हिन्दी भाषा में एक नई शैली का प्रतिपादन हुआ। 'सत्यार्थप्रकाश' (१८७४) में स्वामी दयानन्द ने जैन, सिक्ख, आदि हिन्दू सम्प्रदायों तथा इस्लाम और ईसाई मतों की तीव्र आलोचना की है। इससे भाषा में गहन से गहन विषयों पर भी वाद-विवाद करने की शक्ति आ गई। आर्य समाज के कारण व्याख्यानों की धूम मची जिससे हिन्दी भाषा का समस्त उत्तर भारत में प्रचार हुआ। भाव-व्यञ्जना में भी इससे सहायता मिली और तर्क-शैली के साथ-साथ भाषा में व्यंग्य तथा कटाक्ष करने की शक्ति का आविर्भाव हुआ। इस प्रकार आर्य समाज तथा अन्य धार्मिक आन्दोलनों के कारण हिन्दी भाषा तथा गद्य-शैली का विकास हुआ, यह निर्विवाद है।

आलोच्य काल में भाषा का झुकाव संस्कृत शब्दावली के प्रयोग की ओर अधिकाधिक होता गया। उपन्यासों, नाटकों, कविता, आदि के क्षेत्र में हमें बराबर यह प्रवृत्ति मिलती है। कहीं-कहीं यह प्रवृत्ति स्वाभाविकता की सीमा का उल्लंघन कर गई है। ऐसे अनेक संस्कृत शब्द मिलते हैं जो अनुपयुक्त हैं और जिनके स्थान पर उपयुक्त और सरल हिंदी शब्दों का प्रयोग हो सकता था। संस्कृत के अत्यधिक मोह के कारण भाषा बोझिल होकर अपना स्वच्छंद प्रवाह खो बैठी। जैनेन्द्रकिशोर ने अपने 'कमलिनी' नामक उपन्यास में 'नाक बह रही है' जैसी सरल, सीधी और ठेठ हिंदी के स्थान पर 'नासिकारंध्र स्फीत हो रहा है' लिखा है। यह केवल एक उदाहरण यहाँ दिया गया है। परन्तु ऐसे और भी सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि भाषा में संस्कृतपन कहाँ तक घुस गया था। बँगला से किए गए अनुवाद-ग्रंथों में तो मूल भाषा की संस्कृत शब्दावली ज्यों की त्यों रख दी गई है। लंबे-लंबे समासयुक्त तथा कठिन और असाधारण शब्दों से भाषा का सुघड़पन नहीं बढ़ा। एक ओर यदि अरबी-फ़ारसी शब्दावली भाषा के अस्तित्व की घातक है तो दूसरी ओर संस्कृत शब्दावली

---

[1] 'गोकरुणानिधि', शताब्दी संस्करण; पृ० ४११

के भार से भाषा में दुरूहता आने और उसके सहज-स्वाभाविक रूप के नष्ट हो जाने की आशंका रहती है। जहाँ तक हो सके लेखकों को सरल और सीधी भाषा का प्रयोग करना चाहिए। सौभाग्यवश हिन्दी में 'नासिकारंध्र' वाली प्रवृत्ति का स्थायी प्रचार न हो सका। प्रतिभा-संपन्न लेखकों ने संस्कृत शब्दों का प्रयोग करते हुए भी सरल भाषा लिखी है। उसमें संस्कृत शैली के समान संयुक्त और दुरूह शब्दावली का प्रयोग नहीं हुआ। किंतु साथ ही यह भी याद रखना चाहिए कि आलोच्य काल में ब्रजभाषा का प्रभाव बिल्कुल दूर नहीं हो पाया था और भारतेंदु, स्वामी दयानन्द, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र की व्यक्तिगत शैलियों को छोड़ कर हिन्दी गद्य वर्तमान काल की भाँति परिष्कृत और परिमार्जित तथा नाना शैलियों से समन्वित भी नहीं हो पाया था। स्वयं भारतेंदु हरिश्चंद्र की रचनाओं में ब्रज-भाषा के प्रयोग और अशुद्धियाँ मिलती हैं। वास्तव में आलोच्य काल का महत्व साहित्य का नए-नए विषयों की ओर प्रवृत्त होने में है, न कि भाषा के परिष्कृत और प्राञ्जल रूप में। यह दूसरा कार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के हाथ से होना बदा था। वैसे भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने 'हरिश्चंद्र मैगज़ीन' (१८७३) के जन्म से हिन्दी के पुनर्जन्म का उदय माना है—'हिन्दी नए चाल में ढली—१८७३ ई०'[1]

जिस प्रकार मुसलमानों के आने से बहुत से अरबी-फ़ारसी शब्द हिन्दी भाषा में घुलमिल गए, उसी प्रकार अँगरेज़ों के आने से अँगरेज़ी भाषा के शब्द भी उसके स्वाभाविक और अखण्ड प्रवाह में मिल गए। सजीव भाषा की भाँति हिन्दी ने दूसरी भाषाओं के अनेक शब्द पचा लिए। दो जातियों का एक-दूसरे के सम्पर्क में आने के फलस्वरूप यह क्रम उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध से पहले ही प्रारंभ हो गया था। उत्तरार्द्ध में और तेज़ी के साथ नए-नए शब्द ग्रहण किए जाने लगे। शासन-सम्बन्धी शब्द, जैसे, 'म्युनिसिपैल्टी', 'कलक्टर', 'हाईकोर्ट', 'पुलीस', 'जज', 'गवर्नर', 'लेफ़्टिनेंट-गवर्नर', 'गवर्नर-जनरल', 'वाइसराय', 'लॉर्ड', 'जूरी', आदि, शिक्षा-सम्बन्धी, जैसे, 'स्कूल', 'कालिज', 'यूनिवर्सिटी', 'डैस्क', 'इन्सपैक्टर', 'बोर्ड', 'नॉर्मल स्कूल', आदि, आचार-विचार और पोशाक-सम्बन्धी, जैसे, 'कोट', पैंट', 'शर्ट', 'शू', 'शेकहैंड', 'टाई', 'बूट', 'कॉलर', 'थैंक-यू', 'सॉरी', 'यस', आदि, उद्योग-धन्धे-सम्बन्धी, जैसे, 'मिल', सेना-सम्बन्धी, जैसे, 'कप्तान', 'मेजर', 'जनरल', 'कंपनी',

---

[1] 'कालचक्र' (१८८४ के लगभग)

'कमांडर', 'पलटन', आदि और भी अनेक शब्द हिन्दी भाषा में मिलकर उसके अंग बन गए, जैसे, 'स्टेशन', 'नेशन', 'कॉंग्रेस', 'पोस्टमैन', 'एडीटर', 'कॉपी', 'पॉलिसी', 'करस्पौंडेंट', 'ह्वाइट', 'इँगलिश', 'टीचर', 'ब्रैंडी', 'शैम्पेन', 'लम्प', 'हैट', आदि। शब्द-भांडार और फलतः भाषा की अभिव्यंजनात्मक शक्ति बढ़ने से नवीन विचार प्रकट करने में अत्यधिक सहायता मिली।

यह पहले कहा जा चुका है कि आलोच्य काल में साहित्य नए-नए विषयों और रूपों की ओर बढ़ा। गद्य भी पहले की अपेक्षा अधिक पुष्ट होकर अपना स्वरूप स्थिर करने लगा था—कर नहीं पाया था। साहित्य को यदि हम 'शक्तिसम्पन्न साहित्य' और 'ज्ञानवर्द्धक साहित्य' नामक दो भागों में विभाजित करें तो आलोच्य काल का महत्त्व इस दृष्टि से भी है कि पूर्वार्द्ध की अपेक्षा इस समय अधिक तीव्र गति से, और उच्च कोटि के, ज्ञान-वर्द्धक साहित्य का निर्माण हुआ। 'शक्तिसम्पन्न साहित्य' के अन्तर्गत हम काव्य, नाटक, उपन्यास, आदि की गणना कर सकते हैं जो पाठकों में उल्लास और उत्तेजना भर देते हैं। 'शक्तिसम्पन्न साहित्य' की दृष्टि से तो आलोच्य काल हिन्दी साहित्य में अभूतपूर्व है और इस सम्बन्ध में हम विभिन्न रूपों का अलग-अलग अध्यायों में विचार करेंगे। इससे हमें हिन्दी गद्य की चौमुखी प्रतिमा का परिचय प्राप्त होता है। 'शक्तिसम्पन्न' साहित्यिक विषयों के अतिरिक्त ज्ञान-विज्ञान-सम्बन्धी तथा उपयोगी साहित्य की सृष्टि भी हुई। हिन्दी साहित्य जो गद्य के क्षेत्र में उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक वास्तविक जीवन से अलग पुराने रास्ते पर पड़ा हुआ था, पूर्वार्द्ध में बहुत जल्दी विज्ञान, इतिहास, भूगोल, अर्थ-शास्त्र, प्राणिशास्त्र, राजनीति, आईन, यात्रा, गणित, गवेषणा-सम्बन्धी, आदि नए-नए गम्भीर विषयों की ओर प्रवृत्त हुआ था। उत्तरार्द्ध के लेखकों ने स्वतंत्र पुस्तकों के निर्माण और समाचारपत्रों की सहायता से तत्परतापूर्वक यह कार्य आगे बढ़ा कर हिन्दी-भाषियों में नवीन व्यावहारिक ज्ञान का प्रचार किया। राजा शिव-प्रसाद, रामप्रसाद त्रिपाठी, मथुराप्रसाद मिश्र, श्रीलाल, कुञ्जबिहारीलाल, ब्रजबासीदास, बिहारीलाल चौबे, शिवशंकर, कालीचरण, आगरे के जवा-हरलाल, भारतेन्दु, आदि अनेक लेखकों और 'धर्म दिवाकर', 'भूगोल रहस्य', 'प्रदीप,' 'ब्राह्मण,' 'हरिश्चन्द्र चंद्रिका', 'आनन्दकादंबिनी', आदि पत्र-पत्रिकाओं ने हिन्दी गद्य की प्रगति में पूरा हाथ बँटाया। यह ठीक है कि 'शक्तिसम्पन्न' साहित्य के अतिरिक्त अन्य विषयों की रचना पाठ्य-पुस्तकों

के रूप में हो रही थी। किन्तु एक तो इन अन्य विषयों के पठन-पाठन का कार्य-क्रम नवीन शिक्षा-संस्थाओं में ही हुआ था, इसलिए उस समय केवल पाठ्य-पुस्तकों के रूप में ज्ञान-वर्द्धक साहित्य का निर्माण होना नितांत स्वाभाविक था; दूसरे, उनसे यह पता तो चलता है कि हवा किस ओर बह रही थी। कुछ तो अँगरेज़ी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में लिखे गए ग्रन्थों के अनुवाद-कार्य से ज्ञान-भाण्डार बढ़ाया गया, और कुछ मौलिक रचनाएँ प्रस्तुत की गईं। इन पुस्तकों में नैतिक-शिक्षा, साहित्य, ज्ञान-विज्ञान, आदि विषयों से सम्बन्धित सामग्री रक्खी गई है, जैसे, मदनमोहन भट्ट कृत 'परमपुरुषार्थ' (१८८५, स्माइल्स की रचना के उर्दू-अनुवाद से), वीरेश्वर चक्रवर्ती द्वारा संपादित 'साहित्य संग्रह' (१८८६), साहबप्रसाद सिंह द्वारा संकलित 'भाषासार', दो भाग (१८८७ के लगभग), काशीनाथ खत्री द्वारा 'नीत्युपदेश' (१८८७, जॉन स्टुअर्ट ब्लैकी के लेखों का अनुवाद) और 'नीति पुष्पावली' (१८८६, मुंशी शंकरदास वर्मा की उर्दू रचना 'गुलदस्ता-इ-तहज़ीब' का अनुवाद), जगन्नाथ भारतीय कृत 'भारतीय शिक्षा' (१८८६), प्रतापनारायण मिश्र कृत 'सुचाल शिक्षा' (१८६२), अतरौली निवासी बद्रीप्रसाद शर्मा कृत 'प्रबन्धार्कोदय' (१८६५), डॉ० रामचन्द्र वर्मा कृत 'विद्या का महत्त्व' (१८६७), अंबिकादत्त व्यास द्वारा संग्रहीत 'साहित्य नवनीत' (१८६६), गंगाप्रसाद अग्निहोत्री द्वारा 'निबन्धमालादर्श' (१८६६, विष्णुकृष्ण शास्त्री चिपलूनकर के मराठी लेखों का अनुवाद), गोपीनाथ एम० ए० द्वारा 'मित्रता' (१६००, सिसरो की रचना का अनुवाद), बालमुकुन्द गुप्त कृत 'गुप्त निबन्धावाली', महावीरप्रसाद द्विवेदी कृत 'बेकन-विचार-रत्नावली,' 'हरिश्चन्द्र कला' में संग्रहीत भारतेन्दु के ज्ञान-विज्ञान, इतिहास, पुरावृत्त, आदि सम्बन्धी लेख, और राजा शिव-प्रसाद तथा अन्य लेखकों की रचनाओं में। इन अनूदित, संग्रहीत या मौलिक रचनाओं में से अनेक स्कूलों के विद्यार्थियों के लाभार्थ लिखी गई थीं। लेखकों ने ज्ञान-विज्ञान-सम्बन्धी तथा नवीन साहित्यिक विषयों की रचना कर पिछड़े हुए हिन्दी साहित्य को उन्नति की ओर अग्रसर किया। इसी में इन लेखकों का महत्त्व है। नहीं तो उनकी भाषा और शैली साधारण है। कुछ अवतरण नीचे दिए जाते हैं :

'केवल मनुष्य ही ईश्वर की सृष्टि का ऐसा जीव है जिसमें ज्ञान, विद्या, प्रतिभा, स्फूर्ति, आदि अनेक गुण रहते हैं; जिनसे ये अपनी भावी विपत्तियों का विचार कर, अपने को उससे पहिले ही बचाने की

चेष्टा करते हैं और सुख स्वच्छंदता आदि गुणों को भोग सकते हैं। इसलिये विज्ञान के बल से बलवान् मनुष्य-समाज, एक पशु क्या, यावन्मात्र भूमि के निवासी हैं, उन सभी से बलवान् और उन्नत है। यही मनुष्य-समाज का औरों से भेद है। मनुष्य समाज में भी नाना भेद देखे जाते हैं। जिस समाज में सुख, स्वच्छन्दता, स्फूर्ति, प्रतिभा आदि गुण बढ़े चले जाते हैं, वह औरों की अपेक्षा उत्तम, उन्नत या सभ्य गिना जाता है, और जिसमें वे कम होते हैं, वही निकृष्ट कहलाता है। अपने समाज की उन्नति करना मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य है, किन्तु जब तक वह अपने समाज के स्वरूप को नहीं समझता, तब तक उसकी उन्नति करना तो क्या, वरन उसके लिये चेष्टा भी नहीं कर सकता। अतएव अपने समाज का स्वरूप जानना अवश्य चाहिये।'[1]

'१४५६ ई० में एक धूमकेतु देखकर लोग इतना घबड़ा गये कि उस समय के रोम के पोप ने इसकी शान्ति के निमित्त एक विशेष उपासना की आज्ञा लोगों को दी। इस प्रकार के ताराओं का इतने भयानक होने का कारण यह है कि, ये देखने में किसी प्रकार की ज्योतिर्विद्या के नियम से नहीं बंधे मालूम पड़ते। सिवा इसके, इसका एकाएक निकल पड़ना, असाधारण वेग, बड़ी भारी पुच्छदार शकल, अनियमित गति और हर एक दिशा में सूर्य की ओर दौड़ना, साधारण लोगों की कौन कहे, विद्वानों को भी आश्चर्य दिलाता है। इसका असर अब किसी-किसी मुल्क के लोगों के दिल पर आगे का सा नहीं होता, परन्तु हिन्दुओं के जी से यह खयाल अब तक नहीं गया। क्योंकि, ये अपने को हर वक़्त ग्रहों के बड़े नैकट्य संबंध से बंधा समझते हैं और हर एक शुभाशुभ परिणाम रूप ग्रहों की गति-विधि दरियाफ़्त किया करते हैं। सन् १८५८ के साल में जो एक बड़ा धूमकेतु दिखाई पड़ा था, लोग उसे बलवा होने का हेतु कहते थे। ऐसे ही वह तारा, जो १८८१ साल में देखा गया, यदि कुछ दिन पहले उगता, तो निश्चय है कि काबुल युद्ध का चिन्ह समझा जाता'।[2]

---

[1] 'मनुष्य समाज'—'धर्म दिवाकर' में प्रकाशित। वीरेश्वर चक्रवर्ती द्वारा संग्रहीत 'साहित्य संग्रह' (१८८६) से उद्धृत, पृ० १७०।

[2] 'धूमकेतु और सौर जगत'—'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित। वही, पृ० ३१-३४।

पाश्चात्य सभ्यता और नवशिक्षा से प्रेरणा ग्रहण कर इन गद्य-लेखकों ने वैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक सत्य-निरूपण का प्रयास किया। सत्यान्वेषण की इस प्रवृत्ति का पाठ्य-पुस्तकों से प्रारम्भ होकर साहित्य-क्षेत्र में अवतरण हुआ। भारतेंदु हरिश्चंद्र तथा उनके सहयोगियों ने लेखों के रूप में ही नहीं वरन् काव्य, नाटक, उपन्यास, आदि की रचना करते समय भी भारतीय इतिहास का अपने ढंग से अध्ययन कर जातीय, धार्मिक और राजनीतिक विषयों की गवेषणा की। उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा भारतीय सभ्यता और संस्कृति के उत्थान-पतन की कहानी पाठकों के सामने रक्खी और अवनति के कर्दम से निकल कर शक्ति-संचय और उज्ज्वल भविष्य के निर्माण के लिए उनका आवाहन किया। अपनी परतंत्रता भी उन्हें खटकी और अपने तत्कालीन विचारादर्शों के अनुसार उसे दूर करने का भारी प्रयत्न किया। वे भारतीय सामाजिक एवं धार्मिक पतन के सच्चे कारणों को ढूँढ़ निकाल कर सत्य, मानव-साम्य तथा कल्याण और स्वतंत्रता के आधार पर नया समाज स्थापित करने में संलग्न थे। उन्होंने प्रत्येक सुधारवादी आन्दोलन को भारतीय संगठन की दृष्टि से अपनी बुद्धि की तुला पर तोला। उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध का हिन्दी साहित्य किसी न किसी रूप में मानव के प्रति सहानुभूति से लबालब भरा हुआ है। एक ओर यदि उन्होंने विविध राजनीतिक तथा आर्थिक अत्याचारों का विरोध किया तो सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र में पंडे-पुजारियों तथा ब्राह्मणों की धूर्तता और देवदासी-प्रथा, आदि की घोर निंदा की। नवीन ज्ञान-विज्ञान के प्रकाश में वे समाज के पद-दलित और पीड़ित समुदायों को उठा कर उन्हें मानवोचित मार्ग पर लाना चाहते थे। यही इस साहित्य की सबसे बड़ी महत्ता है।

विविध पाठ्य-पुस्तकों के निर्माण के अतिरिक्त अनेक लेखकों ने स्वतंत्र रूप से ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी तथा साहित्यिक रचनाओं द्वारा हिन्दी गद्य को समृद्ध बनाया। उसमें उनकी व्यक्तिगत विशिष्टताएँ तो नहीं हैं, किन्तु वह अकृत्रिम, स्पष्ट, अनलंकृत, भाव-प्रकाशन-शक्ति-संपन्न और सरल किन्तु पुष्ट है। उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में वह हिन्दी-भाषियों की मानसिक एवं बौद्धिक प्रगति का साधन बना; उसने हिन्दी नवोत्थान का भार वहन किया। जिन प्रतिभावान् लेखकों द्वारा यह महत्त्वपूर्ण गद्य-कार्य संपन्न हुआ उनमें से प्रमुख-प्रमुख ये हैं—राजा लक्ष्मणसिंह (१८२६-१८९६), राजा शिवप्रसाद (१८२३-१८९५), भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०-१८८५), श्रीनिवासदास (१८५१-१८८७), बालकृष्ण भट्ट (१८४४-१९१४), प्रतापनारायण

मिश्र (१८५६-१८६४), रामशंकर व्यास (१८६०-१६१६), राधाकृष्ण-दास (१८६५-१६०७), सुधाकर द्विवेदी (१८६०-१६१०), स्वामी दयानंद (१८२४-१८८३), कार्तिकप्रसाद खत्री (१८५१-१६०४), राधाचरण गोस्वामी (१८५६-१६२५), बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' (१८५५-१६२३), ठाकुर जगमोहन सिंह (१८५७-१८६६), गदाधर सिंह (१८४८-१८६८) देवीप्रसाद मुंसिफ़ (१८४७-१६२३), बालमुकुन्द गुप्त (१८६५-१६०७), दुर्गाप्रसाद मिश्र (१८५६-१६१०), काशीनाथ (१८८० र० का०), किशोरीलाल गोस्वामी (१८६५-१६३२), बिहारीलाल चौबे (१८८८ र० का०), तोताराम वर्मा (१८४७-१६०२), दामोदर शास्त्री (ज० १८५८, र० का० १८७३), नवीनचन्द्र राय (१८३७-१८६०), देवकीनन्दन खत्री (१८६१-१६१३), श्यामसुन्दर दास (१८७५-१६४५), महावीरप्रसाद द्विवेदी (१८६४-१६३८), शङ्करसहाय अग्निहोत्री (१८३५-१६१०), अम्बिका-दत्त व्यास (१८५८-१६००), बाबा सुमेरसिंह, आदि। उन्होंने विविध प्रकार की रचनाएँ कर हिन्दी गद्य की वृद्धि की। उनकी रचनाओं में से अनेक रचनाएँ साधारण और साहित्यिक वैभव से विहीन हैं। किन्तु उनकी कुछ रचनाएँ हिन्दी साहित्य की स्थायी सम्पत्ति रहेंगी और उसका गौरव बढ़ाती रहेंगी। हिन्दी गद्य की इस वृद्धि में प्रेस ने बहुत सहायता पहुँचाई।

आलोच्य काल में यह बात ध्यान देने योग्य है कि खड़ीबोली गद्य का प्रचार हो जाने पर भी प्राचीन ढंग से लिखा गया ब्रजभाषा गद्य टीकाओं के रूप में पाया जाता है—ब्रजभाषा गद्य में लिखी गई कोई स्वतन्त्र रचना नहीं मिलती। किन्तु वह परिष्कृत और सुव्यवस्थित रूप में नहीं है। अर्थ और भाव स्पष्ट करने की उसकी शक्ति उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में ही नष्ट हो चुकी थी। ये टीकाएं बड़ी अस्पष्ट और उलझी हुई होती थीं और उनसे अब ब्रजभाषा गद्य के विकास की कोई आशा न रह गई थी। सरदार (१८४५-१८८३ र० का०) 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया', 'सूरदास के दृष्टिकूट' (१८४७), आदि पर टीकाएँ लिख चुके थे या लिख रहे थे। महाराज मानसिंह के दरबारी कवि जगन्नाथ अवस्थी ने 'शृंगार लतिका' की टीका ब्रजभाषा में लिखी, यद्यपि अयोध्या के महामहोपाध्याय सर प्रतापनारायण सिंह, के० सी० आई० ई० उसकी 'सौरभी टीका' खड़ीबोली में लिख चुके थे। महाराज रघुराजसिंह के 'रामस्वयम्वर' में भी कहीं-कहीं बीच में असम्बद्ध ब्रजभाषा गद्य मिल जाता है। वास्तव में यह गद्य गोकुलनाथ, लल्लूलाल, आदि के ब्रजभाषा गद्य की परम्परा का खँडहर मात्र था। वैष्णव वार्ताओं तथा अन्य प्राचीन ब्रजभाषा

रचनाओं के गद्य में जो शक्ति थी वह अब न रह गई थी। टूटे-फूटे अशक्त व्रजभाषा गद्य में टीकाएँ लिखने की प्रथा आलोच्य काल में बनी अवश्य रही, किन्तु नवीन शक्तियों के प्रभावान्तर्गत अनेक पुरानी बातों के मिटने के साथ-साथ व्रजभाषा गद्य भी लुप्त हो रहा था या लगभग हो चुका था।

वैसे तो गद्य साहित्य बहुत विस्तृत चीज़ है, लेकिन साहित्य का व्यापक अर्थ न लेकर आगे हम गद्य साहित्य के केवल प्रमुख रूपों—निबन्ध, आलोचना, हिन्दी ईसाई साहित्य, उपन्यास और नाटक—का ही अध्ययन करेंगे। हिन्दी गद्य के विकास के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण जीवनी-साहित्य और पत्र-पत्रिकाओं की चर्चा भी कर दी गई है।

प्रकरण २

निबन्ध

निबन्ध-रचना और गद्य के विकास का घनिष्ठ सम्बन्ध है। गद्य-इतिहास के प्रारम्भिक काल में प्रायः निबन्ध-रचना नहीं हुआ करती। जब गद्य की शक्ति का पूर्ण विकास हो जाता है तभी निबन्धों की रचना भी सम्भव होती है। निबन्ध गद्य की प्रौढ़ता का प्रतिक है। इस दृष्टि से हिन्दी निबन्धों का इतिहास बहुत प्राचीन नहीं है। उनका प्रारम्भ और प्रचार हुए अभी पूरी एक शताब्दी भी नहीं हुई। हिन्दी गद्य-परम्परा की हमें तीन शाखाएँ मिलती हैं—ब्रजभाषा, राजस्थानी और खड़ीबोली। इनमें ब्रजभाषा गद्य-परम्परा की विशेषता में धार्मिक कथा-वार्ताओं और टीकाओं की ही प्रधान रूप से गणना की जा सकती है। राजस्थानी गद्य-परम्परा का क्षेत्र ब्रजभाषा गद्य-परम्परा की अपेक्षा अधिक विस्तृत रहा। उसमें वार्ताँ, ख्यालों, धार्मिक कथाओं, प्रेम-कहानियों, ऐतिहासिक कथाओं, काव्य-शास्त्र तथा जैनधर्म-सम्बन्धी, आदि अनेक प्रकार के ग्रन्थों की रचना हुई। किन्तु दोनों में से किसी एक में भी 'निबन्ध' नाम से अभिहित होने वाली गद्य-रचना प्राप्त नहीं होती। निबन्ध-रचना केवल खड़ीबोली की विशेषता है। खड़ीबोली गद्य के लिए उन्नीसवीं शताब्दी, और उसमें भी निबन्ध-रचना की दृष्टि से उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध, महत्त्वपूर्ण है। उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में जहाँ अनेक नए-नए साहित्यिक रूपों का सृजन हुआ वहाँ उनमें एक रूप निबन्ध भी था। इस दृष्टि से निबन्ध हिन्दी साहित्य का नितान्त आधुनिक रूप है। उस समय निबन्ध-रचना का सूत्रपात होने के दो प्रधान कारण थे—हिन्दी-भाषियों की नई शिक्षा और प्रेस तथा समाचारपत्र। नई शिक्षा के कारण हिन्दी-भाषी अँगरेज़ी साहित्य के सम्पर्क में आए। उन्होंने स्माइल्स, जॉन स्टुअर्ट ब्लैकी, सिसरो, बेकन, आदि की रचनाओं का पाठ्य-पुस्तकों के अथवा स्वतन्त्र रूप में अनुवाद किया था। जिन भारतेन्दुकालीन साहित्यिकों ने नवीन साहित्य के निर्माण में योग दिया उनमें से लगभग सभी ने अँगरेज़ी शिक्षा प्राप्त की थी और वे पाश्चात्य निबन्ध-लेखकों की रचनाओं से परिचित

थे। किन्तु हिन्दी निबन्ध-रचना को पाठ्य-पुस्तकों से प्रोत्साहन मिला मानना ठीक न होगा, यद्यपि शिक्षा-संस्थाओं में ही लेखकगण उससे परिचित हुए थे। वास्तविक प्रोत्साहन तो पाश्चात्य साहित्य के स्वतन्त्र अध्ययन से मिला। समाचारपत्रों के प्रकाशन से इस कार्य में बहुत सहायता प्राप्त हुई। आलोच्य काल के लगभग सभी निबन्ध समाचारपत्रों में प्रकाशित हुए थे और उन्हीं के द्वारा निबन्ध-लेखकों और पाठकों में सम्पर्क स्थापित होता था। निबन्ध-लेखक प्रायः किसी एक ही पत्र में अपने निबन्ध प्रकाशित करते या कराते थे। एक ही पत्र में लिखते-लिखते कोई भी लेखक उसके पाठक-मण्डल से निकटता का अनुभव करने लगता है। यह बात निबन्ध-लेखक के लिए अत्यन्त सहायक सिद्ध होती है। निबन्ध की कई विशेषताओं में से एक विशेषता यह भी होती है कि वह व्यक्तिगत विशेषता लिए हुए स्वगत-भाषण या बातचीत के रूप में होता है। पाठक-मंडल के साथ सामीप्य की भावना उत्पन्न होने से निबन्ध-लेखक इस प्रकार अपनी रचना करता है मानों वह पाठकों के सामने साक्षात् बैठा हुआ बातचीत कर रहा हो। वह उस समय अपने और पाठकों के बीच में कोई व्यवधान या रुकावट नहीं पाता; उनके साथ अपनेपन का अनुभव करता है। साक्षात् रूप से बातचीत करने पर वह जो हाव-भाव-प्रदर्शन करता या अपने स्वभाव की जिस विशेषता के साथ बातचीत करता, उसे वह निबन्ध में शब्दों द्वारा प्रकट करता है। साथ ही अपनेपन के कारण वह अपने हृदय की गूढ़ातिगूढ़ बात भी सहज-स्वाभाविक ढंग से संक्षेप में कह जाता है। इस प्रकार विभिन्न लेखकों की उनकी व्यक्तिगत विशेषताओं के अनुरूप शैलियों का निर्माण करने में समाचार-पत्र का बहुत बड़ा हाथ रहता है। आलोच्य काल में बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र के निबन्ध इसके सर्वोत्तम उदाहरण हैं।

आजकल हिन्दी में 'निबन्ध' शब्द का कुछ अवैज्ञानिक प्रयोग चल पड़ा है। 'लेख' निबन्ध और 'निबन्ध' लेख के रूप में एक प्रकार से समानार्थवाची हो गए हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'बलिया का लेक्चर' से लेकर प्रेमचन्द द्वारा दिए गए विविध भाषण, रामचन्द्र शुक्ल कृत 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' और 'गोस्वामी तुलसीदास', जयशंकर 'प्रसाद' कृत रस की विवेचना अथवा किसी लेखक द्वारा बौद्ध-दर्शन या स्त्रियों की सामाजिक स्थिति या अहिंसा या नागा जाति या भालू, आदि के वर्णन तक सभी रचनाएँ 'लेख' और 'निबन्ध' दोनों में से किसी एक नाम से पुकारी जाती हैं। यह अव्यवस्था है।

वास्तव में 'निबन्ध' क्या है, इस सम्बन्ध में कोई एक निश्चित परिभाषा देना कठिन है। 'निबन्ध' संस्कृत शब्द है जिसका मूल अर्थ 'सँवार कर सीना' है। प्राचीन काल में हस्तलिखित ग्रन्थों को सँवार कर सीने की क्रिया का नाम निबन्ध था। धीरे-धीरे यह शब्द ग्रन्थ के लिए ही प्रयुक्त होने लगा। जिस ग्रन्थ में एक ही विषय के सम्बन्ध में अनेक व्याख्याओं का संग्रह रहता था लोग उसे 'निबन्ध' नाम से पुकारते थे। 'निबन्ध' से ही कुछ मिलता-जुलता प्रयोग 'प्रबन्ध' शब्द का होता था। 'प्रबन्ध' में कई विषयों के सम्बन्ध में अनेक मतों का संग्रह रहता था। इसलिए 'प्रबन्ध' का क्षेत्र 'निबन्ध' की अपेक्षा अधिक व्यापक था। शब्दार्थ की दृष्टि से दोनों का अर्थ 'बँधा हुआ या कसा हुआ' है। 'लेख' का अर्थ है 'लिखा गया।' मनुष्य में विचार-प्रकाशन की सहज प्रवृत्ति है। समाज में विभिन्न विषयों पर विचार प्रकट होते रहते हैं। जब कोई लेखक अपनी रुचि, आदर्श, आदि के अनुकूल किसी विषय पर लिखित रूप में विचार प्रकट करता है तो उसे 'लेख' कहते हैं। 'लेख' के शब्दार्थ की दृष्टि से तो 'निबन्ध' और 'प्रबन्ध' भी भी 'लेख' हैं। किन्तु विषय और रूप की दृष्टि से 'लेख' और 'निबन्ध' तथा 'प्रबन्ध' में अन्तर है। प्राचीन परम्परा के अनुसार 'निबन्ध' और 'प्रबन्ध' में धर्म तथा काव्य-सम्बन्धी सूत्र, भाष्य, टीकाएँ, आदि नीरस किन्तु उपयोगी बातें रहती थीं और उनमें रस तथा साहित्यिकता का अभाव रहता था। 'लेख' एक प्रकार से आधुनिक चीज़ है और वह धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक राजनीतिक, वैज्ञानिक, आदि किसी भी विषय पर हो सकता है। उसकी लम्बाई की कोई सीमा नहीं होती और उसमें लेखक अपना मत प्रतिपादित करने के साथ-साथ दूसरों के मतों की सहायता भी लेते हुए किसी विषय का सांगोपांग निरूपण कर सकता या करता है। 'निबन्ध', 'प्रबन्ध' और 'लेख', के लिए अँगरेज़ी के क्रमशः 'Essay', 'Treatise' और 'Article' शब्दों का प्रयोग होता है। अँगरेज़ी का शब्द 'Essay' फ्रेंच का 'Essai' शब्द है। जिस आधुनिक रचना को हम 'Essay' या हिन्दी में 'निबन्ध' कह कर पुकारते हैं, वह प्राचीन 'निबन्ध' से भिन्न है, यद्यपि दोनों के लिए एक ही शब्द प्रयोग होता है। आधुनिक 'Essay' या 'निबन्ध' पर 'निबन्ध' के केवल शब्दार्थ—'बँधा हुआ, कसा हुआ'—का आरोप हम अवश्य कर सकते हैं। अन्यथा आधुनिक 'निबन्ध' और प्राचीन 'निबन्ध' में कोई समानता नहीं है। संस्कृत में 'निबन्ध' होते अवश्य थे जिनमें गद्य-पद्य मिश्रित भाषा में आचार्य अपना कोई मत स्थापित करते थे। हिन्दी

का 'निबन्ध' संस्कृत शब्द होते हुए भी अपने प्राचीन रूप से भिन्न वस्तु है। 'निबन्ध' का आधुनिक रूप पश्चिम की देन है।

'निबन्ध' की सरल और सूक्ष्म परिभाषा तो यह है कि निबन्ध-लेखक की रचना का नाम निबन्ध है। किन्तु इससे 'निबन्ध' के लक्षणों का कोई ज्ञान प्राप्त नहीं होता। और फिर 'निबन्ध' शब्द के अन्तर्गत गम्भीर दार्शनिक विषयों पर निर्मित रचनाओं से लेकर कॉलेज के विद्यार्थियों द्वारा लिखे गए 'निबन्ध' आदि सभी रचनाएँ आ जाती हैं। यूरोप में भी 'Essay' शब्द के अन्तर्गत छोटी-बड़ी, गम्भीर या सरल, गद्य या पद्य में लिखी गई सब प्रकार की रचनाओं का उल्लेख होता आया है। उदाहरणार्थ, प्रसिद्ध विचारक बोज़ाङ्के की रचना 'The Philosophy of State' और पोप की समालोचना-सम्बन्धी पद्य-बद्ध रचना, दोनों 'Essay' नाम से अभिहित हैं। इस प्रकार के अन्य अनेक उदाहरण मिलते हैं। यहाँ 'Essay' के शब्दार्थ—'प्रयास'—का प्रयोग हुआ है। अस्तु, साहित्यिक 'निबन्ध,' या प्रचलित प्रयोग के अनुसार केवल 'निबन्ध,' की कोई सन्तोषजनक परिभाषा या एक निश्चित परिभाषा के अभाव में उसके लक्षण या उसकी विशेषताएँ होनी चाहिए, तभी उसका रूप स्पष्ट हो सकता है।

'निबन्ध' के लिए अँगरेज़ी के प्रसिद्ध साहित्यिक जॉनसन द्वारा प्रतिपादित परिभाषा—'It is a loose sally of the mind, an irregular ill-digested piece, not a regular and orderly performance'—का प्रायः उल्लेख किया जाता है। किन्तु इस परिभाषा के अनुसार बड़े-बड़े लेखकों की रचनाएँ निबन्ध की कोटि में न आ सकेंगी। आधुनिक विद्वानों का मत है कि निबन्ध के लक्षणों से परिचित होने के लिए हमें पहले साहित्य को दो भागों में विभक्त करना पड़ेगा—'शक्तिसम्पन्न' साहित्य, जैसे, काव्य, नाटक, उपन्यास, आदि, और 'ज्ञानवर्द्धक' साहित्य, जैसे, भूगोल, इतिहास, आदि। इनमें से निबन्ध 'शक्तिसम्पन्न' साहित्य के अन्तर्गत आता है। 'शक्तिसम्पन्न' से तात्पर्य है वह साहित्य जिसमें मानसिक उल्लास और उत्तेजना उत्पन्न करने की शक्ति हो। 'शक्तिसम्पन्न' साहित्य के अन्य रूपों और निबन्ध में यह अन्तर है कि निबन्ध एक साफ़-सुथरे ढंग तथा उच्च कोटि की बातचीत के रूप में होता है। उसमें लेखक किसी विषय का सांगोपांग निरूपण नहीं करता; वह केवल एक प्रयास मात्र होता है और उसकी शैली और ध्वनि में सरलता और स्वच्छन्दता (उच्छृङ्खलता नहीं) रहती है। साफ़-सुथरे ढंग के स्वगत-

भाषण या बातचीत होने के कारण ही यह कहा जाता है कि प्रायः सभी प्रसिद्ध निबन्ध-लेखकों ने अपनी-अपनी प्रौढ़ावस्था में ही निबन्ध-रचना प्रारम्भ की। उस समय लेखक जो कुछ कहता है अपने ज्ञान और अनुभव के प्रकाश में तथा जीवन के साधारण धरातल से ऊपर उठ कर कहता है। इस प्रकार लिखे गए निबन्ध के बहुत-कुछ लक्षण गीति-काव्य के लक्षणों से समानता ग्रहण कर लेते हैं। इसीलिए निबन्ध में लेखक का अहं (व्यापक अर्थ में, जिसके बिना मनुष्य मनुष्य नहीं वरन् पशु समझा जायगा) और व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित रहता है। और, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उसके इन सब लक्षणों का प्रकटीकरण प्रेस और पत्रों की सहायता से होता है और उसके लिए विषयों की अनन्तता रहती है। संक्षेपतः, निबन्ध प्रयास मात्र होता है, उसकी शैली और ध्वनि में सरलता और स्वच्छन्दता रहती है और उस पर लेखक के व्यक्तित्व की छाप रहती है।

उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध की निबन्ध-रचनाएँ समाचार-पत्रों की फ़ाइलों में बिखरी पड़ी हैं। किन्तु पूरी फ़ाइलें अप्राप्य होने के कारण इस सम्बन्ध में कठिनाई और सामग्री की अल्पता का अनुभव होता है। कम-से-कम प्रसिद्ध-प्रसिद्ध पत्रों की ही सम्पूर्ण फ़ाइलें मिल जातीं तो बहुत-कुछ काम निकल सकता था। इसलिए पहली बात तो यह है कि यद्यपि आलोच्य-काल में निबन्धों की प्रचुर मात्रा में रचना हुई प्रतीत होती है और वे साहित्य के महत्वपूर्ण अंग थे, तो भी फ़ाइलों के सुरक्षित न रहने से अधिकांश सामग्री अलभ्य है; पुस्तक रूप में बहुत कम निबन्ध प्रकाशित हुए या हो सके हैं। ऐसी दशा में केवल अनुमान के आधार पर उनके बारे में कुछ कहना अवैज्ञानिक होगा। दूसरी बात यह है कि निबन्ध नाम से पुकारी जाने वाली अनेक रचनाएँ निबन्ध नहीं है, लेख हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, उपाध्याय बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन,' जगमोहन सिंह, अम्बिकादत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी, गोविन्दनारायण मिश्र, आदि अनेक लेखकों की ऐसी रचनाएँ मिलती हैं जिनमें निबन्ध के कुछ लक्षण अवश्य मिल जाते हैं, किन्तु उन्हें निबन्ध न कह कर लेख कहना ही अधिक युक्ति-संगत होगा। निबन्ध-रचना के कुछ लक्षण होने पर भी निबन्ध जैसे होने चाहिए वे वैसे नहीं हैं। उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में निबन्ध-रचना का यदि वास्तविक रूप कहीं मिलता है तो बालकृष्ण भट्ट और प्रताप-नारायण मिश्र की रचनाओं में मिलता है। आगे चल कर बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में बालमुकुन्द गुप्त ने उत्कृष्ट कोटि के निबन्धों की

रचना (१६००-१६०४) की जो 'शिवशम्भु के चिट्ठे' और 'चिट्ठे और खत' में संग्रहीत हैं। उनके बाद हिन्दी में अनेक अच्छे निबन्ध-लेखक हुए जिनकी परम्परा का अन्त रामचन्द्र शुक्ल की मृत्यु के साथ हो जाता है। सम्प्रति हिन्दी में उच्च कोटि के निबन्ध-लेखक का अभाव है; एक प्रकार से निबन्ध-रचना की ओर लोगों का ध्यान ही नहीं है। अस्तु, बालकृष्ण भट्ट हिन्दी के सर्व प्रथम निबन्ध-लेखक माने जा सकते हैं। प्रतापनारायण मिश्र ने उनके साथ सहयोग प्रदान किया। उनके निबन्ध क्रमशः 'हिन्दी प्रदीप' (१८७७) और 'ब्राह्मण' (१८८३) में प्रकाशित होते थे। १८७७ के लगभग हिन्दी निबन्धों के जन्म से भाषा में मार्मिक, सरल और संयत ढंग से भाव व्यक्त करने की क्षमता आई।

१८७७ में प्रयाग हिन्दी-प्रवर्द्धिनी सभा स्थापित हुई थी। 'हिन्दी प्रदीप' इस सभा का मुखपत्र था। बालकृष्ण भट्ट इस पत्र के सम्पादक बनाए गए और इसी समय से उनके साहित्यिक जीवन का सूत्रपात हुआ। 'हिन्दी प्रदीप' के दो प्रधान उद्देश्य थे—शिक्षित समुदाय का ध्यान हिन्दी की ओर आकृष्ट करना और विदग्ध साहित्य को प्रोत्साहन देना। वह तैंतीस वर्ष तक चलता रहा। उसके इस दीर्घकालीन जीवन में कितने ही उत्तमोत्तम उपन्यास, नाटक, निबन्ध, आदि प्रकाशित हुए। भट्ट जी द्वारा लिखे गए निबन्ध स्थूल रूप से छः भागों में विभक्त किए जा सकते हैं—(१) विचित्र तथा असाधारण विषयों पर, जैसे, 'पुरुष अहेरी की स्त्रियाँ अहेर हैं', 'ईश्वर क्या ही ठठोल है', 'नाक निगोड़ी भी बुरी बला है', 'भकुआ कौन कौन है', आदि। इन निबन्धों के शीर्षक सुनते ही हँसी आती है। उनमें मसखरापन और हास्य कूट-कूट कर भरा है। परन्तु उनका हास्य बड़ा गम्भीर है। इन निबन्धों में भट्ट जी ने मानव-जीवन पर एक सूक्ष्म दृष्टि डाली है। (२) सामयिक विषयों पर, जैसे, 'पुरातन तथा आधुनिक सभ्यता'। इस प्रकार की रचनाओं में व्यंग्य-चातुर्य विशेष मात्रा में रहता है। (३) काल्पनिक, जैसे, 'आँसू', 'चन्द्रोदय'—, आदि जिनमें लेखक ने अपनी कल्पना-शक्ति का अच्छा परिचय दिया है। (४) गम्भीर तथा शिक्षाप्रद विषयों पर, जैसे, 'साहित्य जन-समूह के हृदय का विकास है', 'मनुष्य की बाहरी आकृति मन की एक प्रतिकृति है', 'आत्मनिर्भरता', 'माता का स्नेह', आदि। हास्य-प्रिय व्यक्ति होते हुए भी भट्ट जी ने गम्भीर विषयों पर उत्तम निबन्ध लिखे जिनसे उनकी विचार-शक्ति और मननशीलता का अच्छा परिचय प्राप्त होता है। (५) सामाजिक तथा राजनीतिक निबन्ध जो प्राचीन तथा नवीन दोनों परिस्थितियों

को दृष्टि में रखते हुए लिखे गए हैं। जीवनियों पर लिखे गए निबन्ध भी इसी कोटि के अन्तर्गत रक्खे जा सकते हैं, जैसे, 'श्रीशंकराचार्य और गुरु नानकदेव'। और (६) भावात्मक, जैसे, 'कल्पना'। इस प्रकार के निबन्धों में रस और भाव की व्यंजना होती है।

जिस समय भट्ट जी ने लिखना शुरू किया था उस समय राजा शिवप्रसाद, लक्ष्मणसिंह और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा स्थापित भाषा-रूप प्रचलित थे। भाषा के ये तीनों रूप भट्ट जी के निबन्धों में मिलते हैं। 'उर्दू उसकी ऐसी रेढ़ मारे हुए है कि शुद्ध हिन्दी तुलसी, सूर इत्यादि कवियों की पद्य-रचना के अतिरिक्त और कहीं मिलती ही नहीं', ऐसा लिखते हुए भी उनकी भाषा में 'नेस्तनाबूद', 'सरसब्ज़ी', 'राहत', 'सिन', 'शशोपंज', 'ब़ग़लगीर', 'रूजू', 'दरोग़ की किबलेगाह', 'फ़राग़त', 'सोसनी तहरीर', 'क़ूवते बाज़ू', 'तनज्ज़ुली', 'शाइस्तगी', आदि अनेक उर्दू-शब्द मिलते हैं। किन्तु राजा शिवप्रसाद कृत 'सिक्खों का उदय और अस्त' जैसी भाषा उनकी रचनाओं में नहीं मिलती। भाषा की दृष्टि से वे शुद्धवादी नहीं थे। सम्पादक होने के कारण पत्र का उद्देश्य ध्यान में रखते हुए उनका शुद्धिवादी होना सम्भव भी नहीं था। साथ ही वे भाषा की अभिव्यंजनात्मक शक्ति भी बढ़ाना चाहते थे क्योंकि, उनके मतानुसार, हिन्दी में 'प्रोज़' बहुत ही कम और पोच था। सिवाय एक प्रेमसागर-सी दरिद्र रचना के उन्हें उसमें कुछ मिला नहीं जिसे वे साहित्य के भाण्डार में शामिल कर सकते। 'हिन्दी गद्य को विविध रूप-सम्पन्न और समीचीन' बनाने की हार्दिक भावना से प्रेरित होकर भी उन्होंने विदेशी कहे जाने वाले शब्दों का प्रयोग किया। भाव-प्रकाशन में सुगमता लाने, भाषा को व्यापक रूप देने और अँगरेज़ी-शिक्षित व्यक्तियों को हिन्दी से परिचित कराने के लिए ही उन्होंने स्थान-स्थान पर अँगरेज़ी शब्दों का प्रयोग किया है, जैसे, 'National Vigour and Strength', 'Character', 'Nation', 'Prompter', 'Genius', 'Practice', 'Theory', 'Conduct', 'Behaviour', आदि। 'टोटल', 'प्रोज़', 'ग्रैंड टोटल', 'गारंटी', 'हेडक्वार्टर', 'डायल', आदि अँगरेज़ी के कुछ प्रचलित शब्दों का नागराक्षरों में भी उन्होंने व्यवहार किया है। पहले प्रकार के शब्दों का प्रयोग उन्होंने हिन्दी-शब्दों का अर्थ-बोध कराने के लिए किया है। कभी-कभी तो उन्होंने शीर्षक ही अँगरेज़ी में दे दिया है, जैसे, 'Are the Nation and Individual two different things'। बीच-बीच में अँगरेज़ी के वाक्य मिल जाना साधारण बात है। इसके अतिरिक्त

उन्होंने 'ठौर', 'समझाय', 'बुझाय' जैसे ब्रजभाषा रूपों और 'जून' जैसे कुछ पूर्वी शब्दों का प्रयोग किया है। उन्होंने कहावतों, मुहावरों और आलंकारिक भाषा तथा तुकान्तयुक्त वाक्यों से अपने निबन्ध सजाए हैं। वे लम्बे-लम्बे वाक्य रखने के भी शौक़ीन थे, जैसे, 'जो प्रतिष्ठा बड़े-से-बड़े राजाधिराज सम्राट् बादशाह, शाहंशाह को दुर्लभ है, वह चरित्रवान् को सुलभ है, और यह प्रतिष्ठा चरित्र पालने वाले को सहज मिल गई हो, सो नहीं, वरन् सच कहिए तो यह असिधारा व्रत है; संसार के अनेक सुखों को लात मार बड़े-बड़े क्लेश उठाने के उपरान्त मनुष्य इसमें पक्का होता।' इन वाक्यों में हमें 'माल-मता', 'कतर-ब्योंत', 'अदल-बदल', आदि जैसे शब्दों के साथ-साथ शब्दों के दोहरे-तिहरे प्रयोग तक मिलते हैं, जैसे, 'कठोर या सख्त', 'राजाधिराज सम्राट् बादशाह शाहंशाह', 'मुकुर या दर्पण', 'आचार्य, गुरु, रसूल या पैगम्बर', 'प्रतिष्ठा या इज्ज़त', 'आचार्य, नबी, अम्बिया औलिया', 'सिद्धान्तों का दृढ़ और उसूलों का पक्का', 'आभिजात्य या कुलीनता', 'अपव्ययी या फ़िज़ूल खर्च', 'किफ़ायतशार या परिमित व्ययशील', 'गुण या सिफ़तें', 'फ़िरके, जाति', आदि। पत्र में लिखते समय अँगरेज़ी-शिक्षितों, उर्दू जानने वालों और कठिन संस्कृत शब्द न समझने वालों को अपना आशय ठीक-ठीक समझाने का विचार ही इन दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों का कारण माना जा सकता है। उन्होंने कुछ शब्द गढ़े भी है, जैसे, 'सुन्दरापा', 'बेबनावट', 'टटके-टटके', 'मरपच साहित्य', आदि। साथ ही 'हमारी समाज' जैसे हिन्दी की दृष्टि से अशुद्ध प्रयोग भी मिल जाते हैं, किन्तु ऐसे प्रयोग बहुत कम हैं। वास्तव में भाषा-सम्बन्धी कुछ त्रुटियाँ छोड़कर, 'कोरे संस्कृत पंडितों की नाईं अपने गद्य-लेखों को भाषा-काठिन्य' से न जकड़ कर, उसे नीरस न होने देने और तत्कालीन पाठकों के लिए सुगम और बोधगम्य बनाने तथा कभी-कभी भाव-प्रकाशन में सबलता लाने के उद्देश्य से उन्होंने पत्र-सम्पादक की हैसियत से अपनी भाषा को विविध और व्यापक रूप दिया।

शैली की दृष्टि से भट्ट जी के निबन्ध संस्कृत शैली के अन्तर्गत रक्खे जा सकते हैं। उर्दू तथा अन्य भाषाओं के शब्दों का प्रयोग उन्होंने एक विशेष दृष्टिकोण से किया है। 'प्रेमघन' और गोविन्दनारायण मिश्र का शुद्धवादी सिद्धान्त लेकर न चलने पर भी वे उनके समीप हैं। भट्ट जी के निबन्धों में निबन्ध-रचना के सभी आवश्यक तत्व विद्यमान हैं। परिमित विस्तार में उनकी सब बातों का निरूपण होता है। वे चुने-चुने शब्दों का प्रयोग करते हैं और व्यर्थ की तूल नहीं बाँधते। जीवन की व्यक्तिगत बातों

का उल्लेख कर वे पाठकों के साथ आत्मीयता भी स्थापित करते चलते हैं। अपने स्वभाव के अनुसार वे प्रायः प्रत्येक निबन्ध में मनोरञ्जन की सामग्री प्रस्तुत करते हैं। उनमें निबन्धकार के व्यक्तित्व का समावेश है। वे जो कुछ कहते हैं अपने भाव, अपनी रुचि, अपने आदर्श और अपने विचारों के अनुसार कहते हैं। लेखक आत्म-चिन्तन प्रदर्शित करता हुआ हृदय के भाव उड़ेल कर रख देता है। प्रत्येक निबन्ध लेखक के 'व्यक्ति' पर प्रकाश डालता है। उनके निबन्ध प्राय: वर्णनात्मक, विचारात्मक और भावात्मक प्रकार के हैं। कुछ निबन्ध तर्क-प्रधान, व्याख्यात्मक और समालोचनात्मक प्रकार के भी मिलते हैं। भट्ट जी अपने निबन्धों में पहले थोड़ी-सी भूमिका बाँध कर फिर अपने मुख्य विषय पर आते हैं। संस्कृत और अँगरेज़ी के पद्य उद्धृत करते हुए तथा 'तो निश्चय हुआ', 'सारांश यह है', 'कहने का तात्पर्य यह हुआ', आदि वाक्यांशों का प्रयोग कर वे पाठक के सामने अपना कथन स्पष्ट कर देने की चेष्टा करते हैं। उन्होंने मैट्रिक्यूलेशन तक अँगरेज़ी शिक्षा ग्रहण की थी। अतएव उनके अँगरेज़ी के उद्धरण भी पाठ्य-पुस्तकों से लिए गए प्रतीत होते हैं। अवसर मिलते ही वे कोई न कोई उद्धरण पेश कर देते हैं। किसी-किसी निबन्ध का तो आधे से अधिक भाग उद्धरणों से भरा रहता है। वैसे उनके निबन्धों में सुसंबद्धता और सुशृंखलता है। किन्तु अत्यधिक उद्धरण देने से उनकी इस विशेषता को आघात पहुँचता और मौलिकता कम हो जाती है। हास्य और व्यङ्ग भी भट्ट जी की शैली की एक विशेषता है। उनका हास्य और व्यङ्ग मार्मिक, शिष्ट, अवैयक्तिक और मार्मिक होता है। उसका आनन्द प्रत्येक व्यक्ति समान रूप से उठा सकता है, यद्यपि कभी-कभी कठोर व्यङ्ग करने में भी लेखक नहीं चूकता। साथ ही उपयुक्त शब्दों का प्रयोग और शब्द-चित्र भी उनके निबन्धों में मिलते हैं। जहाँ शब्द-चित्र और अर्थ-गांभीर्य दोनों तत्वों का मिश्रण हो जाता है वहाँ भाषा और शैली का सौन्दर्य और भी बढ़ जाता है। भट्ट जी की शैली में अनोखापन है, वह कुतूहल उत्पन्न करती है।

भट्ट जी के विचारों की समीक्षा करते समय सतर्क रहने की आवश्यकता है। जहाँ उन्होंने कल्पना से काम लिया है वहाँ तो वे आलोचक की दृष्टि से काफ़ी सुरक्षित हैं। किन्तु साधारण जीवन, समाज, भाषा, साहित्य, राजनीति, आदि पर विचार प्रकट करते समय वे उच्चकोटि के विचारक प्रतीत नहीं होते। ब्रजभाषा, 'हिन्दी प्रोज़', फ्रांस की सभ्यता, प्राचीन और नवीन सभ्यता की तुलना, आदि विषयों पर प्रकट किए गए उनके विचार

वैज्ञानिक और तर्क-संगत नहीं हैं। उन पर विद्वत्ता और स्वाध्याय की छाप नहीं है। कहीं-कहीं तो उन्होंने हास्यास्पद और चलती हुई बातें कह दी हैं, जैसे, 'सभ्यता और है क्या? यही कि सभ्य जाति के एक-एक मनुष्य आबाल, वृद्ध, वनिता सबों में सभ्यता के सब लक्षण पाए जायँ।'

प्रतापनारायण मिश्र भट्ट जी के समकालीन थे। वे हिन्दी के उन कुछ लेखकों में से हैं जिनका जीवन-वृत्तान्त साहित्यिक कार्य के समान ही रोचक है। उनका जीवन एक उपन्यास की भाँति था। उसका अनुसंधान कर लेने पर ही उनका साहित्यिक महत्व समझ में आता है। वे ग्रन्थों के पीछे पड़ने वाले और जीवन से सम्बन्ध तोड़ विद्वत्ता की झोंक में पड़ने वाले व्यक्ति नहीं थे। वे प्रेम-धर्म के मानने वाले थे और भारतेन्दु को अपना गुरु, मित्र, उपास्य देव, आदि सभी कुछ मानते थे। उनका जीवन एक प्रकार से हरिश्चन्द्रमय था। १८८३ में उन्होंने 'ब्राह्मण' पत्र निकाला जिसका उद्देश्य साहित्यिक, देशभक्ति का प्रचार करना और समाज-सुधार तथा हिन्दी के प्रति रुचि उत्पन्न करना और मनोरंजनपूर्ण शिक्षा देना था। भारतेन्दु द्वारा साहित्यिक पुनर्जीवन का आविर्भाव हुआ था। किन्तु हिन्दी जनता की मानसिक क्षमता पुष्ट न थी। इसलिए उच्चकोटि के अध्ययन के उपकरणों का निर्माण करने से पहले साधारण साक्षर लोगों में साहित्यिक रुचि उत्पन्न करने के लिए सुगम साहित्य उत्पन्न करने की आवश्यकता थी। इस कार्य की पूर्ति का श्रेय बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र दोनों को है। 'मनोयोग', 'हमारी आवश्यकता', 'नारी', 'खुशामद', आदि जैसे गम्भीर निबन्धों के साथ-साथ उन्होंने 'घूरे के लत्ता बिनैं, कनातन के डौल बाँधैं', 'भौं', 'तिल', 'होली', 'आप', 'और' जैसे सब लोगों को समझ में आ सकने वाले सामयिक विषयों पर हास्यपूर्ण, सुबोध और सरल निबन्धों की रचना भी की। उनकी निबन्ध-रचना का दूसरा पक्ष ही प्रधान कहा जाय तो कोई अनौचित्य न होगा। वे परिहास-प्रिय, नाट्य-कुशल, स्वच्छन्द प्रकृति तथा प्रसन्न चित्त रहने वाले और कभी-कभी ज़रा-ज़रा सी बात पर बिगड़ जाने तथा चिढ़ कर .खूब सुनाने वाले व्यक्ति थे। इन गुणों से प्रेरित होकर उन्होंने भाषा को दुरूहता के गर्त में गिरने से बचाया और यथासम्भव रोचकता लाने की चेष्टा की। भट्ट जी की भाँति पत्रकार होने तथा हिन्दी-प्रचार की दृष्टि से मिश्र जी ने भी सरल अरबी-फ़ारसी और (कोष्ठक में तथा उसके बिना) अँगरेज़ी शब्दों, और 'तराज़ू-फराज़ू', 'खाट-बाट', 'रुज़गार-ब्यौहार', गढ़े हुए शब्दों, जैसे, 'दफ़रिनेच्छा बलीयसी', आदि का प्रयोग किया है। सरलता

लाने के लिए उन्होंने कठिन संस्कृत और फ़ारसी शब्दों के स्थान पर ग्रामीण शब्दों का प्रयोग किया है। और यद्यपि उनके समय तक हिन्दी भाषा का यथेष्ट परिष्कार और विकास हो चुका था। तो भी उन्होंने उसके उस रूप का अनुसरण न कर अपने यहाँ की साधारण जनता में प्रचलित भाषा का सामान्य चलता हुआ रूप ग्रहण किया। इससे उनकी भाषा में अस्थिरता, अपरिपक्वता, अनियन्त्रितता, पूरबीपन, ब्रजभाषापन, पण्डिताऊपन, आदि बातें आ गई हैं। विराम-चिन्हों के अभाव, चिंत्य प्रयोग और 'स्पेलिंग' और व्याकरण की भूलों के कारण भाषा त्रुटिपूर्ण और शिथिल हो गई है। 'आनन्द-लाभ करै है', 'तौ भी', 'बात रहीं' (थीं), 'चाय की सहाय सों', 'हैं के जने', 'पर केवल इन्हीं के तक में दूसरे को कुछ नहीं, फिर क्यों निन्दा की जाय', 'रिषि', 'रिचा', 'जात्याभिमान', 'उपरोक्त', 'एककार', 'भाषा इत्यादि निर्जीव हो रहे हैं', 'अकिल का कारण', 'हूई', 'के' (कर), आदि जैसे प्रयोग उनकी भाषा में सामान्यतः मिलेंगे। कहावतों और मुहावरों का अवश्य सुन्दर प्रयोग हुआ है। किसी-किसी निबन्ध में उन्होंने मुहावरों की झड़ी लगा दी है। कहीं-कहीं उनके वाक्य भी उलझे हुए और अस्पष्ट हैं। किन्तु परिमार्जन की न्यूनता और ग्रामीणता होने पर भी उनकी भाषा विषयानुकूल, प्रसंगोपयुक्त, मनोरञ्जक, व्यावहारिक, द्रुतगामिनी और रोचक है।

'शैली ही मनुष्य है', अँगरेज़ी की इस उक्ति का सफल आरोप मिश्र जी पर किया जा सकता है। भट्ट जी की अपेक्षा मिश्र जी कम गम्भीर और अधिक हँसोड़ थे। यह अन्तर उनकी शैलियों में भी प्रतिविम्बित है। मिश्र जी के निबन्धों के विषय और शैली दोनों में सरलता है, किन्तु वे विषय-प्रधान न होकर व्यक्तित्व-प्रधान हैं। स्वभाव के अनुसार ही उन्होंने विषय-निर्वाचन किया है। उन्होंने यह प्रमाणित कर दिया है कि निबन्ध किसी भी विषय पर लिखा और साधारण से साधारण विषय भी रोचक बनाया जा सकता है। लेखक के लिखने का ढंग भी ऐसा है मानों वह हमारे सामने साक्षात् बैठा सब कुछ कह रहा हो। एक-एक शब्द से हम उसकी भङ्गिमाओं का चित्र अपने सामने चित्रित कर सकते हैं। विषय-निरूपण करते समय मिश्र जी नीरस, शुष्क और विस्तृत बातें नहीं रखते। वे विषय का कोई एक पक्ष लेकर सब प्रकार से उसमें साहित्यिक सौन्दर्य उत्पन्न कर उसके साथ पाठकों का रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर देते हैं। विषय-प्रतिपादन-शैली और भाषा के लाक्षणिक प्रयोगों द्वारा वे अवर्णनीय रसात्मकता की सृष्टि किए बिना नहीं रहते। यह बात हमें भट्ट जी के निबन्धों में नहीं मिलती। कल्पना-प्रसूत भावों और वस्तुओं

का उन्होंने मानवीकरण भी किया है। रूप और शैली की दृष्टि से ऐसे निबन्ध काव्य के बहुत निकट आ जाते हैं, यद्यपि उनमें अलंकृत शैली के स्थान पर अगम्भीर शैली का प्रयोग हुआ है। मिश्र जी के निबन्ध कथात्मक और वर्णनात्मक प्रकार के ही अधिक हैं। किसी-किसी निबन्ध में तो व्याख्यान का आनन्द आता है। वे पाठकों को सम्बोधित करते चलते हैं। किन्तु भावात्मक और विचारात्मक प्रकार के निबन्धों का भी पूर्ण अभाव नहीं है। भावात्मक और विचारात्मक प्रकार के निबन्धों में से भावात्मक निबन्ध विशेष रूप से मिलते हैं। भट्ट जी की भाँति मिश्र जी किसी प्रकार की भूमिका न बाँध कर सीधे अपने विषय पर आ जाते हैं। उनका निबन्ध प्रारम्भ करने का ढंग अत्यन्त आकर्षक है; वे एकदम हमारा ध्यान आकृष्ट कर लेते हैं। निबन्धों के शीर्षक ही विचित्रता लिए हुए होते हैं। पढ़ना शुरू करते ही लेखक का वास्तविक रूप हमारे सामने आता है। ग्रामीण लोकोक्तियों तथा विषयोपयुक्त शब्दों तथा पद्य-पंक्तियों, शब्द तोड़ कर एक भिन्न अर्थ निकालने तथा किसी शब्द के अर्थ से मज़ाक बनाने की प्रवृत्ति और 'धन्य हो', 'जय हो', 'क्या कहने हैं', आदि व्यंगपूर्ण शब्दों के प्रयोग द्वारा मिश्र जी घरेलू वातावरण की सृष्टि करते हुए हास्य और व्यंग के रासायनिक योग से उत्पन्न एक प्रौढ़, सजीव, रोचक और लचीली शैली उत्पन्न करने में सफल हुए हैं। उनकी इस शैली में एक विचित्र बाँकापन है उसमें जोश है, लगन है। इसमें वे इंशा से बहुत-कुछ मिलते हैं। दोनों में लगभग समान सजीवता, घनिष्ठता (जो भट्ट जी के निबन्धों में नहीं है), विचित्रता, तथा हास्य है। निबन्ध पढ़ने से निबन्ध-लेखक के विषय में जानने की उत्कण्ठा होती है। उस पर भी विशेषता यह है कि वे हास्य और व्यंगपूर्ण भाषा में नैतिक शिक्षा भी दे देते हैं। भट्ट जी ने भी हास्य और व्यंग का आश्रय लिया। किन्तु दोनों में कुछ भेद है। भट्ट जी का हास्य तथा व्यंग शिष्ट और संयत है; वह परिमार्जित, मार्मिक और अवैयक्तिक है। मिश्र जी का हास्य अट्टहास है। वह वैयक्तिक और दूसरे को चिढ़ाने और रुलाने वाला है; वह दूसरे के जी को दुखाने वाला है। अच्छी लगे या बुरी उन्हें अपनी बात कहने से मतलब। कहीं-कहीं मिश्र जी का हास्य निम्नकोटि का और छिछोरपन लिए हुए भी है। लेकिन गद्य के क्षेत्र में उन्होंने जो कुछ किया उसके सामने उनके दोष उपेक्षणीय और नगण्य हैं।

मिश्र जी के निबन्धों से हमें उनके सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक विचारों का परिचय भी प्राप्त होता है। उनके विचारों में भट्ट जी के विचारों की भाँति अवैज्ञानिकता और शिथिलता नहीं मिलती। वे सामाजिक बन्धनों

की परवा नहीं करते थे और विधि-निषेध के क़ायल नहीं थे। सनातनधर्मी होते हुए भी वे धर्मान्ध नहीं थे। वे विरोधी धर्मों से घृणा नहीं करते थे, यहाँ तक कि वे आर्य समाज, ब्राह्म समाज, धर्म समाज, देव समाज, आदि सब समाजों में चले जाते थे। अँगरेज़ी-शिक्षितों की उच्छृंखलता देख कर उन्हें मार्मिक पीड़ा होती थी। राजनीतिक दृष्टि से वे काँग्रेसी थे। कई जगह प्रतिनिधि होकर भी गए और कविताएँ भी लिखीं।

बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र दोनों ने निबन्ध-रचना कर हिन्दी गद्य-शैली को नवीन रूप दिया। भट्ट जी से तुलना करने पर मिश्र जी कुछ असावधान लेखक थे। उनके निबन्धों का रूप तथा उनमें प्रदर्शित रुचि संस्कृत कम है; उनमें ग्रामीणता अधिक है। मिश्र जी को पाण्डित्य-प्रदर्शन में भी विश्वास नहीं था। भट्ट जी अवसर मिलते ही पाण्डित्य-प्रदर्शन करने लगते थे। वैसे भाषा, प्रयोग, आदि की दृष्टि से मिश्र जी में चाहे जो दोष आ गए हों, किन्तु निबन्धकार के वास्तविक रूप के दर्शन भट्ट जी की अपेक्षा हमें उन्हीं में अधिक होते हैं। उनके निबन्धों में दोष केवल इसलिए दिखाई देते हैं कि वे जन-समुदाय को छोड़ना नहीं चाहते थे। इस प्रधान उद्देश्य के सामने उन्होंने अन्य बातों पर अधिक ध्यान न दिया। विद्वान् होकर भी वे अपनी विद्वत्ता प्रकट करना नहीं चाहते थे। विदग्ध साहित्य की रचना वे भले ही न कर पाए हों, किन्तु उनकी रचनाओं में साधारण समाज की रुचि प्रतिबिंबित है। उनकी लेखनी और स्वभाव ने एक नवीन पाठक-समुदाय ही उत्पन्न कर दिया। उन्होंने भट्ट जी के साथ मिलकर हिन्दी को सजीवता और विशेष शैलियाँ प्रदान कीं और यद्यपि उनके विषय सीमित थे और वे जीवन के विविध पक्षों पर व्यापक दृष्टि न डाल सके, तो भी एक साधारण व्यावहारिक साहित्य का सृजन कर यह दिखला दिया कि भाषा केवल विचार-पूर्ण विषयों के प्रतिपादन के लिए ही नहीं, वरन् उसमें नित्य जीवन में व्यवहृत छोटे-छोटे और मामूली विषयों की भी आकर्षक और मनोरंजक रूप में विवेचना सम्भव है। दोनों ने हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि की।

यद्यपि आलोच्य काल में अधिक निबन्ध-लेखक तैयार न हो सके, तो भी बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र के प्रयास से हिन्दी गद्य में कुछ विशिष्टता आ गई। 'हिन्दी प्रदीप' और 'ब्राह्मण' पत्रों ने इस कार्य में बहुत सहायता पहुँचाई। भट्ट जी और मिश्र जी की परम्परा में आगे चल कर बीसवीं शताब्दी में अनेक प्रतिभाशाली और उच्च कोटि के निबन्ध-लेखक हुए।

पत्र-पत्रिकाएँ

प्राचीन भारत में एक जगह से दूसरी जगह समाचार ले जाने वाले सन्देशवाहक और मुसलमानी दरबारों में हरकारे होते थे। राज-दरबारों में लेखक और अखबारनवीस विविध समाचारों और घटनाओं का संग्रह किया करते थे। बहुत दिनों बाद प्रेस का प्रचार हो जाने से समाचार-पत्रों का चलन हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही प्रेस ज्ञान-विज्ञान के प्रसार का एक बहुत बड़ा साधन बन गया था। लॉर्ड हेस्टिंग्ज़ के समय में चार्ल्स विलकिंसन नामक व्यक्ति ने बँगला टाइप तैयार किया था। १७७८ में ऐंड्रूज़ ने हुगली में छापाखाना स्थापित किया। उसके बाद हिन्दी टाइप बने और हिन्दी प्रेस स्थापित हुए। अँगरेज़ी राज्य के विस्तार के साथ उत्तर भारत की भाषाओं में समाचारपत्रों की प्रथा सबसे पहले बँगला में चली। भारतवर्ष में सबसे पहला पत्र अँगरेज़ी में १७८० में प्रकाशित 'हिकीज़ गज़ट' कहा जाता है। उसके बाद अँगरेज़ी में और भी अनेक पत्र निकले। डॉ० मार्शमैन और डॉ० कैरे ने बँगला में भी 'दिग्दर्शन' (१८१८) नामक समाचारपत्र प्रकाशित किया। बँगला की देखादेखी हिन्दी में भी उत्तमोत्तम पत्र प्रकाशित होने लगे।

१८२६ में युगलकिशोर शुक्ल 'उदन्त मार्तण्ड' का सम्पादन कर चुके थे। किन्तु दो वर्ष बाद यह पत्र काल-कवलित हो गया। फिर १८५०-५१ में उन्होंने 'साम्यदन्त मार्तण्ड' निकाला। यह पत्र भी बहुत शीघ्र बन्द हो गया। १८५० में राजा शिवप्रसाद के 'बनारस अखबार' की भाषा-नीति के विरोध-स्वरूप तारामोहन मैत्र के सम्पादकत्व में 'सुधाकर' का जन्म हुआ। तदनन्तर जून, १८५४ में हिन्दी का सर्वप्रथम दैनिक 'समाचार सुधावर्षण'[1]

[1] 'समाचार सुधावर्षण' १६।१० कमलनयन की गली, बड़ा बाज़ार, कलकत्ता से प्रकाशित होता था। भाषा का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है:

'नागरी सीखने की आवश्यकता

१६ अप्रिल १८५५

यह सत्य हम लोग अपनी आँखों से प्रत्यक्ष महाजनों की कोठियों में देखते हैं कि एक की लिखी हुई चिट्ठी दूसरा जल्दी बाँच सकता नहीं। चार

प्रकाशित हुआ। श्यामसुन्दर सेन इसके सम्पादक थे और पत्र कलकत्ते से हिन्दी और बँगला में निकलता था। सम्पादकीय नोट, तथा मुख्य-मुख्य विषय तो हिन्दी में रहते थे और व्यापारिक समाचार बँगला में। बाद को हिन्दी ही प्रधान भाषा हो गई। उसके चौदह वर्ष बाद भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'कविवचनसुधा' नामक पत्र का जन्म हुआ। 'कविवचनसुधा' का पत्र-पत्रिकाओं के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। एक उच्चकोटि का साहित्यिक पत्र प्रकाशित करने के लिए यह एक अच्छा अवसर था। भारतेन्दु ने साहित्यिक लेख, समाचार, हास्य, यात्रा, ज्ञान-विज्ञान विषयक लेख, आदि प्रकाशित कर हिन्दी साहित्य की सम्यक् उन्नति के विचार से ही यह पत्र निकाला था। और इस पत्र से हिन्दी साहित्य की उन्नति भी खूब हुई। पहले वह पुस्तकाकार मासिक रूप में निकलता था। परन्तु भारतेन्दु के लोकप्रिय व्यक्तित्व की छाप होने के कारण पहले वह पाक्षिक और फिर साप्ताहिक रूप में निकलने लगा। १८८० के लगभग 'मर्सिया' शीर्षक एक पद्य के प्रकाशित होने से वह सरकार का क्रोध-भाजन बन गया, जिसके फलस्वरूप सरकार ने उसे खरीदना बन्द कर दिया। भारतेन्दु को इससे काफ़ी आर्थिक हानि पहुँची। १८८२ में पं० चिन्तामणि के हाथ में जाने के बाद १८८५ में 'कविवचनसुधा' का प्रकाशन बन्द हो गया। १८७३ में भारतेन्दु ने 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन या चन्द्रिका' भी निकाली। उनके दोनों पत्रों द्वारा हिन्दी साहित्य की यथेष्ट प्रगति हुई।

'कविवचनसुधा' और 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' के बाद राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक आन्दोलनों के कारण हिन्दी में पत्रों की बाढ़ आ गई। विविध आन्दोलनों तथा लॉर्ड रिपन द्वारा 'वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट' के रद्द हो

पाँच आदमी लोग एकट्ठा बैठ के ममा टटा कका घघा डडा कहिके फेर 'मिट्टी का घड़ा' बोल के निश्चय करते हैं। क्या दुःख की बात है। कहिये तो अपने पास से द्रव्य खरच करके विद्या दान देने की बात तो दूर रही अपने विद्या सीखना बड़ा अस्कत है। सब अक्षरों से देवनागर अक्षर अति उत्तम सहज जो सर्वदेश में प्रचलित है। इसको प्रथम सीखना, अनन्तर अपने उपजीविका के लिए महाजनी अक्षर का अभ्यास कर लेना, तिसके बाद जिस देश में वास करना उसके अक्षर का भी पहिचान रखना। यिह तीनों हिन्दुस्थानियों के अति आवश्यक है…', पृ० २६५-२६६

जाने के फलस्वरूप हिन्दी पत्रकार-कला को काफ़ी प्रोत्साहन मिला। समाज-सुधारकों, हिन्दी-प्रचारकों, कट्टरपन्थियों और राजनीतिक नेताओं को अपने-अपने मत का प्रचार और लोकमत अपने-अपने पक्ष में करने के लिए पत्र जैसे शक्तिशाली साधन की सहायता की आवश्यकता थी। साहित्यिक उन्नति के अतिरिक्त पत्रों के अपने अन्य विशेष उद्देश्य भी रहते थे, जैसे, 'हिन्दोस्थान' (१८८५), 'हिन्दी पञ्च' (उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशाब्द में), आदि राजनीतिक, 'मित्रविलास' (१८७७), 'आर्यसिद्धान्त' (१८८७), 'धर्म प्रचारक' (१८८५) आदि धार्मिक, 'क्षत्रिय पत्रिका' (१८८१), 'अग्रवालोपकारक' (१८८६), आदि सामाजिक, और 'कविवचनसुधा' (१८६८), 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' (१८७३), 'हिन्दी प्रदीप' (१८७७), 'आनन्दकादम्बिनी' (१८८१), 'ब्राह्मण' (१८८३), 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' (१८९७), 'सरस्वती' (१९००), आदि साहित्यिक पत्र थे। 'समाचार सुधावर्षण,' 'हिन्दोस्थान', और 'भारतोदय' (१८८५) दैनिकों को छोड़ कर प्रायः सभी पत्र साप्ताहिक या पाक्षिक या मासिक थे। ऐसे ही पत्रों की संख्या अधिक थी। उनमें कविता, विविध विषय-सम्बन्धी लेख, नाटक, प्रहसन, उपन्यास, जीवन-चरित्र, निबन्ध, आदि साहित्य, राजनीति, धर्म और समाज विषयक बातें रहती थीं। तरह-तरह के समाचारों की ओर भी उनका लक्ष्य रहता था। किन्तु 'शेतकरी अर्थात् कृषिकारक' जैसे वैज्ञानिक पत्रों का अभाव था। यह पत्र १८९० के लगभग अमरावती से हिन्दी और मराठी में अलग-अलग प्रकाशित होता था। 'खेती सुधारने वाली मण्डली' के मन्त्री चिटणिस सखाराम चिमड़ाजी गोले उसके सम्पादक थे। हाँ, इतना ज़रूर कहा जा सकता है कि अन्य पत्रों में ज्ञान-विज्ञान-सम्बन्धी लेख कभी-कभी प्रकाशित होते रहते थे। दूसरी एक विशेषता इन पत्रों के सम्बन्ध में यह है कि उनकी पृष्ठ-संख्या बहुत थोड़ी रहती थी। जैसे, 'ब्राह्मण' के पहले अंक (१५ मार्च, १८८३) में केवल बारह पृष्ठ हैं और निम्न-लिखित उसकी लेख-सूची है :

> प्रस्तावना, प्रेरित पत्र (काशीनाथ खत्री), होली (प्रतापनारायण मिश्र), स्थानीय समाचार और विज्ञापन।

भारतेन्दु के पत्रों तथा 'हिन्दी प्रदीप' को छोड़ कर अन्य पत्र 'ब्राह्मण' जैसे ही थे जिसका 'स्टैंडर्ड' बहुत ऊँचा नहीं था।

१८९७ में 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के प्रकाशित होने से हिन्दी पत्र-

पत्रिकाओं के इतिहास का स्वर्ण-युग आरम्भ होता है। यह पत्र प्रारम्भ में वार्षिक, फिर मासिक और फिर त्रैमासिक रूप में प्रकाशित हुआ। शुरू ही से उसमें साहित्य, समालोचना, इतिहास, समाजशास्त्र, आदि के सम्बन्ध में उच्च कोटि के गवेषणापूर्ण और गम्भीर तथा विचारपूर्ण लेख प्रकाशित होते थे। उसके पहले अंक की लेख-सूची इस प्रकार है :

समालोचना	पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री
योरप में संस्कृत प्रचार	रा० ब० पं० लक्ष्मीशंकर मिश्र
भारतवर्षीय आर्य देश-भाषाओं का प्रादेशिक विभाग और परस्पर सम्बन्ध	श्यामसुन्दर खत्री
समालोचनादर्श	'रत्नाकर'
पोप का जीवन-चरित्र	'रत्नाकर'
गद्य काव्य मीमांसा	पं० अम्बिकादत्त व्यास

इससे 'पत्रिका' में प्रकाशित लेखों के व्यापक विषय-विस्तार और विभिन्नता का अनुमान लगाया जा सकता है। आज भी वह हिन्दी की प्रमुख और उच्चकोटि की पत्रिका बनी हुई है जिसमें विविध विषयों पर खोज तथा पाण्डित्य-पूर्ण लेख निकलते रहते हैं। फिर जनवरी, १९०० में 'सरस्वती' मासिक पत्र का प्रकाशन हुआ। शुरू में यह पत्र बनारस से निकलता था और कार्तिक-प्रसाद, किशोरीलाल गोस्वामी, श्यामसुन्दरदास, जगन्नाथदास 'रत्नाकर' और राधाकृष्णदास उसके सम्पादक-मण्डल में थे। महावीरप्रसाद द्विवेदी के सम्पादकत्व में आने के बाद वह प्रयाग से निकल रहा है। इस पत्र ने हिन्दी भाषा और साहित्य की जो सेवा की है वह किसी से छिपी नहीं है। उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के अन्तिम दशाब्द में और भी अनेक पत्र-पत्रिकाएँ निकलीं। उनमें से किशोरीलाल गोस्वामी द्वारा सम्पादित 'उपन्यास' (१८९८) नामक मासिक पत्र विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उससे जनता में उपन्यास लिखने और पढ़ने का चाव पैदा हुआ।

यहाँ यह बता देना ज़रूरी है कि हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का क्रमबद्ध इतिहास नहीं मिलता। नाम तो उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग सभी प्रमुख

पत्रों के मिल जाते हैं, किन्तु एक तो उन सबकी फ़ाइलें नहीं मिलतीं, और दूसरे जिनकी मिलती भी हैं वे पूरी नहीं हैं।[1]

उन्नीसवीं शताब्दी में प्रकाशित पत्रों में से आज 'पत्रिका' को छोड़कर सम्भवतः अन्य कोई पत्र प्रकाशित नहीं होता। वे उसी समय कुछ वर्ष चल कर बन्द हो जाते थे। यद्यपि उनका जन्म विभिन्न आन्दोलनों के परिणाम-स्वरूप हुआ था, तो भी उनमें हिन्दी के विद्वानों और कवियों के वाद-विवाद और साहित्य-सम्बन्धी बातें तथा कविताएँ ही अधिक छपती थीं। समाचार छापने की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था। इसलिए ये अखबार वास्तव में अखबार कहलाने के अधिकारी नहीं हैं। उनका साहित्य से विशेष सम्बन्ध था। जनता में शिक्षा का प्रचार न होने के कारण उनके पढ़ने में कोई दिलचस्पी न लेता था। थोड़े-से पढ़े-लिखे और अमीर आदमियों के सिवाय साधारण जनता का अखबारों की ओर ध्यान नहीं था। यदि किसी पत्र की तीन सौ प्रतियाँ निकल जाती थीं तो बड़ी भारी बात समझी जाती थी और वह पत्र हिन्दी का प्रमुख पत्र गिना जाने लगता था। इन पत्रों का मूल्य अधिक नहीं रहता था। किन्तु लोगों की आर्थिक दशा इतनी खराब थी कि खरीद कर अखबार पढ़ना एक प्रकार से दुश्वार ही था। लाला श्रीनिवासदास ने ठीक ही कहा है :

"'...हिंदुस्तान की उन्नति नहीं होती, विद्याभ्यासके गुण कोई नहीं जान्ता, अखबारों की क़दर कोई नहीं करता, अखबार जारी करने वालों को नफ़े के बदले नुक्सान उठाना पड़ता है. हम लोग अपना दिमाग़ खिपा कर देश की उन्नति के लिये आर्टिकल लिखते हैं, परन्तु

---

[1] उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दी पत्रों का विस्तृत विवरण जानने के लिए निम्नलिखित ग्रन्थ उपयोगी सिद्ध होंगे :

राधाकृष्णदास : 'हिन्दी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास' ('राधा-कृष्ण-ग्रंथावली')

मिश्रबन्धु : 'पुष्पांजलि'

मिश्रबन्धु : 'विनोद', भाग १

बालमुकुन्द गुप्त : 'गुप्त निबन्धावली'

गार्साँ द तासी : 'इस्त्वार द ला लितरेत्यूर ऐंदुई ऐ ऐंदूस्तानी', भाग १, परिशिष्ट और हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कार्य-विवरण के द्वि० भा० में प्रकाशित लेख।

अपनें देश के लोग उसकी तरफ़ आंख उठा कर भी नहीं देखते इस्सै जी टूटता है. देखिये अखबार के कारण मुझ पर एक हज़ार रूपे का कर्ज़ हो गया और आगे को छापेख़ाने का ख़र्च निकालना भी बहुत कठिन मालूम होता है. प्रथम तो अखबार के पढ़ने वाले बहुत कम, और जो हैं उन्मैं भी बहुधा कारस्पोन्डेन्ट बन कर बिना दाम दिये पत्र लिया चाहते हैं[1] और जो गाहक बनते हैं उन्मैं भी बहुधा दिवालिये निकल जाते हैं. छापेख़ाने का दो हज़ार रुपया इस्समय लोगों मैं बाकी है परन्तु फूटी कौड़ी पटने का भरोसा नहीं. कोई आपसा साहसी पुरुष देश का हित विचार कर इस डूबती नाव को सहारा लगावे तो बेडा पार हो सकता है नहीं तो ख़ैर जो इच्छा परमेश्वर की .'[2]

"एक अखबार केएडीटर की इस लिखावट से क्या, क्या बातें मालूम होती हैं ? प्रथम तो यह कि हिन्दुस्थान मैं विद्या का, सर्वसाधारण की अनुमति जान्नें का, देशान्तर के वृत्तान्त जान्नें का, और देशोन्नति के लिये देश हितकारी बातों पर चर्चा करने का व्यसन अभी बहुत कम है. वलायत की बस्ती हिन्दुस्थान की बस्ती सै बहुत ही थोड़ी है तथापि वहां अखबारों की इतनी बृद्धि है कि बहुत से अखबारों की डेढ़ डेढ़ दो, दो लाख कापियां निकलती हैं. वहां के स्त्री पुरुष, बूढ़े, बालक, गरीब, अमीर, सब अपने देश का वृत्तान्त जान्ते हैं और उस्पर वाद विवाद करते हैं किसी अखबार मैं कोई नई बात छपती है तो तत्काल उस्की चर्चा सब देश मैं फैल जाती है और देशान्तर को तार दौड़ जाते हैं परन्तु हिन्दुस्थान मैं ये बात कहां ? यहां बहुत से अखबारों की पूरी

---

[1] 'ब्राह्मण' के पहले अङ्क के मुखपृष्ठ पर छपे विज्ञापन में कहा गया है : 'जो महाशय सच्चे समाचार सदैव भेजेंगे उनको एक पत्र बिना मूल्य भी दिया जायगा' ॥

[2] १५ दिसंबर, १८८४ (भाग २, सं० ९-१०) के 'ब्राह्मण' में प्रताप-नारायण मिश्र का कहना है :

'सत्य सहायक महोदय ! हमें निश्चय है कि आप ब्राह्मण को केवल एक रु० देना नहीं चाहते थे द्विगुणित दक्षिणा देने को अब तक मार्ग प्रतीक्षा करते हो पर अब तो इस वर्ष में केवल दो ही मास रह गए हैं दीजिए २) ही सही ज़्यादा नहीं है केवल याद दिलाते हैं उतावली समझिए तो क्षमा कीजिए ।

दो, दो सौ कापियाँ भी नहीं निकलतीं। और जो निकलती हैं उन्में भी जान्नें के लायक़ बातैं बहुत ही कम रहती हैं क्योंकि बहुत से एडीटर तो अपना कठिन काम सम्पादन करनें की योग्यता नहीं रखते और वलायत की तरह उन्को और बिद्वानों की सहायता नहीं मिल्ती, बहुत से जान-बूझ कर अपना काम चलाने के लिये अजान बन जाते हैं इसलिये उचित रीति सै अपना कर्त्तव्य सम्पादम करनें वाले अख़बारों की संख्या बहुत थोड़ी है पर जो है उसको भी उत्तेजन देनें वाला और मन लगाकर पढ़ने वाला कोई नहीं मिल्ता. बड़े, बड़े अमीर, सौदागर, साहूकार,

---

'हज़रात नादिहंद साहब अब तक तो हम समझे थे कि थोड़ी बात पर क्यों रंजिश हो पर आप अब तक न समझे तो ख़ैर जनवरी में हम आपकी ईमान्दारी जमामारी और नाम की ख्वारी करेंगे क्षमा कीजिए'.

१५ फ़रवरी, हरिश्चन्द्राब्द २ (भाग ३, सं० १२) में वे कहते हैं :

'सूचना—(अपने ३ मास से रोगग्रस्त होने का निर्देश करने के बाद)

''''हमारे पत्र की भी हमारी ही सी दशा है और हमारे पाठकों में बहुतों को ज्ञात है कि हम कोई लखपती नहीं हैं और यह तो सभी जानते हैं कि हिंदी पत्र कुछ कमाई के लिये नहीं होते ख़र्च भर निकालना भी ग़नीमत है!

'विशेष हमारे ब्राह्मण से खुशामद हो नहीं सकती कि कोई सहायक हो हाँ अपने सहायकों का एहसान ज़रूर मानेंगे पर (देव) यह शब्द कहते ऐसा ही डर लगता है जैसा फ़ारसी के देव अर्थात् राक्षस से कोई डरै अपनी तरफ़ से तो बहुतेरे रू० १) असली भी नहीं दे सकते आगे क्या आशा है अतः जिन समर्थों को इस पत्र में मजा आता है जिन्होंने बहुधा ब्राह्मण के वचन नहीं सराहे हैं वे कुछ न कर सकें तो बेहतर है! और जिनके जीचे अभी तक रू० बाकी है वे भी यदि निरे कंगाल न हो गये हों इस पत्र के पाते ही जी कड़ा करके दे डालें नहीं तो हम कुछ दिन के लिये असमर्थ हो जायँगे कहां तक रिण का भार उठावें! यदि हमारे ग्राहक गण ध्यान देंगे तो हम तीन मास की कसर बहुत शीघ्र निकाल डालेंगे देर तो हुई है और अब की बार कोई रोचक लेख भी नहीं है पर हमारी दशा पर ध्यान दे के क्षमा कीजिये! यदि पत्र की दशा सुधर गई तो देखना क्या मजे दिखाता है समझदार को इतना बहुत है!' पृ० १-२

उस समय के पत्रों की आर्थिक परिस्थिति पर इससे काफ़ी प्रकाश पड़ता है।

ज़मींदार, दस्तकार जिन्की हानि लाभ का और देश से बड़ा संबन्ध है वह भी मन लगाकर अखबार नहीं देखते बल्कि कोई-कोई तो अखबार के एडीटरों को प्रसन्न रखने के लिये अथवा गाहकों के सूचीपत्र में अपना नाम छपाने के लिये, अथवा अपनी मेज़ को नए, नए, अखबारों से सुशोभित करने के लिये, अथवा किसी समय अपना काम निकाल लेनें के लिये अखबार खरीदते हैं! जिस्पर अखबार निकालने वालों की यह दशा है।....''[1]

हिन्दी पत्रों के मार्ग में जो कठिनाइयाँ थीं उनका लाला श्रीनिवासदास के कथन से अच्छा परिचय प्राप्त हो जाता है। इन्हीं कारणों से बहुत-से पत्र बहुत शीघ्र बन्द हो जाते थे। इसके अतिरिक्त कुछ और कारणों से भी हिन्दी पत्रों की उन्नति न हो सकी। एक तो लोगों को सम्पादन-कला का अभ्यास न होने के कारण उसका 'स्टैंडर्ड' अच्छा नहीं रहता था। पत्रों के लिए जो आवश्यक बातें हैं वे उनमें नहीं रक्खी जाती थीं। सम्पादक खबरें देने का ढंग नहीं जानते थे। उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में 'समाचार सुधावर्षण', 'हिन्दोस्थान' और 'भारतोदय' केवल इन तीन प्रसिद्ध दैनिक पत्रों का उल्लेख मिलता है। किन्तु अन्य पत्रों में भी जो थोड़ी बहुत खबरें रहती थीं वे बड़े भद्दे ढंग से पेश की जाती थीं।[2]

---

[1] 'परीक्षा गुरु', पृ० ९८-१००

[2] उस समय पत्रों में दी गईं खबरों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :

'पूना और सूरत में जो हाल में नवीन आर्य समाज स्थापित हुयी है उसमें १०० जयनी लोग अपना बौध मत्त त्यागन कर जा मिले।'

'श्याम जी कृष्ण वर्मा महाराज रतलाम के दीवान नियत हुये।'

—'भारतोद्धारक', सं० १०, १८८५

'थोड़े दिन हुए कि इस नगर में भी नामल अग्रवाल बनिये के बेटे की खोवी चढ़ी थी अर्थात् उसकी पुत्रवधू के लिये मिठाई पकवान गहना कपड़ा खिलौने फुलवारी आदि जाति वर्ग की रीति के अनुसार भेजे गये थे परन्तु हमको यह लिखते हुए बड़ा खेद होता है कि उसमें से कुछ वस्तु दिन दहाड़े बीच बाजार बड़े बिसातखाने के आगे लुट गई कुशल हुई कि खिलौने ही मात्र गए थे खोवी का लुटना आज तक नहीं सुना गया इस बात का शोक उस खोवी के स्वामी को तो हुआ पर और सुनने वालों को भी बुरा लगा हमने

खबरें विशेष रोचक होनी चाहिए या कहानी तथा अन्य किसी रूप में जीवन-सम्बन्धी घटनाओं का मनोरञ्जक वर्णन होना चाहिए। और इन्हीं बातों की ओर सम्पादकों ने ध्यान नहीं दिया। दूसरे, खबरें अँगरेजी में आती थीं। पहले तो उनके मँगाने में बहुत खर्च पड़ता था। फिर उनका हिन्दी में अनुवाद करके छापना बड़ा झंझटी काम था। इसलिए देश-विदेश की खबरें सिलसिलेवार न छाप कर सम्पादकगण अखबार ऐसे ही चलता कर देते थे। यह दिक्कत दूर करना सम्पादकों के बस की बात नहीं थी, क्योंकि वैज्ञानिक साधनों द्वारा खबरें भेजने में उस समय भी हिन्दी का प्रयोग नहीं होता था। सम्भवतः बाबू सीताराम के 'भारतोदय' के सम्बन्ध में लिखते समय बालमुकुन्द गुप्त का कहना है :

'हिन्दी अखबारों में "हिन्दोस्थान" ही एक ऐसा पत्र है जो बहुत दिन से दैनिक चल रहा है। अब तक वही हिन्दी का एकमात्र दैनिक कहलाता था, अब एक और भी हुआ है। तथापि वह पतला है, पुराना है और अच्छे ठिकाने से निकलता है। इससे बार-बार जी में यही इच्छा होती है कि वह कुछ और उन्नत ढंग से चलता तो अच्छा होता। दैनिक पत्रों के लिए जो सामान दरकार है वह उसमें नहीं है। तार की खबरों को वह सिलसिले के साथ नहीं छापता। उसके ऐसे संवाददाता भी नहीं हैं, जो देश-विदेश से उसे ज़रूरी खबरें भी भेजें। न वह ऐसे स्थान से निकला जहां कुछ स्थानीय खबरें हों। इन सब अभावों को, यदि वह इच्छा करे तो, पूरा कर सकता (है)। इसके सिवा सबसे अधिक सामयिक बातों का समावेश और उन पर आलोचना है। इसका उसमें एक दम अभाव है, दैनिक होने पर उसके पाठक यह नहीं जान सकते कि रूस-जापान की लड़ाई का क्या हाल है। विलायत में क्या हो रहा (है)। भारतवर्ष में क्या हो रहा है। बड़े लाट क्या कहते और करते हैं, इत्यादि। हम यह नहीं कहते कि वह पालिसी पलट दे या अपनी राय बदल दे। चाहे उसकी कुछ राय हो और कैसी ही

सुना है कि उसने पुलिस में भी रिपोर्ट की थी परन्तु उसका फल कुछ प्रकट न हुआ ॥'

'श्री बाबू गोविन्दचन्द्र भट्टाचार्य डि० कलक्टर मैनपुरी बदले, ये एक बड़े भद्र पुरुष हैं और बाबू सुन्दर लाल डे० क० उनके स्थानापन्न हुए ॥'

—'ब्राह्मण', सं० १, १८८३

हो पर उसमें वह मसाला तो होना चाहिये जो एक दैनिक पत्र का दरकार है।....'[1]

'हिन्दोस्थान' (दैनिक) एक ऐसा पत्र था जो उन्नत ढंग से निकलता था। नहीं तो उपर्युक्त कारणों से लगभग सभी पत्र समाचार-पत्र न रह कर साहित्यिक पत्र ही बन कर रह जाते थे। अन्तिम पृष्ठ के एक-दो कॉलमों में अकसर पुरानी खबरें छपा करती थीं। इसीलिए जनता में अधिक प्रचार न होने के कारण उनकी दुर्दशा थी।

उन्नीसवीं शताब्दी में कुछ ऐसे पत्र भी निकलते थे जो बराबर-बराबर कॉलमों में कई भाषाओं में छपते थे। भाषाएँ प्रायः दो या तीन रहती थीं। इन भाषाओं में से एक भाषा हिन्दी रहा करती थी। ऐसे अखबारों के अनेक उदाहरण तो नहीं दिए जा सकते, तो भी दो का यहाँ उल्लेख किया जा सकता है। एक पत्र 'धर्म प्रचारक' बँगला और हिन्दी में निकलता था। १८७८ में उसका अस्तित्व था और श्रीकृष्णप्रसन्न सेन उसके सम्पादक थे। हिन्दू धर्म की महत्ता प्रतिपादित करना उसका मुख्य ध्येय था[2]। १८६७ में 'भारतोपदेशक' संस्कृत और हिन्दी में छपता था[3]। वास्तव में हिन्दी पत्रों के सम्बन्ध में अभी खोज की आवश्यकता है। खोज पूरी हो जाने के बाद हिन्दी पत्रों का इतिहास पूर्ण हो सकेगा।

लेखकों के विषय में कहने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं जान पड़ती। लेखकों की कमी होने के कारण प्रायः कोई प्रसिद्ध साहित्यिक लेखक या स्वयं सम्पादक महोदय ही भिन्न-भिन्न कल्पित नामों से लिख कर अखबार भर दिया करते थे। प्रसिद्ध साहित्यिकों के अतिरिक्त अन्य लेखकों की रचनाएँ साधारण कोटि की हैं।

आलोच्य काल में पत्रकार-कला का पूर्ण विकास न हो पाया, यह ऊपर बताया जा चुका है। तो भी इतना कहा जा सकता है कि सम्पादक सम्वाद-दाताओं से थोड़ी-बहुत खबरें मँगाते थे और रिपोर्ट्स, सम्पादकीय नोट, आदि भी देते थे। उनमें आधुनिक पत्रकार-कला के बीज पाए जाते हैं।

---

[1] 'गुप्त निबंधावली' में 'हिन्दोस्थान' शीर्षक लेख। साथ ही दे०, वियोगी हरि द्वारा सम्पादित 'हिन्दी गद्य रत्नावली', पटना, १६२८, पृ० १२३।

[2] 'सेलेक्शन्स फ्रॉम दि रेकॉर्ड्स ऑव गवर्नमेंट ऑव इंडिया', होम डिपार्टमेंट, नं० CLIX, कलकत्ता, १८७९, पृ० १३०-१३१

[3] वही, नं CCCLXI, कलकत्ता, १८६८

जीवनी-साहित्य

नाभादास कृत 'भक्तमाल' और बाबा बेणीमाधवदास कृत 'गोसाइं चरित' जैसे भक्तों और महात्माओं के चरित्रों की हिन्दी साहित्य में कमी नहीं रही। धर्मप्राण होने के कारण भारतवर्ष में ऐसे चरित्र मंगल और कल्याण-प्रद माने गए हैं। परन्तु तो भी विराट विश्व के सामने व्यक्तिगत जीवन को महत्त्व न मिल सकने के कारण जीवन-चरित्रों की अधिक रचना न हो सकी। अनेक महापुरुषों की पुण्य जीवन-गाथाएँ आज इसीलिए विस्मृति के महान्धकार में विलीन हो गई हैं। व्यापक सामाजिक कल्याण की अपेक्षा उन्होंने स्वयं अपने जीवन को अधिक महत्व न दिया। संसार के निभृत शान्त कोने में अपना कार्य कर वे चुपचाप अपरिचित की भाँति चले गए। कवि और लेखक भी जातीय संस्कारवश जीवन की तुच्छता एवं क्षणभंगुरता मानकर और विनम्रता के भाव से प्रेरित हो तथा आत्मश्लाघा के भय से अपने विषय में कुछ न कह सके।

१८५७ में रीवाँ के महाराज रघुराजसिंह जू देव (१८२३-१८७९)[1] ने नाभादास की शैली पर 'रामरसिकावली' नामक ग्रंथ की रचना की। उसमें भक्तों और सन्त कवियों का यश-गान किया गया है। यह ग्रंथ 'सत्य-युग', 'त्रेता', 'द्वापर' और 'कलियुग'—पूर्व और उत्तर—चार खण्डों में विभक्त है। पहले तीन खंडों में पौराणिक विभूतियों का वर्णन है जिनमें से अनेक नाभादास कृत 'भक्तमाल' में भी पाई जाती हैं। कलियुग खण्ड में कुछ ऐसे चरित्रों का वर्णन है जो प्रसिद्ध 'भक्तमाल' में नहीं पाए जाते। लेखक ने प्रियादास कृत 'भक्तमाल' की टीका से काफ़ी सहायता ली है। दोहा, सोरठा और चौपाई छन्दों का प्रयोग हुआ है। 'रामरसिकावली' के अतिरिक्त १८६३ में युगलदास कृत 'बघेल वंशागमनिर्देश', १८७१ में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' और १८८६ में राधाचरण गोस्वामी कृत 'नवभक्तमाल' नामक ग्रंथों की रचना हुई। अन्तिम दो का

---

[1] बाबू व्रजरत्नदास ने 'संक्षिप्त रामस्वयंबर' की भूमिका में मृत्यु-तिथि १८७३ ई० (सं० १९३० वि०) दी है। यह सरासर भूल है। १८७७ में तो उनके 'रामस्वयंबर' ग्रंथ की रचना हुई।

'भक्तमाल' की परम्परागत साहित्यिक शैली के आधार पर निर्माण हुआ है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कहा है :

नाभा जी महराज ने भक्तमाल रस जाल।
आल बाल हरि प्रेम की बिरची होय दयाल ॥३८॥
ता पाछें अब लौं भए जे हरि-पद-रत-संत।
तिनके जस बरनन करत सोइ हरि कहँ अति अंत ॥३९॥

× × × ×

भक्तमाल जो ग्रंथ है नाभा रचित विचित्र।
ताही को एहि जानियो उत्तर भाग पवित्र ॥४०॥[1]

इसी प्रकार राधाचरण गोस्वामी ने लिखा है :

'भक्ति भक्त भगवंत गुरु भक्तमाल सब एक।
इनकों नित बंदन करों नासत विघ्न अनेक।१।
भक्तमाल के पाठ को यह प्रतच्छ फल भास।
मोसे कुटिल कुसंग को भक्त चरन रज आस।२।
भक्तमाल अनुजे भये भक्त जक्त विख्यात।
तिन सब नव नव चरित नव भक्तमाल सुख्यात।३।'[2]

अस्तु, 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' और 'नवभक्तमाल' दोनों में नाभादास के बाद के भक्तों का वर्णन है। उन सब में भक्तों और महात्माओं के धार्मिक जीवन और उनके चमत्कारों पर ही ज़ोर दिया गया है। वे प्राचीन परिपाटी के अनुसार लिखे गए ग्रन्थ हैं। तदनन्तर साहिबप्रसाद सिंह कृत 'श्री रसिक-प्रकाश भक्तमाल' (१८८७), वासुदेवदास कृत 'रसिकप्रकाश भक्तमाल' (१८९३) और ज्वालाप्रसाद कृत 'भक्तमाल हरभक्तिप्रकाशिका' (१८९८), आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध भक्तमाल पर टीका-टिप्पणियों के रूप में प्रकाशित हुए।

वैसे तो वंशीधर : 'प्रसिद्ध चर्चावली' (१८५६, १८५९), एम्० ए० शेरिंग : 'विद्वान संग्रह' (१८६०), श्रीलाल : 'धरमसिंह' (१८६५), काशीनाथ खत्री : 'हिन्दुस्तान की अनेक रानियों का जीवन चरित' (१८७९), आदि ने आलोच्य काल के प्रारम्भ में ही अनेक छोटी-छोटी जीवनियों की रचना की, किन्तु हिन्दी में आधुनिक रीति से जीवनियों का लिखा जाना लगभग १८८२ से आरम्भ होता है। कार्तिकप्रसाद खत्री ने 'मीराबाई का

---

[1] 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' ('भारतेन्दु ग्रन्थावली', १९३४), पृ० २२६

[2] 'नवभक्तमाल', मथुरा, १८८६, प्र० सं०, पृ० १

जीवन चरित्र' (१८६३) की भूमिका में लिखा है : 'हमारे यहाँ आधुनिक प्रथा के अनुसार जीवन-चरित लिखने की सायत प्रथा ही न थी बस यही कारण है कि किसी का भी धारावाही जीवन-चरित नहीं मिलता।' भारतेन्दु हरिश्चन्द्र नवीन युग के सन्देह-वाहक थे। अँगरेज़ी साहित्य का उन्होंने अध्ययन किया था और अपने साहित्यिक जीवन के आदि से ही हिन्दी की उन्नति करने में संलग्न थे। हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र प्राचीन और नवीन के संगम हैं। उन्होंने विविध प्रकार से साहित्य का क्षेत्र व्यापक और विस्तृत बनाया। 'चरितावली' में उन्होंने विक्रम, कालिदास, रामानुज, जयदेव, सूरदास, राजाराम शास्त्री, मेयो, रिपन, आदि के छोटे-छोटे जीवन-चरित्र लिख कर हिन्दी जनता के सामने रक्खे और 'पंच पवित्रात्मा' (१८८४ ?) में इस्लाम धर्म के प्रवर्तक मुहम्मद, अली, बीबी फ़ातिमा, इमाम हसन और इमाम हुसेन के जीवन-चरित्र दिए।[1] हिन्दी नवोत्थान का अग्रदूत होने के कारण लेखक का ध्यान प्राचीन धार्मिक तथा ऐतिहासिक विभूतियों की ओर गए बिना न रह सका। उनके लिखने में उसने अत्यन्त परिश्रम और खोज से काम लिया है।

भारतेन्दु के बाद रमाशंकर व्यास ने 'नेपोलियन बोनापार्ट का जीवन-चरित्र' (१८८३), काशीनाथ खत्री ने 'भारतवर्ष की विख्यात स्त्रियों के जीवन-चरित्र' (१८८३), बीबी एलिज़बेथ स्टर्लिंग की रचना का काशीनाथ खत्री ने 'यूरोपियन पतिव्रता और धर्मशील स्त्रियों के जीवन-चरित्र' (१८८४) के नाम से अनुवाद कर, जगन्नाथ ने 'महर्षि श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज का जीवन-चरित्र' (१८८८), कार्तिकप्रसाद खत्री ने 'मीराबाई का जीवन-चरित' (१८९३), 'महाराज विक्रमादित्य का जीवन-चरित्र' (१८९३), 'महाराणा छत्रपति शिवाजी का जीवन चरित' (१८९४), 'अहल्याबाई का जीवन-चरित' (१८९७), आदि, राधाकृष्णदास ने 'आर्यचरितामृत' (१८८४)—वीरेश्वर पांडेय की बँगला रचना का अनुवाद, 'श्री नागरीदास जी का जीवन-चरित' (१८९४), 'कविवर बिहारीलाल' (१८९५), 'सूरदास' (१९००), आदि, प्रतापनारायण मिश्र ने 'चरिताष्टक' (१८९४), बालमुकुन्द गुप्त ने 'हरिदास गुरयानी' (१८९६), बलभद्र मिश्र ने 'स्वामी दयानन्द सरस्वती महाराज का पद्य में संक्षिप्त जीवन-चरित्र' (१८९७), पत्तनलाल ने 'कविवर बा० जवाहिरलाल का जीवन-चरित्र' (१८९७),

---

[1] खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर से प्रकाशित।

काशी के गोकुलनाथ शर्मा ने 'श्री देवीसहाय चरित' (१८६७), जगन्नाथदास 'रत्नाकर' (१८६६-१६३२) ने "गोप कवि का जीवन-चरित्र' (१८६७), श्री नारायण गणेश शिरसालकर ने 'श्री रत्नसिंह जी धीरवीर का संक्षिप्त जीवन-चरित्र' (१८६८), रेवरेंड एड्विन ग्रीव्स ने 'गुसाईं तुलसीदास का जीवन-चरित्र' (१८६६), लेखराम (मूल लेखक) और जगदम्बाप्रसाद (अनुवादक) ने 'स्वामी विरजानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र' (१८६६), गोपालदास देवगण शर्मा (अनुवादक) ने 'क्रिस्टोफ़र कोलंबस' (१८६६), अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'चरितावली' (१८६६)—ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की रचना का अनुवाद, रामनारायण दुबे (अनुवादक) ने उर्दू (शिवचन्द्र द्वारा) से 'महारानी चरित' (१८६६), और मुंशी देवीप्रसाद मुंसिफ़ ने 'महाराजा मानसिंह कछवाहा वाले अमीर का जीवन-चरित्र' (१८८६), 'राजा मालदेव का चित्र और जीवन-चरित्र' (१८८६), 'अकबर बादशाह और श्री राजा बीरबर का जीवन-चरित्र' (१८६३), 'श्रीरणधीर महाराणा प्रतापसिंह जी' (१८६३), 'पृथ्वीराज कछवाहा', 'पूरणमल', 'राजा भीम', 'रतनसिंह', 'राजसिंह', 'हिन्दूपति महाराणा उदयसिंह जी', आदि की जीवनियाँ (१८६३), 'श्री जसवंतसिंह गजसिंघोत का जीवन-चरित्र' (१८६६), 'मीराबाई का जीवन चरित' (१८६८), आदि ग्रन्थों की रचना कर भारतेन्दु द्वारा स्थापित परम्परा आगे बढ़ाई और हिन्दी में जीवनी-साहित्य की वृद्धि की। मुंशी देवीप्रसाद ने ऐतिहासिक खोज के आधार पर जीवनियाँ लिखी हैं। उनकी भाषा और शैली भी अत्यन्त सरल है। जहाँ तक हो सका है अन्य लेखकों ने भी किम्वदन्तियों का सहारा न लेकर अध्ययन और ऐतिहासिक तथ्यों को ही विशेष स्थान दिया है। लाल खड्गबहादुरमल ने भी कई जीवन-चरित्र लिखे। इसके बाद हिन्दी में छोटे-बड़े अनेक जीवन-चरित्र लिखे गए, जैसे, 'महारानी विक्टोरिया का जीवन-चरित', 'चरित शतक', चण्डीप्रसादसिंह का 'दत्त कवि का जीवन-चरित', 'बालशास्त्री का जीवन-चरित्र', 'सज्जन जीवन-चरित्र', 'नेपोलियन का जीवन-चरित', आदि। १६०१ में अम्बिकादत्त व्यास ने 'निज वृत्तान्त' नामक आत्म-कथा की रचना की।

भक्तों और सन्त-महात्माओं की जीवनियों में प्रामाणिकता की ओर ध्यान न देकर लेखकों ने परम्परागत किंवदंतियों का सहारा अधिक लिया। उपयुक्त और आवश्यक सामग्री के अभाव में वैज्ञानिक खोज के लिए उनमें कोई गुंजायश नहीं थी। संत-महात्माओं के जीवन-चरित्र पढ़ते समय मालूम

होता है मानों हम देवताओं के लोकोत्तर चरित्रों का अध्ययन कर रहे हों। हमारे लौकिक जीवन से वे दूर हट जाते हैं। मानवी दुर्बलताओं को स्थान न मिलने के कारण साधारण मनुष्य के लिए उनके सामने हार मान कर बैठ जाने के सिवाय और कोई दूसरा चारा नहीं रह जाता। भारतेन्दु तथा नवीन शैली के अन्य जीवनी-लेखकों में अपार्थिव और लोकोत्तर चरित्र लिखने की प्रवृत्ति कम पाई जाती है। यद्यपि ये जीवन-चरित्र अध्ययन के बाद लिखे गए थे, तो भी उनमें चरित-नायकों के चरित्र और व्यक्तित्व उभर नहीं पाए। प्रायः लेखकों ने खाली घटनाओं और तिथियों का उल्लेख किया है। उन्होंने व्याख्यात्मक (Interpretative) दृष्टिकोण से काम नहीं लिया। कुछ ने अप्रामाणिक सामग्री के आधार पर जीवनियाँ लिखीं, जैसे, कार्तिकप्रसाद कृत 'मीराबाई का जीवन-चरित' महाराज रघुराजसिंह की रचना पर आधारित है। इसी प्रकार श्री भास्करानन्द जी की जीवनी 'यतींद्र जीवन-चरित' (१८६२ और १८६६) है। १८६२ में यह जीवनी शिवकुमार शास्त्री ने संस्कृत में और गोविन्द मालवीय ने हिन्दी में और १८६६ में कवि अयोध्यानाथ व्यास ने संस्कृत में और महादेव प्रसाद ने हिन्दी में लिखी थी। परन्तु इतना होने पर भी जहाँ तक हो सका है जीवनी-लेखकों ने किम्वदन्तियों का आश्रय कम और प्रामाणिक सामग्री का आश्रय अधिक लेकर अपने चरित-नायकों का मनुष्य-रूप में चित्रण करने की चेष्टा की है। प्राचीन परिपाटी के अनुसार लिखी गई जीवनियों की अपेक्षा उन्होंने अध्ययन, खोज और ऐतिहासिक तथ्यों की ओर अधिक ध्यान दिया। ऐसे चरित-नायकों की गाथाएँ पढ़ने से कोई भी व्यक्ति किसी महत्वाकांक्षा से प्रेरित होना वामन-प्रयास नहीं समझ सकता। तदर्थ भारतेन्दु, राधाकृष्णदास, मुंशी देवीप्रसाद और कुछ हद तक कार्तिक-प्रसाद खत्री आदि का हिन्दी-संसार चिर कृतज्ञ रहेगा। उन्होंने अपने चरित-नायकों के विषय में प्रामाणिक और खोजपूर्ण बातें रोचक शैली में जनता के सामने रख कर जीवनी लिखने की कला का आदर्श उपस्थित किया या उपस्थित करने की चेष्टा की। १६०० में लाला लाजपतराय कृत उर्दू में 'गिवसेप मैज़िनी' का केशवप्रसाद सिंह द्वारा हिन्दी-अनुवाद प्रकाशित हुआ। उसमें चरित-नायक के सामयिक विचारों और सिद्धान्तों का आलोचनात्मक विश्लेषण भी किया गया है। यह पुस्तक जीवनी लिखने की कला का एक और विकसित रूप प्रस्तुत करती है। वास्तव में जीवन-तथ्यों का आलोचनात्मक विश्लेषण के साथ सम्यक् निरूपण करने में ही जीवनी-कला की सफलता है।

आलोच्य काल का जीवनी-साहित्य बहुत थोड़ा है। साथ ही उसके अतिरिक्त हम राजा शिवप्रसाद कृत 'वामामनरंजन' जैसी रचनाओं तथा 'हिन्दी प्रदीप', 'भारतोद्धारक', 'सुगृहिणी', आदि पत्रों में बिखरे हुए 'शंकराचार्य', 'गार्गी और मैत्रेयी', 'पद्मिनी', 'डॉ० आना किंसफ़ोर्ड', 'सिकन्दर', आदि जीवनी लेखों को भी नहीं भूल सकते। इन लेखों में देशी और विदेशी, प्राचीन और आधुनिक दोनों काल के महान् व्यक्तियों तथा राजपूत वीरों और वीरांगनाओं की जीवन-सामग्री बड़े कौशल के साथ संक्षेप में सजा कर रक्खी गई है। लेखकों ने ऐतिहासिक सत्य की उपेक्षा नहीं की। ये रचनाएँ महान् आदर्शों और नैतिक शिक्षाओं से भरी हुई हैं।

हिन्दी साहित्य के विभिन्न इतिहासों में कवियों और लेखकों की जीवनियाँ रहने के कारण उनका उल्लेख कर देना भी उचित जान पड़ता है। इस सम्बन्ध में गार्साँ द तासी (Garcin de Tassy) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वे हिन्दी के लेखक नहीं थे, किन्तु हिन्दी और उर्दू के इतिहास-लेखकों में उनका नाम अग्रगण्य है। उनका 'इस्त्वार द ल लित्रेत्यूर ऐंदुई ऐ ऐंदूस्तानी' (Histoire de la literature hindouie et hindoustanie) १८३९-४६ में दो भागों में प्रकाशित हुआ। उसका प्रवर्द्धित संस्करण १८७०-७१ में तीन भागों में निकला। महेशदत्त (ज० १८४०), मातादीन मिश्र और कहानजी धर्मसिंह द्वारा सम्पादित क्रमशः 'भाषा-काव्य-संग्रह' (१८७३), 'कवित्त रत्नाकर' (१८७३), दो भाग और 'साहित्य-रत्नाकर' (१८६६), भाग १ तथा अन्य अनेक काव्य-संग्रहों का भी जीवनियों की दृष्टि से मूल्य है। किन्तु ऐसे संग्रहों में काँथा-निवासी ठाकुर शिवसिंह सैंगर (१८३३-१८७८) द्वारा सम्पादित 'शिवसिंह-सरोज' (१८७७) एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। उसमें लगभग एक हज़ार कवियों की संक्षिप्त जीवनियाँ दी गई हैं। उनके साथ दी गई तिथियों और ग्रन्थों के नामों से आगे के इतिहास-लेखकों को काफ़ी सहायता मिली। १८८९ में सर जॉर्ज ग्रियर्सन (१८५७-१९४१) कृत 'दि मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिट्रेचर ऑव हिन्दुस्तान' अँगरेज़ी में प्रकाशित हुआ। मूलतः यह पुस्तक 'इन्टरनैशनल काँग्रेस ऑव ऑरिएंटैलिस्ट्स' (१८८६) के वियना अधिवेशन में पढ़े गए लेख के रूप में लिखी गई थी। १८८८ में वह 'जर्नल ऑव दि एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल', भाग १ के विशेषाङ्क में प्रकाशित हुई। ग्रियर्सन ने सबसे पहले साहित्य का काल-विभाजन

कर विभिन्न कालों की विशेषताओं का संक्षिप्त सामान्य परिचय दिया। उनका ग्रन्थ हिन्दी साहित्य का सर्वप्रथम इतिहास कहलाने योग्य है। पहले ग्रन्थ तो संग्रह मात्र थे। उन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध से पहले के काव्य-संग्रहों से भी सहायता ली, किन्तु तासी और, विशेषतः, शिवसिंह के ग्रन्थ उनकी रचना के प्रधान आधार हैं। उपलब्ध सामग्री की वैज्ञानिक परीक्षा भी उन्होंने की है। इन सब ग्रन्थों में कवियों और लेखकों के संक्षेप में जीवन-चरित्र दिए गए हैं। ये जीवन-चरित्र विशेष खोज और परिश्रम के बाद लिखे गए थे। समय के देखते हुए ग्रन्थ-लेखकों के प्रयासों की सराहना किए बिना नहीं रहा जा सकता। उनकी अधिकांश बातें अब भी प्रामाणिक मानी जाती हैं। हिन्दी साहित्य के अध्ययन में उनसे यथेष्ट सहायता मिलती है।

समालोचना

समालोचना साहित्य का प्रधान अंग है। वह साहित्य में सौन्दर्य का अस्तित्व खोज निकालती है। उसके बिना साहित्य में बिखरी हुई अनन्त विभूतियाँ सामने नहीं आतीं। आलोच्य काल से पूर्व हिन्दी-साहित्य में आधुनिक समालोचना का रूप नहीं मिलता। हमारे यहाँ संस्कृत आचार्यों और साहित्य मीमांसकों की शैली पर रस, अलंकार, आदि के उदाहरणों में उत्कृष्ट काव्य-रचनाएँ उद्धृत कर लक्षण-ग्रन्थ लिखने की प्रथा बहुत कम रही। गुण-दोष-विवेचन ही इस पुराने ढंग की समालोचना का प्रधान उद्देश्य रहा है। पाश्चात्य शिक्षा के प्रचार के साथ किसी पुस्तक के गुण और दोष या अन्य सूक्ष्म विशेषताएँ दिखाने की प्रथा हमारे यहाँ भी अब चल पड़ी है। परन्तु आलोच्य काल में हिन्दी समालोचना का रूप केवल गुण-दोष दिखाना भर रहा।

हिन्दी साहित्य में नवीनता की अवतारणा में दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक और मासिक पत्रों का जितना हाथ रहा है उतना अन्य किसी माध्यम का नहीं रहा। स्वयं पत्रों का प्रकाशन हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग की विशेषता है। इन पत्रों में नवीन काव्य, नाटक, प्रहसन, उपन्यास, निबन्ध तथा नाना विषय-सम्बन्धी रचनाएँ प्रकाशित होती थीं जिनसे गद्य पुष्ट होकर विकास की ओर अग्रसर हो सका। उपलब्ध सामग्री के आधार पर यही ज्ञात होता है कि आधुनिक समालोचना का जन्म भी पत्र-पत्रिकाओं द्वारा हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में उसका प्रारम्भ हो चुका था। 'कविवचनसुधा' (१८६८) और 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन या चन्द्रिका' (१८७३) में प्रायः कुछ 'नोट' 'समालोचना' के नाम से निकला करते थे। स्वयं भारतेन्दु ने 'मुद्राराक्षस' (१८७८) की भूमिका लिख, 'नाटक' (१८८३) की रचना तथा अपने ऐतिहासिक ग्रन्थों में उपलब्ध सामग्री की परीक्षा कर समालोचना के क्षेत्र में मार्ग-प्रदर्शन किया। उनके जीवन-काल में ही यह प्रथा अन्य सम्पादकों ने भी ग्रहण की। प्रतापनारायण मिश्र के १५ अप्रैल, १८८३ के 'ब्राह्मण' (१८८३) में निम्नलिखित 'समालोचना' प्रकाशित हुई थी:

'समालोचना

'हम श्रीयुत पं० बलभद्र मिश्र (उपमंत्री आ० सा० लखनौ) विरचित (भाषा दीपिका) पुस्तक को धन्यवादपूर्वक स्वीकार करते हैं

इसमें तीन भाग हैं प्रथम भाग गद्य में लिखा गया है इसमें हमारी मात्र भाषा नागरी है उसी का पढ़ाना हमें उचित है और उर्दू के दोष भली भाँति दर्शाए गए हैं। दूसरे भाग में पद्य (नजम) में है इसमें नागरी के प्रचार से जो २ लाभ हो सकते हैं इस विषय में श्रीमान् भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का व्याख्यान है इसका क्या ही कहना है ! तीसरा भाग भी गद्यमय है इसमें हिंदी को कुलाङ्गना और उर्दू को वेश्या और संस्कृत को ऋषि रूपकालंकार से दर्शाया ॥ ग्रन्थ अच्छा है सज्जनों को एक बेर तो अवश्य देखना चाहिये मूल्य डांक व्यय सहित ~)॥ बाबू गंगाप्रसाद वर्मा हिन्दुस्तानी यंत्र के स्वामी के पास अमीनाबाद लखनऊ में मिलेगी।'

इसी प्रकार 'भारतोद्धारक' (१८८४) के भाग १, संख्या २, में भी एक 'समालोचना' प्रकाशित हुई थी :

'समालोचना

काश्मीर कुसुम अथवा राज तरंगिणी कमल (काश्मीर का संक्षिप्त इतिहास, राजाओं के नाम और समय का सविस्तर चक्र राजतरंगिणी की समालोचना, श्रीहर्ष और वर्तमान महाराज कश्मीर के वंश का छोटा इतिहास)

श्री बाबू हरिश्चन्द्र जी भारतेन्दु लिखित अत्युत्तम ४४ पृष्ठ टाइप से मुद्रित, भारतेन्दु जी के उत्साह और परिश्रम को धन्य।'

किन्तु यह 'समालोचना' समालोचना न होकर 'पुस्तक-परिचय' या 'समीक्षा' है जिनमें पाठकों को प्रकाशित पुस्तक से परिचित कराकर उनसे उसे पढ़ने के लिए कहा गया है। इस प्रकार की 'समालोचनाओं' द्वारा सम्पादक अपने समय की रुचि पर नियन्त्रण रखते थे। साथ ही समकालीन लेखकों की कृतियों की प्रशंसा अथवा निन्दा मात्र कर वे साहित्यिक गतिविधि का भी परिचय देते हैं। उस समय के शिक्षित समुदाय में किस प्रचार की पुस्तकें पसन्द की जाती थीं और किस प्रकार की पुस्तकें पसन्द नहीं की जाती थीं, इस बात का पता हमें इन 'समालोचनाओं' से लग जाता है। इसलिए समय के देखते हुए उनका महत्व किसी हालत में कम नहीं माना जा सकता। हम उन्हें आने वाली समालोचना का प्रारम्भिक रूप मान लें तो सम्भवतः कोई अनौचित्य न होगा। इस प्रकार की 'समालोचनाएँ' और भारतेन्दु द्वारा लिखित विविध आलोचनात्मक भूमिकाएँ

और किसी उपलब्ध सामग्री की परीक्षा, यह सब सामग्री हमें, हिन्दी-भाषियों के भारतेन्दु के जीवन-काल, जनवरी, १८८५ अथवा १८८४, के अन्त तक के आलोचनात्मक दृष्टिकोण से परिचित कराती है। उनके बाद भी यह दृष्टिकोण बना रहा, इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता।

समालोचना के इस रूप के लगभग समान, किन्तु कुछ विकसित, रूप हमें भारतेन्दु की मृत्यु के बाद मिलता है। १८८५ में लाला श्रीनिवासदास ने 'संयोगता स्वयंवर' नाटक लिखा था। इस नाटक की बड़ी धूम मची और हिन्दी के लगभग सभी प्रमुख पत्रों में उसकी प्रशंसा हुई। १८८६ में बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी प्रदीप' (१८७७) में 'संयोगता स्वयंवर' की आलोचना की। उसमें उन्होंने नाटक की भाषा, कथानक का संगठन, कथनोपकथन, आदि के गुण-दोष दिखाते हुए निष्पक्ष रूप से विचार किया है। उसी वर्ष उपाध्याय बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने 'आनन्द-कादम्बिनी' (१८८१) में उसकी विस्तृत और कठोर आलोचना निकाली। बाबू गदाधर-सिंह कृत 'वंग विजेता' के अनुवाद की भाषा-सम्बन्धी आलोचना भी उनके पत्र में हुई। 'प्रेमघन' जी ने 'संयोगता स्वयंवर' की भाषा, प्रबन्ध, अँगरेज़ी प्रभाव, शास्त्रीय नियमों और सिद्धान्तों की अवहेलना, आदि बातों की कड़ी परीक्षा की। उनकी आलोचना संहारात्मक है। उन्होंने लाला श्रीनिवासदास के प्रति कुछ अन्याय किया है। क्योंकि ग्रन्थ पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उसमें दोषों के साथ-साथ कुछ गुण भी हैं जिनकी ओर आलोचक ने संकेत नहीं किया। सम्भव है अन्य पत्रों में केवल प्रशंसा ही प्रशंसा निकलने की प्रतिक्रिया-स्वरूप उन्होंने उसके दोषों की ओर ही ध्यान दिया हो।

भट्ट जी और 'प्रेमघन' जी के बाद उसी काल में इस प्रकार की समालोचनाएँ बराबर पत्र-पत्रिकाओं में निकलती रहीं। किन्तु वे इतनी विस्तृत और पूर्ण नहीं होती थीं जितनी विस्तृत और पूर्ण 'प्रेमघन' जी कृत 'संयोगता स्वयंवर' की समालोचना थी। उस समय केवल छोटी-छोटी फुटकर समालोचनाएँ प्रकाशित होती रहीं। उनमें से कुछ तो ऐसी हैं जो 'प्रेमघन' जी की शैली पर होते हुए भी पुस्तक-परिचय के रूप में अधिक हैं और भारतेन्दुकालीन 'समालोचनाओं' से बहुत भिन्न नहीं है। किसी कवि या लेखक की रचना का गुण-दोष-दर्शन हमें लगभग १८९८ तथा बाद के 'हिन्दोस्थान' (१८८५) में महावीरप्रसाद द्विवेदी लिखित 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' में भी होते हैं। १९०१ में यह लेखमाला पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। उसमें उन्होंने लाला सीताराम कृत

कालिदास की रचनाओं के अनुवादों में व्यतिक्रम बताए हैं। 'प्रेमघन' जी की भाँति द्विवेदी जी ने भी इस पुस्तक में दोष ही दोष निकाले हैं, गुणों की ओर ध्यान नहीं दिया। फिर १८९९ में उन्होंने सरकारी हिन्दी-रीडरों की खरी आलोचना की। द्विवेदी जी की लेखमाला से एक वर्ष पूर्व १८९७ में ब्रजभूषणलाल गुप्त ने 'साहित्य हत्या' नामक लेख प्रकाशित कर तत्कालीन हिन्दी साहित्य में भाषा और भाव-सम्बन्धी विपर्य्यय की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। विपर्य्यय की ओर संकेत करते समय उन्होंने हिन्दी के कुछ तत्कालीन कवियों और लेखकों की रचनाओं से उदाहरण दिए हैं। तत्पश्चात् हिन्दी में एक अजीब प्रथा चल पड़ी। लेखक की रचना में खोज-खोज कर दोष दिखाए जाने लगे। समालोचक की यह प्रवृत्ति इसलिए रहती थी ताकि पाठकों को ज्ञात हो जाय कि वह लेखक से अधिक ज्ञान-सम्पन्न है और वह उसकी कृति और भी परिष्कृत रूप में देखना चाहता है। द्विवेदी जी के लेखों से उन्हें ख्याति तो अवश्य प्राप्त हुई, परन्तु गम्भीर समालोचना-साहित्य का निर्माण न हो सका।

१८९७ में 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' के प्रकाशन से हिन्दी समालोचना साहित्य की विशेष वृद्धि हुई। हिन्दी समालोचना के इतिहास में 'पत्रिका' चिरस्मरणीय रहेगी। उसमें न केवल पिछली प्रणाली का निर्वाह हुआ, वरन् नूतन प्रणालियों का भी जन्म हुआ। 'पुस्तक-समीक्षा' या 'पुस्तक-परिचय' के रूप में आलोचना रहने के साथ-साथ उसमें गम्भीर अध्ययन के बाद लिखे गए गवेषणात्मक और समालोचना-सिद्धान्त-सम्बन्धी लेख भी प्रकाशित होने लगे। गवेषणात्मक और समालोचना-सिद्धान्त-सम्बन्धी आलोचना-साहित्य का 'पत्रिका' के प्रकाशन से पहले अभाव था। गुण-दोष प्रकट करने वाली आलोचना, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पुस्तक-समीक्षा और पुस्तक-परिचय से अधिक भिन्न नहीं थी। इस पिछली प्रणाली का निर्वाह १९०० के अंक में महावीरप्रसाद द्विवेदी के 'नैषध-चरित-चर्चा' में मिलता है। कुछ समय बाद उन्होंने 'विक्रमांकदेव-चरित चर्चा' भी अन्यत्र प्रकाशित किया। ये दोनों लेख परिचयात्मक हैं। संस्कृत से अनभिज्ञ पाठकों को उनसे मूल ग्रन्थों के सम्बन्ध में कुछ ज्ञान प्राप्त हो सकता है। साथ ही द्विवेदी जी ने उनके सुन्दर स्थलों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। 'पत्रिका' में ही पहले-पहल गवेषणात्मक लेख भी प्रकाशित हुए, जैसे, श्यामसुन्दरदास खत्री कृत 'भारतवर्षीय आर्य देश भाषाओं का प्रादेशिक विभाग और परस्पर सम्बन्ध' (१८९७), 'नागरी जाति और

नागरी लिपि की उत्पत्ति' (१८६८), 'भारतवर्षीय भाषाओं की जाँच' (१८६६) 'रत्नाकर' कृत 'पोप का जीवन चरित्र' (१८६७), राधाकृष्णदास कृत 'नागरीदास जी का जीवन चरित्र' (१८६८), रेवरेंड एड्विन ग्रीव्स कृत 'गुसाईं तुलसीदास का जीवन चरित्र' (१८६६), सिद्धेश्वर शर्मा कृत 'पाली भाषा' (१६००), आदि। साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्तों पर प्रकाश डालने वाला पहला लेख गंगाप्रसाद अग्निहोत्री कृत 'समालोचना' (१८६७) था। १८६६ में यह लेख एक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हो चुका था। इसमें लेखक ने तत्कालीन पत्रों द्वारा नवीन प्रकाशित पुस्तकों की चर्चा के रूप में समालोचना, हिन्दी में समालोचना की प्रथा, समालोचक का ग्रन्थ-सम्बन्धी ज्ञान, सत्यप्रीति, शान्त स्वभाव, सहृदयता, आदि गुणों पर प्रकाश डाला है। बीच-बीच में लेखक ने अंगरेज़ी साहित्य के समालोचकों, उनके मतों और अँगरेज़ी की समालोचना-पद्धति के बारे में संकेत दिए हैं। अस्तु, केवल गुण-दोष-विवेचन-प्रणाली से भिन्न समालोचना-सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाली प्रथा का सूत्रपात हम गंगाप्रसाद अग्निहोत्री कृत 'समालोचना' से मान सकते हैं। समालोचना साहित्य का यह एक महत्वपूर्ण विकास था। 'पत्रिका' के १८६७ वाले अंक में ही 'रत्नाकर' कृत 'समालोचनादर्श' और अम्बिकादत्त व्यास द्वारा 'गद्य-काव्य-मीमांसा' शीर्षक लेख प्रकाशित हुए। 'समालोचनादर्श' पोप कृत 'Essay on Criticism' का पद्यबद्ध अनुवाद है जिसमें समालोचना के व्यापक सिद्धान्तों का उल्लेख और कुछ तत्कालीन कवियों की कृतियों पर एक सरसरी निगाह डाल कर उनकी अस्वाभाविकता तथा अन्य त्रुटियों की ओर संकेत है। 'गद्य-काव्य मीमांसा' में लेखक ने प्राचीन और नवीन आदर्शों के अनुसार गद्य-रचना के सिद्धान्त और उसकी विशेषताओं पर विचार किया है। 'पत्रिका' द्वारा स्थापित दो नवीन समालोचना-प्रणालियों और पहले से चली आ रही समीक्षा प्रणाली का और भी विकास स्वयं 'पत्रिका' और बाद को 'सरस्वती' (१६००) द्वारा हुआ।

बीसवीं शताब्दी में उपर्युक्त तीनों प्रणालियों का महत्व बढ़ने और उनका साहित्य के प्रधान अंग हो जाने के कारण थे। उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में मुद्रण-मन्त्र और नवीन शिक्षा का प्रचार हो जाने से साहित्य-क्षेत्र में जो नव-चेतना जागरित हुई उसके कारण लगभग प्रत्येक वर्ष सैकड़ों छोटे-बड़े ग्रन्थ प्रकाशित होते थे। लेखक परिश्रम करते थे, व्यय करते थे और यही समझ कर अपनी रचना प्रकाशित करते या कराते थे कि कोई न कोई पढ़ने

वाला तो अवश्य मिल जायगा। प्रत्येक पत्रिका में साहित्य की प्रतिज्ञा रहती ही थी। उनके सम्पादकों के पास पुस्तकें समालोचनार्थ भेजी जाती थीं। सम्पादकगण या तो ग्रन्थकर्ता के नाम, पुस्तक के मूल्य, जिल्द, काग़ज़, आदि का निर्देश कर देते थे, या केवल प्राप्ति-सूचक धन्यवाद दे देते थे, या आगामी अंक में समालोचना प्रकाशित करने का वचन देकर (वह वचन चाहे पूर्ण हो या न हो) अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ बैठते थे। इस विचित्र परिस्थिति में ग्रन्थकर्ताओं को कितना प्रोत्साहन मिल सकता था या साहित्य के पाठकों को अच्छे-बुरे ग्रन्थों का कहाँ तक परिचय प्राप्त हो सकता था, इस सम्बन्ध में सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। प्रारंभ में अँगरेज़ी पत्रों के अनुकरण पर ही हिन्दी में यह प्रथा प्रचलित हुई थी; ऐसी प्रथा प्राचीन काल में नहीं थी। इस प्रकार पुस्तक-समीक्षा और पुस्तक-परिचय की प्रथा हिन्दी में जारी हुई। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, त्यों-त्यों इस प्रकार का समीक्षाओं और परिचयों की आवश्यकता बढ़ती गई। सभी प्रकार की पुस्तकों का प्रकाशन बढ़ जाने और पाठकों के पास प्रत्येक प्रकाशित पुस्तक पढ़ने के लिए समय, धन और शक्ति का अभाव होने के कारण पुस्तकों की इस प्रकार की समालोचना की उपयोगिता से कोई इंकार नहीं कर सकता। इसके साथ धनोपार्जन की दृष्टि से विज्ञापन की आवश्यकता हुई और पत्र-पत्रिकाओं में समीक्षा और परिचय के लिए एक अलग स्थान नियत कर दिया गया। उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में तो पाठक समीक्षा, परिचय, आदि पर निर्भर रह सकता था, किन्तु आजकल निष्पक्षता, सत्यप्रियता, सहृदयता, आदि के अभाव ने हिन्दी समालोचना के इस आदि रूप का महत्व बहुत कम कर दिया है।

हिन्दी नवोत्थान की भावना के कारण गवेषणापूर्ण आलोचनात्मक लेखों की रचना हुई। पश्चिम के भारतीय विद्याविदों की रचनाओं का अध्ययन करने पर देश के शिक्षित समुदाय में भी अपने प्राचीन साहित्य तथा इतिहास का ज्ञान प्राप्त करने की आकांक्षा प्रबल हो उठी थी। साहित्य के क्षेत्र में उन्होंने अपने कवियों की जीवनियों, जन्म-काल, रचना-काल, आदि विषयों का उस समय तक उपलब्ध सामग्री के आधार पर अध्ययन शुरू कर दिया। 'पत्रिका' और 'सरस्वती' (१६००) के माध्यम द्वारा इस अध्ययन-कार्य को और भी अधिक प्रोत्साहन मिला। 'पत्रिका' में प्रकाशित गवेषणात्मक लेखों के कुछ उदाहरण ऊपर दिए जा चुके हैं। लेखकों ने गम्भीर अध्ययन के पश्चात् अपने-अपने लेख लिखे। उन्होंने कवियों और

उनकी रचनाओं के विविध पत्तों का मौलिक ढंग से अध्ययन किया। नागरी प्रचारिणी सभा (१८६३) द्वारा प्राचीन साहित्यिक ग्रन्थों की खोज से गवेषणापूर्ण अध्ययन को और भी प्रोत्साहन मिला और साहित्य के अध्ययन में नवीन खोजपूर्ण शैली का जन्म हुआ। इससे हिन्दी साहित्य और साहित्यिक आलोचना दोनों की समृद्धि हुई।

इस समृद्धि के कारण उत्पन्न हुई अध्ययन की आवश्यकताओं के अनुसार समालोचना-सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी समयानुकूल और उपयुक्त ही था। पाश्चात्य साहित्य के साथ उत्तरोत्तर बढ़ते हुए सम्पर्क से हिन्दी में एक विशिष्ट आलोचना प्रणाली के अभाव का अनुभव हुआ। हिन्दी समालोचना के जन्म-काल में पाश्चात्य साहित्य का अध्ययन जारी हो जाने पर भी हिन्दी-भाषियों के साहित्यादर्श या साहित्य परखने की विधि में कोई विशेष परिवर्तन न हुआ था। प्राचीन काल की भाँति साहित्य का गुण-दोष-विवेचन ही उनका प्रधान उद्देश्य रहा, न कि कवि या लेखक के आविर्भाव-काल, जीवन, जीवन की विभिन्न परिस्थितियों, आदि का अध्ययन कर उसकी अन्तःप्रवृत्ति की सूक्ष्म विशेषतओं का विश्लेषण करना। यह पाश्चात्य आलोचना-प्रणाली है और हिन्दी में इसका प्रचार प्रथम महायुद्ध के बाद रामचन्द्र शुक्ल के हाथों हुआ। इस प्रकार की प्रणाली व्याख्यात्मक समालोचना के नाम से प्रसिद्ध है। भारतीय प्रणाली निर्णयात्मक है। रामचन्द्र शुक्ल ने दोनों का सुन्दर सामंजस्य उपस्थित किया। उन्नीसवीं शताब्दी में समालोचना का मूल उद्देश्य प्राचीन रहने से समालोचकों ने साहित्य को शुद्ध साहित्य की दृष्टि से देखा; उन्होंने उस पर राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, आदि विभिन्न 'वादों' का आरोपण न किया। संस्कृत में आचार्यों ने साहित्य आनन्दमूलक माना है। यह आनन्द साधारण अर्थ में आनन्द नहीं होता। उसे चमत्कार का या लोकोत्तर आनन्द का पर्यायवाची समझना चाहिए। इसलिए साहित्य को आनन्दोत्पादक बनाने के लिए कुछ नियम स्थापित करना भी अनिवार्य था। उन्हीं नियमों के मूल सिद्धान्तों के आधार पर उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के समालोचकों ने साहित्य की व्याख्या की और अपने सिद्धान्त प्रतिपादित किए। वाह्य दृष्टि से भिन्न प्रतीत होते हुए भी उनकी समालोचना वास्तव में भारतीय आदर्शानुसार थी। साहित्य-सम्बन्धी सरल दृष्टिकोण में हुए परिवर्तन के पीछे ऐतिहासिक शक्तियाँ काम करती रही हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध की हिन्दी समालोचना का एक और

महत्वपूर्ण पक्ष है। उस समय जितने समालोचक थे वे केवल समालोचक ही नहीं रचनात्मक कलाकार भी थे। यदि यह कहा जाय कि वे प्रधानतः कलाकार थे, न कि समालोचक, तो बहुत कुछ ठीक ही होगा। शायद ही कोई ऐसा समालोचक था जो प्रमुख रूप से कवि, उपन्यास-लेखक, नाटककार, निबन्धकार, आदि में से कोई एक न हो रहा। केवल समालोचना करना जिनका धर्म हो, जिनकी साहित्यिकता केवल समालोचना करने तक सीमित हो, ऐसे व्यक्ति हिन्दी में बहुत कम क्या, नहीं के बराबर हैं। ऐसी परिस्थिति में उन्होंने जो कुछ लिखा उसका अत्यधिक मूल्य है। उनके आलोचनात्मक लेख कलाकार के रूप में उनके निजी अनुभव के प्रकाश में लिखे गए माने जा सकते हैं। उनका वही महत्व है जो एक चित्रकार द्वारा अपने चित्रों के सम्बन्ध में लिखे गए 'नोट्स' का महत्व होता है। दूसरे कलाकार उनके विचारों से लाभ उठा सकते हैं, विशेष रूप से उस समय जब कि उनके विचारों का अध्ययन उनकी कलात्मक कृतियों के साथ किया जाय। इन रचनाओं की परम्परा में आगे चल कर भी हिन्दी समालोचना की सृष्टि हुई।

४

हिन्दी ईसाई साहित्य

कहा जाता है कि ईसा की पहली शताब्दी के लगभग टॉमस भारतवर्ष में मालाबार तट पर आकर बसे थे। वहाँ अब तक उनके अनुयायी मिलते हैं। किन्तु टॉमस का भारतवर्ष आना एक प्रकार की पौराणिक कथा बनी हुई है; अभी तक उनके सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ ज्ञात नहीं हो सका। उनके बाद विभिन्न ईसाई सम्प्रदायों के और लोग भी भारतवर्ष आते रहे। ईसा की चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दियों से रोमन कैथोलिक ईसाई धर्म-प्रचारक यहाँ आने लगे थे। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में पुर्तगाल के राजा के भेजे हुए कुछ लोग कालीकट में उतरे थे। उस समय यूरोप से आने वालों में अधिकतर पोर्चुगीज़ थे। वास्को ड गामा के भारतागमन (२० मई, १४६८) के बाद पोर्चुगीज़ सिपाहियों के साथ ईसाई धर्म-प्रचारकों ने भी हिंसा और अत्याचार का सहारा लिया जिसके फलस्वरूप उनके धर्म का अधिक प्रचार न हो सका। उस समय गोआ पाश्चात्य सभ्यता का केन्द्र बन गया था और वहीं ईसाई धर्म का कुछ प्रचार भी हुआ।

१५४२ में सेंट फ्रांसिस ज़ेवियर (१४६७-१५५२) नामक जेसुइट भारतवर्ष आए। वे अत्यन्त प्रसिद्ध महापुरुष थे। उन्होंने भारतवर्ष से जापान तक अपना कार्य-क्षेत्र बनाया। पुराने गोआ में बॉन जीसस (Bon Jesus) के ईसाई मठ में उनकी समाधि बनी हुई है। उनके बाद अन्य अनेक प्रसिद्ध जेसुइट ईसाई धर्म-प्रचारकों ने ज़ेवियर का अनुगमन किया। उन्होंने पोर्चुगीज़ प्रदेशों में शिक्षा-प्रचार के लिए स्कूल खोले। कहा जाता है कि १५५६ में उन्होंने गोआ में मुद्रण-कला का प्रचार किया और 'Conclusione's Philosophicas' तथा ज़ेवियर कृत 'Catechism' नामक ग्रन्थ प्रकाशित किए। उन्होंने दक्षिण भारत की भाषाएँ भी सीखीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जेसुइट ईसाई यूरोप से एक नई शक्ति लेकर आए थे, किन्तु भारतवासियों ने उस समय उससे कोई लाभ न उठाया। तदनन्तर दक्षिण भारत के अन्य स्थानों में ईसाई धर्म चल पड़ा। कैथोलिक धर्म का फिर भी अधिक प्रचार न हो सका। इटली आदि पश्चिमी देशों से

जो जेसुइट लोग आए वे द्राविड़ भाषाएँ सीख कर हिन्दू धर्म पर उचित-अनुचित आक्रमण करने लगे। उन्होंने भी कुछ लोगों को ईसाई धर्म में दीक्षित किया। यह कहा जाता है कि उस समय ईसाई लोग राज्य और तलवार के ज़ोर से अपने धर्म का प्रचार करना चाहते थे।[1] परन्तु उसका परिणाम अन्त में अच्छा न हुआ। १५७९ में फ़ादर टॉमस स्टीफ़ेन्स नामक पहला अँगरेज़ भारतवर्ष आया। फ़ादर स्टीफ़ेन्स गोआ तथा अन्य स्थानों में अनेक वर्षों तक रहे और कोंकण भाषा के शब्दों से मिश्रित मराठी में 'क्रिश्चियन पुराण' नामक कविता लिखी, पोर्चुगीज़ भाषा में कोंकण व्याकरण और ईसाई सिद्धान्तों के सम्बन्ध में कोंकण भाषा में एक प्रश्नोत्तरी की रचना की। वे संस्कृत, मराठी और कोंकण भाषाएँ जानते थे। धर्म-प्रचारकों और ईसाई धर्म स्वीकार करने वालों के लिए उन्होंने मराठी, कोंकण और पोर्चुगीज़ भाषाओं में पूर्वोल्लिखित तथा अन्य कई और ग्रन्थों का निर्माण किया।[2] अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के ज़माने में ईसाई धर्म-प्रचारक तथा कुछ व्यापारी लोग हिन्दी प्रदेश तक पहुँच गए थे, यद्यपि उनकी संख्या अधिक नहीं थी। अकबर के समय में बेतिया, तिरहुत, आदि में कुछ भारतवासियों ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया था। आगरे में भी एक ईसाई बस्ती थी। किन्तु आगे चल कर इन ईसाइयों के अस्तित्व का पता नहीं लगता। फ़ादर ऐंतोनियो द आन्द्रादे (Father Antonio de Andrade) १६०० में भारतवर्ष आए और उन्होंने आगरा अपना प्रधान केन्द्र बनाया। ३० मार्च, १६२४ को वे जहाँगीर के साथ दिल्ली पहुँचे और वहाँ से बद्रीनाथ और तिब्बत गए। कहा जाता है कि यह पहला यूरोपियन था जिसने हिमालय प्रदेश में अपने पैर रक्खे।[3] इसी प्रकार कहा जाता है कि कुछ समय बाद कैसिआनो बेलीगट्टी (Cossiano Belligatti) नामक कैप्यूचिन (Capuchin) मिशनरी ने उत्तर भारत में रहते हुए नागराक्षरों में किसी प्रबन्ध की रचना की थी। सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दियों में फ्रांस, हॉलैंड, बेलजियम, नॉर्वे, आदि अन्य अनेक यूरोपियन देशों से ईसाई धर्म-प्रचारक आए। व्यापार के साथ-साथ वे धर्म-प्रचार भी करते थे। किन्तु रोमन

---

[1] एथेल एम० पोप (Ethel M. Pope): 'इंडिया इन पोर्चुगीज़ लिटरेचर', १९३७, पृ० ३१

[2] वही, पृ० १४०

[3] वही

कैथोलिक ईसाइयों का प्रधान कार्य-क्षेत्र दक्षिण भारत रहा। साथ ही दक्षिण में निरन्तर युद्ध-विग्रह से उनके कार्य में अनेक बाधाएँ पड़ीं।

सोलहवीं शताब्दी में प्रोटेस्टैंट सम्प्रदाय का जन्म हुआ। १७०५ में डेनमार्क के राजा चतुर्थ फ्रेडेरिक ने राज्य के एक चैपलेन, डॉ० ल्यूट्केन्स (Dr. Lutkens), के कहने से भारतवर्ष में मिशन स्थापित करने की बात सोची। ६ जुलाई, १७०६ को उसके भेजे हुए ज़ीगनबाल्ग (Ziegaubalg) और हेनरी प्लुचु (Plustchew) नामक दो प्रोटेस्टैंट मतावलम्बी भारत में धर्म-प्रचार के लिए मद्रास के तञ्जौर ज़िले में आए। दोनों ही बड़े विद्वान् थे। उन्होंने दक्षिण भारत की और पोर्चुगीज़ भाषाओं का अध्ययन किया। ज़ीगनबाल्ग ने तामिल में बाइबिल (पुराने और नए नियम) का अनुवाद किया। भारतीय भाषाओं में बाइबिल का यह सर्वप्रथम अनुवाद है। वे सभाएँ लगाकर लोगों को धर्मोपदेश देते और उन्हें ईसाई बनाते थे। गरीबों में धार्मिक पुस्तकें बाँटना और उन्हें आर्थिक सहायता देना भी उनका नियम था। ज़ीगनबाल्ग की मृत्यु १७१६ में छत्तीस वर्ष की आयु में हुई। कहा जाता है कि ज़ीगनबाल्ग के साथी शुल्ज़ (Schultze) ने १७२५ में हिन्दी भाषा में बाइबिल निकाला था। उनके तथा अन्य प्रोटेस्टैंट मतावलम्बियों के प्रयास से भारत के भिन्न-भिन्न स्थानों में, विशेष कर दक्षिण में, ईसाई-धर्म का निम्नश्रेणी के लोगों में यथेष्ट प्रचार हुआ।

इतना होने पर भी उन्नीसवीं शताब्दी तक भारत में ईसाई धर्म का अधिक प्रचार न हो सका। एक तो देश की जनता ने ही उनकी दीक्षा पर अधिक विश्वास न किया, दूसरे, कंपनी ने धर्म के प्रति अपनी उदासीन नीति के कारण ईसाई धर्म-प्रचारकों को भारत आने की स्वतंत्रता न दी। उसकी सरकारी नीति के अनुसार कंपनी का कोई भी कर्मचारी धर्म-प्रचार में भाग न ले सकता था। उसे डर था कि देशी जनता अपने धर्म पर आघात समझ कर बिगड़ न उठे।[1]

---

[1]-दे०, मद्रास गज़ट, २ मई, १८१८,

बापटिस्ट डब्ल्यू० नोएल : 'इँगलैंड एँड इंडिया', लंदन, १८५१, पृ० ४०-४१, १११

रैम्ज़े म्योर : दि मेकिंग ऑव ब्रिटिश इंडिया', १७५६-१८५८ पृ० २५१-२५२

एच० एच० डॉडवेल : 'इंडिया', भाग १,—१८५७

१८१३ में विल्बर्फोर्स ऐक्ट के अनुसार ईसाई धर्म-प्रचारकों को धर्म-चार की आज्ञा मिल गई। उन्होंने अब बड़ी तेज़ी के साथ अपने कार्य में दक्षता दिखाई। वे धर्म-संघ, स्कूल, ज़नाना सोसाइटियाँ, आदि खोलते तथा मेलों और पर्वों के अवसर पर धर्मोपदेश, शास्त्रार्थ, पुस्तक-वितरण, आदि के द्वारा अपने धर्म का प्रचार करते थे। परन्तु इनेगिने उच्च श्रेणी के लोगों को छोड़ कर निम्न श्रेणी के भारतवासियों ने ही अधिकतर उनका धर्म स्वीकार किया। ईसाई पादरियों द्वारा प्रदत्त शिक्षा का मुख्य उद्देश्य अपने धर्म का प्रचार करना था। इसके अतिरिक्त वे जनसाधारण की भाषा सीख कर उसमें व्याख्यान देते और हिन्दू धर्म को अवैज्ञानिक और कुप्रवृत्तियों का पोषक बताकर ईसाई धर्म की महत्ता जताने का प्रयत्न किया करते थे। वे अपने धर्मानुसार भारतीय जनता के सामने मुक्ति का द्वारा खोलना चाहते थे। उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में वे समस्त हिन्दी-प्रदेश में फैल गए और उन्होंने आगरा, बनारस, इलाहाबाद, सहारनपुर, मेरठ, बरेली, पटना, दिल्ली, आदि बड़े-बड़े नगरों में अपने केन्द्र स्थापित किए।

रोमन कैथोलिक ईसाई पादरियों ने भारतीय भाषाओं में अपने धर्म-ग्रन्थों का अनुवाद कर प्रचार-कार्य करने की ओर अधिक ध्यान न दिया था। ईसाई मिशनरियों द्वारा भाषा-साहित्य का कार्य १७६३ में प्रोटेस्टैंट सम्प्रदा। के बापटिस्ट मिशनरी, विलियम कैरे, के भारतवर्ष में आने के बाद आरम्भ होता है। उस समय तक उत्तर भारत की भाषाओं में बाइबिल का अनुवाद न हुआ था। प्रचारात्मक साहित्य का भी अभाव था। अब उन्होंने यह सोच कर कि एक पुस्तक हज़ारों व्यक्तियों को ईसा का दिव्य संदेश सुना सकती है साहित्य-निर्माण की ओर ध्यान दिया। कैरे और उनके साथियों ने अपनी असाधारण सहिष्णुता और परिश्रम से श्रीरामपुर में एक मिशन खोला और धर्म-पुस्तकों के प्रकाशन का कार्य आरम्भ किया। १८०० और १८५० के बीच श्रीरामपुर मिशनरियों तथा अन्य धार्मिक संस्थाओं द्वारा बाइबिल के अनेक अनुवाद तथा अन्य ग्रन्थ प्रकाशित हुए। ११ मार्च, १८१२ में श्रीरामपुर मिशन में आग लग जाने के कारण और फिर १८५७ के विद्रोह में अधिकांश ईसाई साहित्य नष्ट हो गया था। किन्तु इधर उन्नी-सवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध का कुछ हिन्दी ईसाई साहित्य प्रकाश में आया है।

उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में मिशनरियों ने इस बात का अनुभव किया कि भारतीय जनता में अलग-अलग संस्थाओं द्वारा शिक्षा-प्रचार करने

के स्थान पर संगठित रूप से कार्य किया जाय तो सफलता की अधिक आशा हो सकेगी। यह सोचकर उन्होंने एक ऐसी संस्था स्थापित करनी चाही जिसे भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों की सभी संस्थाओं का सहयोग प्राप्त हो। १८५७ में केवल चर्च मिशनरी सोसायटी, वेज़लीयन मिशनरी सोसायटी, लन्दन मिशनरी और बाप्टिस्ट मिशनरी सोसायटी की अध्यक्षता में ही पैंतीस हज़ार एक सौ बानबे बच्चों ने गाँवों के स्कूलों में शिक्षा पाई थी। गाँवों के अतिरिक्त नगरों में भी मिशनरियों द्वारा स्कूल और कॉलेज सञ्चालित किए जाते थे। उनमें अँगरेज़ी के माध्यम द्वारा शिक्षा दी जाती थी और यूरोपियन लोग अध्यापन-कार्य करते थे। उनका मुख्य ध्येय ईसाई धर्म का प्रचार करना था। इन सब बातों को सोचते हुए १८५६ के लगभग क्रिश्चियन वर्नाक्यूलर लिट्रेचर सोसायटी की स्थापना की गई। इस सोसायटी का ध्येय अपने ढंग की आदर्श शिक्षा देना और वर्नाक्यूलर पाठ्य-पुस्तकें प्रकाशित करना था।

१८५२ में देशी ईसाइयों की संख्या चौरानवे हज़ार एक सौ पैंतालीस थी और पत्र-व्यवहार करने वालों की संख्या पन्द्रह हज़ार एक सौ उन्नीस थी। इस वर्ष यूरोपियन और अमेरिकन मिशनरियों की संख्या केवल तीन सौ पैंतीस थी। इतनी बड़ी संख्या की माँग ये थोड़े-से मिशनरी पूरी नहीं कर सकते थे। और फिर ईसाई धर्म स्वीकार करने वालों या उसमें दिलचस्पी लेने वालों की ईसाई साहित्य के लिये दिन पर दिन माँग बढ़ती जा रही थी। साथ ही इस साहित्य से एक लाभ और था। वह ईसाई धर्म के विरोधियों और स्त्रियों के बीच भी पहुँच सकता था जिसे पढ़कर वे शान्त चित्त से उस पर मनन कर सकते थे।

शिक्षा और धर्म-प्रचार के लिए सर्वोत्तम ग्रन्थ उन्होंने बाइबिल समझा। बाइबिल को वे ईश्वरीय शब्द समझते थे। उसकी तुलना क़ुरान और पुराणों से कर वे जनता को यह बताना चाहते थे कि ईसाई धर्म के अतिरिक्त और सब धर्म निम्नकोटि के और खोखले हैं।

ऊपर यह बताया जा चुका है कि १८५० से पहले हिन्दी में बाइबिल के अनेक अनुवाद हो चुके थे। १८५० के बाद कुछ पुराने और कुछ नये अनुवाद प्रकाशित हुए। भिन्न-भिन्न सोसायटियाँ भिन्न-भिन्न मिशनरियों से किताबें लिखा कर जनता में उनका वितरण करती थीं। १८५४ में नॉर्थ इण्डिया ट्रैक्ट ऐंड बुक सोसायटी ने बार्थ की 'हिस्ट्री ऑव दि बाइबिल' (History of the Bible) का 'धर्म पुस्तक के इतिहास' के नाम से अनुवाद प्रकाशित किया। १८७८ में यही पुस्तक अमेरिकन ट्रैक्ट सोसायटी ने प्रका-

शित की। उसका हिन्दी-अनुवाद कैलसो नामक पादरी ने किया था। उसमें ओल्ड और न्यू टेस्टामेंट (Old and New Testament) दोनों शामिल हैं। अमेरिकन प्रेसबाइटीरियन मिशन, फ़रुखाबाद के रेवरेंड जे० एफ० उल्लमन साहब ने भी न्यू टेस्टामेंट का हिन्दी में अनुवाद किया था। न्यू टेस्टामेंट का दूसरा अनुवाद 'प्रभु यीशु खीष्ट का सुसमाचार' के नाम से १८७४ में प्रकाशित हुआ। वह नॉर्थ इंडिया बाइबिल सोसायटी का प्रकाशन था। उसमें मेथ्यू, मार्क और ल्यूक की धर्म-पुस्तकें शामिल हैं। १८८३ में नॉर्थ इंडिया ऑग्ज़िलियरी बाइबिल सोसायटी ने हेब्रू के ओल्ड टेस्टामेंट का अनुवाद 'धर्म पुस्तक' के नाम से दो भागों में छापा। फिर उसी को कलकत्ते की बाइबिल सोसायटी ने १८९५ में 'प्रभु यीशु खीष्ट की मंगल कथा' के नाम से प्रकाशित किया। उनके अतिरिक्त और भी अनेक छोटे-छोटे ग्रन्थ प्रश्नोत्तरी के रूप में निकले।

बाइबिल-प्रचार के साथ उन्होंने ऐसी पुस्तकें भी प्रकाशित कीं जिनमें ईसाई धर्म का निजी ढंग से तत्त्व-निरूपण किया गया है और हिन्दू धर्म पर उचित-अनुचित प्रहार किये गये हैं। मिशनरियों ने इन छोटी-छोटी पुस्तकों को अपने मत-प्रचार की आयोजना में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। उनके प्रकाशन का भार कुछ नई स्थापित की गई सोसायटियों ने लिया। इस सम्बन्ध में कार्ल गौट्लीब फ्फ़ैंडर (Karl Gottlieb Pfander) का नाम कभी नहीं भुलाया जा सकता। वे वुर्टेम्बर्ग (Wurtemberg) के बासिल् (Basle) मिशन के सदस्य थे और १८२५ से १८३७ तक ईरान में काम करते रहे। जब रूसियों ने जार्जिया (Georgia), जो उनका मुख्य कार्य-क्षेत्र था और ईरानी राज्य का ही एक भाग था, जीत लिया तो उन्होंने बासिल् मिशनरियों को निकाल बाहर किया। कार्ल फ्फ़ैंडर भारतवर्ष चले आये और चर्च मिशनरी सोसायटी के सदस्य बन गये। १८४१ में उनको प्रचार कार्य के लिये आगरा भेजा गया। वहाँ पर ३० जुलाई, १८४८ में उन्होंने ट्रैक्ट ऐंड बुक सोसायटी की स्थापना की। १८५४ तक वे आगरा में रहे। १८५८ में उत्तर-पश्चिम प्रदेश की राजधानी जब आगरा से हट कर इलाहाबाद आई तो सोसायटी का ऑफ़िस भी वहाँ आ गया। ऐसी और छोटी-छोटी संस्थाओं में एक क्रिश्चियन लिट्रेरी सोसायटी, जिसकी स्थापना डॉ० मर्डौख़ (Dr. Murdoch) ने की थी, और दूसरी क्रिश्चियन वर्नाक्यूलर एज्युकेशन सोसायटी थी। इन संस्थाओं ने अनेक छोटी-बड़ी पुस्तकें प्रकाशित कीं। बनारस में भी एक ट्रैक्ट सोसायटी थी जो बाद को

आगरा ट्रैक्ट सोसायटी में मिला दी गई। इन सब सोसायटियों का कार्य-क्षेत्र संयुक्त प्रान्त से लेकर पंजाब तक था। पुस्तकें छापने के लिए आगरा, इलाहाबाद, सिकन्दरा, बनारस, फ़र्रुखाबाद, आदि प्रमुख नगरों में प्रेस खोले गये। इन संस्थाओं और प्रेसों से जितनी पुस्तकें प्रकाशित हुई उन सब की सूची तो यहाँ नहीं दी जा सकती, परन्तु उदाहरण के तौर पर कुछ ग्रन्थों (प्रथम या अन्य संस्करण) का उल्लेख किया जा सकता है, जैसे, 'मत परीक्षा' (१८६१), २ भाग, 'धर्माधर्म परीक्षा' (१८६१), 'श्रीयसू ख्रिष्ट चरित्र दर्पण' (१८७३), 'स्त्रियों का वर्णन' (१८७६), 'मूर्तिपूजा का वृत्तान्त' (१८७६), 'निर्मल जल' (१८७७), 'धर्म तुला' (१८८०), 'केशवराम की कथा' (१८८१), 'ऋण विचार' (१८८३), 'यीशू विवरण' (१८८३), 'आर्यतत्त्व प्रकाश' (१८८८), पादरी ई० ग्रीव्स कृत 'प्रभु यीशु की कथा' (१८६२), 'गुरु परीक्षा' (१८६४), 'हिन्दू धर्म का वर्णन' (१८६४), 'गंगा का वृत्तान्त' (१८६६), आदि। ऐसे सैकड़ों ग्रन्थ प्रकाशित हुए। उनमें लेखकों ने हिन्दू धर्म की तीव्र आलोचना की है और अपने मत का तत्त्वनिरूपण कर हिन्दुओं को ईसाई धर्म की ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न किया है। स्वास्थ्य आदि शिक्षा-सम्बन्धी विषय भी उठाये गये हैं। सामाजिक समस्याओं का ईसाई-धर्मानुसार विश्लेषण किया गया है। ईसाई धर्म-प्रचारकों ने अपने प्रसिद्ध कार्यकर्त्ताओं की जीवनियाँ भी लिखीं, जैसे, पादरी जे० जे० लूकस कृत 'पादरी जडसन साहब का वृत्तांत' (१८८६), पादरी जे० सी० आर० यूइंग साहब कृत 'पादरी डफ़ साहिब का वृत्तान्त' (१८८६), आदि। ये ग्रन्थ अमेरिकन मिशन, क्रिश्चियन एज्युकेशन सोसायटी, इलाहाबाद की क्रिश्चियन लिट्रेरी सोसायटी, बाइबिल ट्रान्सलेशन सोसायटी, अमेरिकन ट्रैक्ट सोसायटी, लुधियाना, नॉर्थ इंडिया औग्ज़िलियरी बाइबिल सोसायटी, नॉर्थ इंडिया क्रिश्चियन ट्रैक्ट ऐंड बुक सोसायटी, आदि संस्थाओं द्वारा प्रकाशित किये गये थे। उनके लेखकों ने अत्यन्त सीधा और सरल गद्य लिखा है। आलोच्य काल में छपे हुए अन्य हिन्दी के ग्रन्थों को देखते हुए उनकी छपाई बहुत ही साफ़ और सुन्दर हुई है।

कुछ विद्वानों ने हिन्दी ईसाई साहित्य के मूल्याङ्कन में अत्युक्ति से काम लिया है। उनका कहना है कि ईसाई मिशनरियों ने हिन्दी गद्य को पुष्ट कर उन्नति की ओर अग्रसर किया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस साहित्य के लेखकों में साहित्यिक महत्त्वाकांक्षा थी। उन्होंने सुन्दर और ललित गद्य

लिखने का प्रयत्न किया है। परन्तु वे उसमें सफलता प्राप्त नहीं कर सके। हिन्दी भाषा सीखने और उसकी आत्मा पहिचानने का यथासाध्य परिश्रम करने से ही किसी को साहित्यिक श्रेष्ठता प्राप्त नहीं हो जाती। हाँ, उनका परिश्रम प्रशंसनीय अवश्य है। नहीं तो ईसाई साहित्य का ऐतिहासिक महत्त्व के अतिरिक्त और कोई मूल्य नहीं है। काल की गति के अनुसार हिन्दी गद्य-साहित्य की उन्नति स्वमेव हो रही थी। अपनी बढ़ती के लिये वह ईसाई मिशनरियों का मुँह नहीं ताक रहा था। उनके ग्रन्थ हमारे साहित्य की अमूल्य निधि नहीं बन सकते। हिन्दी बाइबिल को भाषा-गद्य का उत्कृष्ट नमूना समझना बड़ी भारी ग़लती होगी। यही अन्य छोटे-बड़े ग्रन्थों के विषय में भी कहा जा सकता है। इन ग्रन्थों में साहित्यिक सौन्दर्य के स्थान पर धार्मिक उत्साह ही अधिक दृष्टिगोचर होता है। उनका गद्य ग्राम्य प्रयोगों, ग़लत मुहावरों और व्याकरण की अशुद्धियों से भरा हुआ है। वह अपरिपक्व दशा में है। उदाहरण के तौर पर नीचे कुछ अवतरण उद्धृत किये जाते हैं:

'आरंभ में ईश्वर ने आकाश और पृथिवी को सिरजा। और पृथिवी बेडौल और सूनी थी और गहिराव अँधियारा था और ईश्वर का आत्मा जल के ऊपर डोलता था॥

और ईश्वर ने कहा कि उंजियाल होवे और उंजियाला हो गया। और ईश्वर उंजियाले को देखा कि अच्छा है और ईश्वर ने उंजियाले को अंधियारे से विभाग किया और ईश्वर ने उंजियाले को दिन और अंधियारे को रात कहा और सांझ और बिहान पहिला दिन हुआ।'[1]

'क्योंकि हमारा ज्ञान अल्प है और हमारा आगम को कहना अल्प है परन्तु जब वह जो सम्पूर्ण है आवेगा तो वह जो अल्प है नष्ट हो जायगा। अब हम दर्पण में धुंधलासा देखते हैं परन्तु उस समय आम्हने साम्हने देखेंगे अब मेरी विद्या अल्प है परन्तु तब मैं ऐसा जानूंगा जैसा कि मैं भी जाना गया हूं।'[2]

---

[1] 'धर्म पुस्तक' (१८६६), पृ० १

[2] 'मुक्तिमाला के बारह रत्न' (१८८०, द्वि० सं०), पृ० ९१-९०

'परमेश्वर ने अपने वचन से स्वर्ग और पृथिवी को सिरजा परमेश्वर ही अनादि और सर्व शक्तिमान है वुह जो चाहे सो कर सकता है उसने न चाहा कि स्वर्ग और पृथ्वी और उनके समस्त विभव एक ही बेर प्रगट हों परन्तु धीरे धीरे प्रगट और सिद्ध हों क्योंकि उसने प्रथम ही से सबका ठिकाना गिन्ती माप और तौल ठहराया था सो परमेश्वर ने छः दिन में स्वर्ग और पृथ्वी को उत्पन्न किया।'[१]

'ये सब कष्ट प्रभु ईसा मसीह ने इस कारण उठाये कि हम उस पर विश्वास लाके मुक्ति प्राप्त करें—देखो वह हमारी मुक्ति के लिये सदा काल जीता रहता है जैसा लिखा है इसलिये वह उन्हें जो उसके द्वारा ईश्वर के पास जीता है॥ ...वह तुम्हारे देवतों के समान नहीं हैं जो मर मिटे हैं—रामचन्द्र सरजू नदी में लक्ष्मण के शोक के मारे डूब मरा—कृष्ण प्रभास तीर्थ के बन में भील के शर से मारा गया। ब्रह्मा का शिर शिव ने काटा—विष्णु को शिव जो उसके काले बाल का अवतार था निगल गया। शिव ने भीमसेन के डर के मारे हिमालय में प्राण तजा। इस रीति सब देवते जिन पर तुम मुक्ति आशा रखते हो मर मिटे।'[२]

'पहली स्त्री जिसका वर्णन धर्म्म पुस्तक में हुआ है सो हव्वा है और वह सभों की माता थी। ईश्वर ने उसे पवित्र और आनन्दित उत्पन्न किया था परन्तु हाय कि वह उस दशा में स्थिर न रही। उसने पापात्मा की बात सुनके उस फल को जिसका खाना ईश्वर ने बरजा था खाया और अपने पति को भी खिलाया सब पर प्रगट है कि हव्वा के आज्ञा उल्लङ्घन करने के कारण से पाप दुःख और मृत्यु इस जगत में आये जो इससे पहले बहुत ही अच्छा और मन भावना स्थान था। सब स्त्रियों को लज्जित होना चाहिये कि ये सब दुःख और आपदा स्त्री के कारण उत्पन्न हुए।'[३]

हिन्दी बाइबिल में हिन्दी-गद्य-शैली की झलक मिलती है। उसमें हिन्दी साहित्य के रूपकों और प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। कृत्रिमता के रहते हुए भी लेखकों ने सरलता की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया है। उनका ऐसा

---

[१] 'धर्म पुस्तक के इतिहास' (१८७८), पृ० १

[२] 'योग वैराग्य तीर्थ तपस्या का वृत्तांत' (१८७८), पृ० १६-१७

[३] 'स्त्रियों का वृत्तान्त' (१८७६, द्वि० सं०), पृ० १

करना कुछ हद तक ठीक था। क्योंकि उनके ग्रन्थ पढ़ने वालों में ग्रामीण जनता और निम्नवर्ग के लोगों की संख्या ही अधिक थी। उनका ध्येय प्रचार करना था। इस समुदाय में अपने धर्म का प्रचार कर वे उसे हिन्दू समाज से अलग देखना चाहते थे। इसीलिए धर्म के तत्त्व का निरूपण करते समय उन्होंने जनसाधारण में प्रचलित धर्म के वाह्य स्वरूप की ही आलोचना की है। फलतः साहित्यिक सौष्ठव का स्थान चलती हुई बातों और भाव-प्रकाशन-शैली ने ले लिया है। वास्तव में थोड़े दिन के परिश्रम से विदेशी मिशनरियों ने हिन्दी पढ़ना-लिखना भले ही सीख लिया था, परन्तु उत्कृष्ट गद्य लिखने की सिद्धहस्तता उन्हें प्राप्त नहीं हुई थी। पढ़ा-लिखा कर तैयार किये गये थोड़े-से निम्नजाति के देशी ईसाइयों की ग्रन्थ-रचना में भी भाषा की प्राञ्जलता और साहित्यिक सौष्ठव की आशा करना व्यर्थ है।

अस्तु, हिन्दी बाइबिल तथा अन्य ईसाई-धर्म-ग्रन्थों में साहित्यिक सौन्दर्य और भाषा की छटा देखने के लिये हमें निराश होना पड़ेगा। उनकी भाषा और शैली का साहित्यिक रचनाओं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उनकी भाषा का न तो सुशिक्षित जनता में चलन था और न ललित गद्य के उदाहरण स्वरूप उनकी रचनाओं से अवतरण ही उद्धृत किये जाते थे। लल्लूलाल के अव्यवस्थित और असङ्गठित गद्य की उनकी रचनाओं पर छाप है। कहीं-कहीं इंशा की भाषा का प्रभाव भी दिखाई दे जाता है, परन्तु वह नगण्य है।

तो भी यह कहना कि ईसाई साहित्य में सुव्यवस्थित गद्य के उदाहरण मिलते ही नहीं, ईसाई लेखकों के प्रति अन्याय होगा। कहीं-कहीं ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं जो उपर्युक्त दोषों से बहुत कुछ बरी हैं। एक उदाहरण नीचे दिया जाता है :

> 'हे प्रिय हिन्दुओं तुम इसके विषय सोचो कि तुम्हारे मत में पाप के पश्चात्ताप करने का ऐसा विधान है, कहीं वेदशास्त्र में परमेश्वर की पवित्रता अथवा उसकी आज्ञा की पवित्रता का कुछ लेश है अथवा कहीं उनमें लिखा है कि परमेश्वर पश्चात्ताप करने की सामर्थ मनुष्य को देता है जब हिन्दू अपने पाप को देख के कुछ चिन्तायमान और भयमान होता है तो वुह क्या करे वह तो काम क्रोध लोभ मोह में बह गया और कहीं सहायक दृष्टि नहीं आता बरन उसका शास्त्र उससे कहता है कि जैसा तूने किया वैसा तू पावेगा सो वुह निराश होके और अधिक पाप में डूबेगा अथवा अपना मन कठोर करके यह सोचेगा कि मैं पाप से काहे को भयमान होऊं मैं बुरा तो

हूं परंतु देवताओं से बुरा तो नहीं हूं बरन उनसे कहीं भला हूं शिव के समान जाति से अनादर और अप्रतिष्ठित नहीं हुआ और ब्रह्मा की नाईं कामातुर होके अपनी कन्या से कुकर्म नहीं किया और विष्णु के समान पराई स्त्री को नहीं ठगा और उनके अवतारों की रीति प्रतिज्ञा भंजक और निर्दोषियों का घातक और नास्तिक मत और अधर्म का उपजायक नहीं हुआ और इन्द्र के समान अपने गुरु की पत्नी को भ्रष्ट नहीं किया कुछ कुछ पाप जो मुझसे हुआ हो सो शास्त्र पुराण की रीति से कुछ बड़ी बात नहीं है यदि कहीं झूठ बोला हूं तो गौ ब्राह्मणों को उसमें कुछ लाभ होगा....'[1]

'अब दयानन्दजी के इस वर्णन की कि पूर्व समय में मनुष्यों की आयु बहुत अधिक होती थी निर्मूलता सब लोगों पर प्रगट हो जायगी। यह उन निर्मूल वर्णनों का मानों एक उदाहरण है जो आर्य लोग बड़े साहस से अपने मत के नाम पर वर्णन करते हैं और जिनको उनके अनुजायी लोग बिन निर्णय किये गटका करते हैं। वह बुद्धि और उन धर्म पुस्तकों के वर्णन से जिन पुस्तकों को वे परमेश्वर का वचन मानते हैं विरुद्ध हैं।'[2]

मूल ग्रन्थ लिखने में ही नहीं, वरन् अनुवादों में भी मिशनरी लेखकों को अधिक सफलता नहीं मिली। उनका थोड़ा-बहुत भाषा-सम्बन्धी ज्ञान इस क्षेत्र में बिल्कुल ही व्यर्थ सिद्ध हुआ। भाषा के विद्वान् लेखकों से भी उन्होंने कोई सहायता न ली। इसीलिए उनकी भाषा में विचित्र विचित्र प्रयोग, निरर्थक शब्दों का जमघट, शिथिल और असम्बद्ध वाक्य, ग़लत मुहावरों का प्रयोग, कृत्रिमता, आदि दोष मिलते हैं। ब्रजभाषा के प्रयोगों के अतिरिक्त उन्होंने संस्कृत शब्दों का भी प्रयोग किया है। परन्तु वह अनुपयुक्त है जिससे कभी-कभी लेखक का भाव समझने तक में कठिनाई उपस्थित होती है। भाषा पर पूर्ण अधिकार न होने के कारण उनकी तर्क-शैली आर्य-समाजियों की तर्क-शैली की भाँति प्रभावशाली और ज़ोरदार नहीं हो पाई। हिन्दी में ईसाई धर्म तथा अन्य ग्रन्थों के बारे में यह ठीक ही कहा गया है कि वे पूर्व के भव्य वातावरण में लिखे जाने की अपेक्षा लन्दन के कुहरे या सेण्ट पीटर्सबर्ग के बर्फ़ीले मैदान में लिखे गये मालूम होते हैं।

---

[1] 'सतमत निरूपण' (१८६५), पृ० २०७-२०८

[2] 'आर्यतत्त्व प्रकाश' (१८८८), पृ० ११

ईसाई साहित्य में साहित्यिक सौन्दर्य का अभाव भले ही हो, परन्तु सीधे और सरल गद्य का नितान्त अभाव नहीं है। वास्तव में मिशनरियों के परिश्रम का महत्त्व ललित भाषा और सुन्दर साहित्य प्रस्तुत करने में नहीं है। उसका महत्त्व प्रचार करने की कला प्रतिपादित करने और हिन्दी गद्य को एक नवीन तर्क-शैली प्रदान करने में है। इसके अतिरिक्त शिक्षा-कार्य के सम्बन्ध में विज्ञान, भूगोल, इतिहास, समाजशास्त्र, स्वास्थ्य-विज्ञान, आदि नवीन विषयों पर पुस्तकें रचनेवालों में मिशनरी अग्रगामी रहे। भाषा के इस महत्त्वपूर्ण अङ्ग की पूर्ति सबसे पहले उन्होंने की। एतदर्थ हिन्दी-भाषी उनके सदैव कृतज्ञ रहेंगे।

गद्य-ग्रन्थों के अतिरिक्त मिशनरियों और देशी ईसाइयों ने कुछ पद्यात्मक रचनाएँ भी कीं। प्रचार-कार्य की विशेषता और भाषा पर पूर्ण अधिकार प्राप्त न कर सकने के कारण पद्य में वे अधिक रचनाएँ न कर सके। विदेशियों के लिये अल्पकाल में काव्य-रचना की दक्षता प्राप्त कर लेना ज़रा कठिन भी था। जिन थोड़े-से पद्य-ग्रन्थों का पता चलता है है उनके नाम ये हैं—'मंगल समाचार का दूत' (१८६१), पादरी उलमन (Ullaman) द्वारा अँगरेज़ी से अनूदित 'वुद्द श्रेष्ठ मूल कथा' (१८७१), 'खीष्ट चरितामृत पुस्तक' (१८७१), 'गीत और भजन' (१८७५), चंगा कृत 'प्रेम दोहावली, (१८८०), 'मसीही गीत की किताब' (१८८१), 'दाऊदमाला' (१८८२), 'भजन संग्रह' (१८८६, च० सं०), जॉन पार्सन्स द्वारा संग्रहीत 'छन्द संग्रह' (१८८६, तृ० स०), 'सुबोध पत्रिका' (१८८७), जॉन पार्सन्स और जॉन क्रिश्चियन द्वारा संग्रहीत 'गीत संग्रह' (१८८८, छ० सं०), 'गीतों की पुस्तक' (१८८६), 'धर्मसार' (१८८६), 'गीत संग्रह' (१८६४), 'उपमा मनोरंजिका' (१८६६), 'स्तुति प्रकाश,' 'यिसु संकीर्तन' और 'यीसु गीत', आदि। दिल्ली के टॉम्सन साहब एक प्रसिद्ध भजन-लेखक थे। कहा जाता है कि उन्होंने 'खीष्ट चरितामृत' की रचना की। परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ। जॉन पार्सन्स और जॉन क्रिश्चियन द्वारा संग्रहीत 'गीत संग्रह' है। उससे और भी अनेक गीत और भजन-लेखकों का पता चलता है। उसमें ईसाई पूजा के अवसर पर गाये जाने वाले गीत हैं। जिन कवियों के गीत उसमें संग्रहीत हैं उनमें से प्रमुख जॉन पार्सन्स, जॉन क्रिश्चियन, जॉन चैम्बरलेन, जॉन उम्राइल, बर्नार्ड, नैनसुख, प्रेमचन्द, हिंगन, शुजाअत अली, सुदीन, टी० ईवन्स, और जी० बी० पार्सन्स हैं। जॉन चैम्बरलेन एक अँगरेज़ थे जो बंगाली, हिन्दी और उर्दू जानते थे। कहा जाता है कि उनके भजन बड़े चाव से गाये जाते थे। ग्रियर्सन महोदय

के कथनानुसार जॉन क्रिश्चियन या 'जान साहब' ही ईसाइयों में एक सफल लेखक हुए हैं। उन्होंने अपना नाम 'जॉन अधम' भी रक्खा था। मुंगेर में उनके भजन बड़े प्रेम से गाये जाते थे। 'गीत संग्रह' में उनके भजन मिलने के अतिरिक्त कहा जाता है कि 'मुक्ति मुक्तावली' और 'सत्य शतक' में भी उनके भजन आदि मिलते हैं। शुजाअत अली लखनऊ के अमीर आदमी थे। कलकत्ता जाकर वे ईसाई हो गये। हिन्दी और उर्दू में उनको निपुणता प्राप्त थी। वे बड़े मनोरञ्जक भजन और ग़ज़ल लिखते थे। कहा जाता है कि शुजाअत अली भजन गाते समय लोगों की आँखों में आँसू और मन में अपार हर्ष उत्पन्न कर देते थे। नैनसुख, सुदीन और जॉन पार्सन्स (आश्रित) के भजन भी लोगों को बहुत प्रिय थे। प्रेमचन्द १९१० के लगभग तक मुंगेर में रहते थे। इसके अतिरिक्त कुछ और पद्य-लेखकों का भी पता चलता हैं। उनमें से पण्डित नन्दकिशोर, इटावा के जॉन्सन साहब और फ़तेहगढ़ के हरप्रसाद प्रमुख हैं। कहा जाता है कि पण्डित नन्दकिशोर ने ब्रजभाषा में 'प्रभु ईशु की मंगल कथा' नामक ग्रन्थ लिखा था। जॉन्सन साहब और हरप्रसाद १९१० में जीवित थे।

इन उपलब्ध पद्य-ग्रन्थों में जो गीत, भजन, ग़ज़ल, पद, आदि सम्मिलित हैं उनकी भाषा शिथिल है और उसमें ब्रज, पूर्वी हिन्दी, खड़ीबोली और प्रचलित अरबी-फ़ारसी के शब्दों का सम्मिश्रण मिलता है। कवियों ने दोहा, चौपाई, रोला, आदि छन्दों और गीतों, ग़ज़लों, का ही अधिकतर प्रयोग किया है। हिन्दी के कवियों की भाँति उन्होंने भिन्न-भिन्न राग-रागनियों में पद भी लिखे हैं। ईसा का गुणगान और ईसाई मत का निरूपण करने के साथ हिन्दू धर्म पर छींटे फेंकना उनका मुख्य उद्देश्य था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये ये रचनाएँ काफ़ी थीं। कला-कौशल और काव्य-चातुर्य के नाते वे शून्य हैं। निम्नलिखित उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी :

'क्यों मन भूला है यह संसारा. मन मत दे टुक करले गुज़ारा ॥
इस जग में सुख नित नहिं भाई. यह तो है जैसे पानी की धारा ॥
मात पिता और खेरा कुटुंब सब संग नहिं कोई जावन हारा ॥
अंत समय सब देखन अइहैं. छण भर में सब ह्वै हैं नियारा ॥'[1]

'बहुत लोग ऐसे जग बीच।
हैं पापी खोटे पुन नीच ॥

[1] 'भजन संग्रह' (१८८९). भजन-संख्या १

झूंठी मुश्किन में हैं फंसे ।
मन भाये संशय में हैं धंसे ॥
कहते हैं परमेश्वर नाह ।
कोई नहिं करता जग मांह ॥
यह सृष्टि नहिं किनहु बनाई ।
इसही भांति सदा से आई ॥'[1]

'हे मेरे प्रभु, मो पापी को उद्धारियों ।
छोड़ो न कभु, न मोहे बिडारियो ॥१॥
हे प्रभु मैं पापी, यह निश्चय आप जानियो ।
हाय कैसो संतापी, मो दुख आप पहचानियो ॥२॥
हे कृपा निकेतु, मो पापी पै लखियो ।
और तारण के हेतु मोहे चरण पै रखियो ॥३॥
मैं अति अशुद्ध, अशुद्ध कूं शुद्ध करियो ।
मैं अति निर्बुद्धि, निर्बुद्धि कूं बुद्धि भरियो ॥४॥
मैं अधम अयोग्य, ता आप यह न मानियो ।
पै आप पापी लोग, नित अपनी ओर तानियो ॥५॥
जब होयगो मरण, तब प्रभु शान्त करियो ।
और जब लों है जीवन, मोहे प्रेम करके भरियो ॥६॥'[2]

'शिला मूर्ति केहि काम की, पार करैया यीसु ।
पत्थर नाव सवार हो, पार जाय को मीसु ॥
मूरत नहिं निज कर सकै, जोइ सहारा मोर ।
क्या करिहै केहि आंख तृण, अन्ध काढ़ि क्या घोर ॥'[3]

गीतों के अनुवादों में उन्होंने मूल-भाव के अत्यधिक निकट रहने और पंक्तियों के क्रम और एक पंक्ति में शब्दों की संख्या में भी उन्होंने कम से कम परिवर्तन करने की चेष्टा की ।

---

[1] 'धर्मसार' (१८८१)

[2] 'गीत संग्रह' (१८८८)

[3] 'प्रेम दोहावली' (१८८०), संख्या २१

५

उपन्यास

मानव जाति आदिम काल से कथा-साहित्य का आश्रय लेकर अपना मनोरञ्जन करती चली आ रही है। कथा-प्रेम की इस मनोवृत्ति ने विश्व-साहित्य की बहुत बड़ी पूर्ति की है। धन-धान्य से पूर्ण भारतवर्ष के ऋग्वेद, ब्राह्मणों, उपनिषदों, बौद्ध और जैन साहित्यों में हमें कथा-साहित्य का प्रारम्भिक रूप देखने को मिलता है। उनमें समाज-नीति, राजनीति, धर्मनीति, दर्शन, आदि जैसे गम्भीर विषय सरल और सुगम रीति से समझाये गये हैं। साथ ही मनोरञ्जन करने तथा जीवन की छोटी-छोटी बातों पर प्रकाश डालने वाली सामग्री भी प्रचुर मात्रा में मिलती है। कथा-प्रेम की इसी मानव-प्रवृत्ति की उद्‌भावना-शक्ति की प्रेरणा से संस्कृत में पञ्चतन्त्र, हितोपदेश, वैतालपञ्चविंशति, सिंहासनद्वात्रिंशिका, शुकसप्तति, सोमदेव कृत कथासरित्सागर, गुणाढ्य कृत बृहत्कथा और क्षेमेन्द्र कृत वृहत्कथामञ्जरी, आदि साहित्य की सृष्टि हुई।

हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक और मध्य युगों में काव्य का एकाधिपत्य होने के कारण गद्य में हमें कथा-साहित्य का साक्षात्कार नहीं होता। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में गद्य का प्रचार हो जाने से हिन्दी में भी उसका आगमन हुआ। कथा-साहित्य का प्रथम आभास हमें इंशा की 'रानी केतकी की कहानी' (१८००-३), लल्लूलाल कृत 'सिंहासन बत्तीसी' (१८०१), 'बैताल पच्चीसी' (१८०१), 'माधवानल कामकन्दला' (१८०१), 'शकुन्तला' (१८०१) और 'प्रेमसागर' (१८०३-६) और सदल मिश्र कृत 'नासिकेतोपाख्यान' (१८०३) में मिलता है। उनके बाद जटमल की 'गोरा बादल की कथा' (१८२३ के लगभग गद्य में अनूदित), राजा शिवप्रसाद कृत 'राजा भोज का सपना' (१८६६, द्वि० सं०), आदि जैसी रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। परन्तु बहुत दिनों तक संस्कृत से ली हुई ऐसी ही पौराणिक और धार्मिक कथाओं की प्रधानता रही। उनमें उपन्यास-कला का अभाव है। हिन्दी के इस क्षेत्र में साहित्यिक सौन्दर्य के साथ जीवन की व्यापक और जटिल समस्याओं एवं घटना-चक्रों की अभिव्यक्ति अभी न हो पाई थी। उसका

आगमन कुछ दिनों बाद हुआ। उपन्यास-कला को उस ओर खींचनेवाली परिस्थितियों और प्रबल शक्तियों का अभी जन्म नहीं हुआ था। दूसरे, उपन्यास-कला गद्य के विकास का इन्तज़ार कर रही थी। आलोच्य काल में इन सब अनुकूल परिस्थितियों के जन्म लेते ही हिन्दी-उपन्यास सम्पन्न हो चला।

दूसरे अध्याय में यह बताया जा चुका है कि उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में पाश्चात्य सभ्यता के संस्पर्श और विविध आन्दोलनों के उठ खड़े होने से भारतवर्ष में नवयुग का आविर्भाव हुआ। नवोत्थानकालीन व्यक्ति अपनी निजी कुतूहलताएँ, सुधार प्रवृत्ति, बौद्धिक उत्साह और आत्म-विश्लेषण का स्वभाव लेकर अवतरित हुआ। उसने नए-नए विषय और उपादान सोचे। इस काल में ही हिन्दी साहित्यिकों को नवयुग की हवा लगी और साहित्य गतिशील हुआ। गद्य-साहित्य की आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। हिन्दी के नाटक और उपन्यास इसी नवोत्थान-काल की देन हैं। यद्यपि नाटक का जन्म उपन्यास से पहले हुआ, तो भी दोनों की विचार-धाराओं का प्रवाह लगभग समानान्तर है। तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक जीवन की सम और विषम परिस्थितियों द्वारा ही उनके स्वरूप का निर्माण हुआ।

ऐसे समय में जब कि हिन्दी जनता संस्कृत से अनूदित पौराणिक तथा धार्मिक कथाएँ और 'शुक बहत्तरी', 'सारङ्गा सदावृक्ष', 'क़िस्सा तोतामैना', 'क़िस्सा साढ़े तीन यार' और फ़ारसी और उर्दू से ली हुई 'चहार दर्वेश', 'बाग़ो बहार', 'क़िस्सा हातिमताई', 'दास्तान-इ-अमीर हमज़ा', 'तिलिस्म-इ-होशरुबा', आदि कथा-कहानियों से अपना मन बहला रही थी, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ऐतिहासिक, पौराणिक और सामाजिक उपन्यासों की रचना और प्रकाशन की ओर ध्यान दिया। राधाकृष्णदास ने भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के जीवन-चरित्र में उनकी आख्यायिका और उपन्यास-रचनाओं में 'रामलीला' (गद्य-पद्य), 'हमीरहठ' (असम्पूर्ण अप्रकाशित), 'राजसिंह' (अपूर्ण), 'एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती' (अपूर्ण), 'सुलोचना', 'मदालसोपाख्यान', 'शीलवती' और 'सावित्री-चरित्र' का उल्लेख किया है। 'सुलोचना' और 'सावित्री-चरित्र' के सम्बन्ध में राधा-कृष्णदास को सन्देह है। 'पूर्णप्रकाश चन्द्रप्रभा' (गद्य उपन्यास) का उन्होंने सम्पादित, संगृहीत वा उत्साह देकर बनवाए ग्रन्थों में उल्लेख किया है। खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर द्वारा प्रकाशित 'पूर्णप्रकाश-चन्द्रप्रभा'

के १८८६ के संस्करण में वह 'भारतभूषण भारतेन्दु श्री हरिश्चन्द्र लिखित' कहा गया है। बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय सी० आई० ई० कृत 'राजसिंह' का भारतेन्दु ने अनुवाद किया। खड्गविलास प्रेस ने यह ग्रन्थ १८९४ में प्रकाशित किया। राधाकृष्णदास ने लिखा है : "उपन्यासों की ओर पहले इनका ध्यान कम था। इनके अनुरोध और उत्साह से पहले पहल 'कादम्बरी' और 'दुर्गेशनन्दिनी' का अनुवाद हुआ। स्वयं एक उपन्यास लिखना आरम्भ किया था जिसका कुछ अंश 'कविवचनसुधा' में छपा भी था। नाम उसका था 'एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती'। इसमें वह अपना चरित्र लिखना चाहते थे। अन्तिम समय में इस ओर ध्यान हुआ था। 'राधारानी', 'स्वर्णलता' आदि का उन्हीं के अनुरोध से अनुवाद हुआ। 'चन्द्रप्रभा और पूर्णप्रकाश' को अनुवाद कराके स्वयं शुद्ध किया था। 'राणा राजसिंह' को भी ऐसा ही करना चाहते थे। अनुवाद पूरा हो गया था, प्रथम परिच्छेद स्वयं नवीन लिखा, आगे कुछ शुद्ध किया था। नवीन उपन्यास 'हमीर हठ' बड़े धूम से आरम्भ किया था, परन्तु प्रथम परिच्छेद ही लिखकर चल बसे। इनके पीछे इसके पूर्ण करने का भार स्वर्गीय लाला श्रीनिवासदास जी ने लिया और उनके परलोकगत होने पर पंडित प्रतापनारायण मिश्र ने; परंतु संयोग की बात है कि ये भी कैलासवासी हुए और कुछ भी न लिख सके। यदि भारतेन्दु जी कुछ दिनों और भी जीवित रहते तो उपन्यासों से भाषा के भण्डार को भर देते; क्योंकि अब उनकी रुचि इस ओर फिरी थी।" बाबू ब्रजरत्नदास का कहना है : "यद्यपि भारतेन्दु जी ने एक भी पूरा उपन्यास नहीं लिखा है पर एक पत्र से ज्ञात होता है कि इन्हीं के उत्साह दिलाने से उस समय स्वर्गीय श्री गोस्वामी राधाचरण जी ने 'दीप निर्वाण' तथा 'सरोजिनी' का उल्था किया और बाबू गदाधर सिंह ने 'कादम्बरी' का संक्षिप्त तथा 'दुर्गेशनन्दिनी' का पूरा अनुवाद किया था। पं० रामशंकर व्यास द्वारा 'मधुमती' और बाबू राधाकृष्णदास द्वारा 'स्वर्णलता' अनुवादित हुई थीं। 'चन्द्रप्रभा पूर्णप्रकाश', 'राधारानी', 'सौन्दर्यमयी', आदि भी इसी प्रकार अनुवादित हुए थे।" प्रस्तुत लेखक ने भारतेन्दु के 'रामलीला', 'राजसिंह', 'पूर्णप्रकाश चन्द्रप्रभा' और 'मदालसोपाख्यान' ग्रन्थ देखे हैं। 'रामलीला' उपन्यास कहलाने योग्य ग्रन्थ नहीं है। दशहरे के अवसर पर अभिनीत होने वाली लीला के अनुकरण पर वह अयोध्या कांड तक की राम-कथा का गद्य-पद्य-मिश्रित सीधा-सादा वर्णन है। 'कुछ आप बीती कुछ जग बीती' के अपूर्णांश से प्रकट होता है कि वह कहानी न होकर सरल शैली में लिखा गया संस्मरण

है। 'राजसिंह' में सिसौदिया कुल के महाराणा राजसिंह का औरङ्गजेब के विरुद्ध युद्ध, उनकी वीरता तथा उदारता और क्षत्राणियों की धर्म-रक्षा का वर्णन है। राजसिंह राजपूताने के अंतिम वीर माने गए हैं। 'मदालसोपाख्यान' प्रसिद्ध पौराणिक कथा मात्र है। 'पूर्णप्रकाश चन्द्रप्रभा' (रचना-तिथि, ?) मराठी से अनूदित और सामाजिक उपन्यास है। पूर्णप्रकाश नायक और चन्द्र-प्रभा नायिका है। बूढ़े ढुण्ढिराज का नवयुवती चन्द्रप्रभा की भाँति वृद्ध-विवाह होने की प्रथा का लेखक ने विरोध किया है और लड़के-लड़कियों की शिक्षा पर ज़ोर दिया है। कथानक सीधा है। अन्धे मन्दिरानन्द का अपनी पत्नी और नायक की बहन मधूरिमा पर, जो अपने भाई से बात कर रही है, परपुरुष से बातचीत करने का सन्देह करने वाला प्रसङ्ग मनोरञ्जक होने के साथ-साथ बड़ा ही अच्छा और हृदय को स्पर्श कर लेने वाला है। विवाह के समय बूढ़े दूल्हे का मज़ाक बना कर लेखक ने व्यंग्य के अमोघ अस्त्र का सहारा लिया है। कथानक में दक़ियानूसी और प्रगतिशील विचारों का सङ्घर्ष है। अन्त में विजय प्रगतिशीलता की होती है। १८९९ में 'मनोरंजन' के सम्पादक बाबू काशीनाथ रघुनाथ मित्र के अनुरोध से स्वरूपचन्द्र जैन ने भी उसका 'रमा और माधव' के नाम से अनुवाद किया। कथानक लगभग समान है, केवल पात्रों के नामों में अन्तर है। चन्द्रप्रभा, पूर्णप्रकाश, आनन्द विग्रह, गुण मञ्जरी, गोकुलोत्सव, ढुण्ढिराज, मधूरिमा और मन्दिरानन्द के स्थान पर उसमें रमा, माधव, यज्ञेश्वर भट्ट, पार्वती बाई, विष्णुदत्त, अन्ना साहब, काशीबाई और विनायक राव नाम हैं। 'पूर्णप्रकाश चन्द्रप्रभा' ने हिन्दी के तत्कालीन सुधारवादी लेखकों का ध्यान काफ़ी आकृष्ट किया।

अन्य क्षेत्रों की भाँति इस क्षेत्र में भी भारतेन्दु के नेतृत्व में युगधर्म की दीक्षा पाकर हमारे साहित्यिकों ने उपन्यास-कला में सम्पन्नता लाने की चेष्टा की। इस सम्बन्ध में किशोरीलाल गोस्वामी का नाम गर्व के साथ लिया जा सकता है। उन्होंने 'त्रिवेणी' (१८८८), 'स्वर्गीय कुसुम' (१८८९), 'हृदयहारिणी' (१८९०), 'लवङ्गलता' (१८९०), आदि उपन्यास लिखकर हिन्दी साहित्य के इस अङ्ग की पुष्टि करना और राष्ट्र-प्रेम का प्रचार और प्रचलित सामाजिक कुरीतियों का मूलोच्छेदन करना आरम्भ कर दिया। तदनन्तर देवीप्रसाद शर्मा और राधाचरण गोस्वामी : 'विधवा विपत्ति' (१८८८), हनुमन्त सिंह (ज० १८६७) : 'चन्द्रकला' (१८९३), कार्तिकप्रसाद खत्री : ऐतिहासिक 'जया' (१८९६), गोपालराम गहमरी (१८५०, ज०) : 'नये बाबू' (१८९४) तथा अन्य उपन्यास, काशीवासी

गोकुलनाथ शर्मा : 'पुष्पवती' (१८६४), और राधाचरण गोस्वामी ने 'कल्पलत', आदि उपन्यास लिखे। १८६० में राधाकृष्णदास ने 'निस्सहाय हिन्दू' नामक उपन्यास लिखा जिसमें मुसलमानों की धर्मान्धता और हिन्दुओं की शोचनीय अवस्था दिखाई गई है। भारत की हीनावस्था का दायित्व ब्राह्मणों और मुसलमानों पर रख कर उन्होंने गो-वध के विरुद्ध आवाज़ उठाई है। भारतेन्दु कृत 'भारत दुर्दशा' और 'भारत जननी' के आधार पर उन्होंने ब्रिटिश राज्य का गुणगान किया है और उसके दोष भी बताए हैं।

उपन्यास-लेखकों में किशोरीलाल गोस्वामी का वही स्थान है जो नाटककारों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का। भारतेन्दु के 'नाटक' की भाँति उनका इरादा भी 'उपन्यास' नामक ग्रन्थ लिखने का था। परन्तु शायद वे अपना इरादा पूरा न कर सके। वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायी होने के कारण 'त्रिवेणी' में उन्होंने आर्य समाज के विरुद्ध सनातन धर्म की महिमा का वर्णन किया है। साथ ही हिन्दुओं को ईसाई धर्म और इस्लाम के जाल से अपने को बचाए रखने तथा निज भाषा और साहित्य की सेवा करने का आदेश दिया है। वास्तव में पक्के सनातनधर्मी होते हुए भी वे आर्य समाज के प्रभाव से नहीं बच सके। परन्तु सामाजिक अत्याचारों और कुरीतियों के विरुद्ध खुल्लमखुल्ला आवाज़ उठाने का साहस उनमें नहीं था। 'त्रिवेणी' का कथानक सूक्ष्म है। उपन्यास में प्रकट किए गए विचार मनोहरदास नायक के स्वगत भाषण के रूप में हैं। मनोहरदास वैश्य का विवाह सोलह वर्ष की अवस्था में प्रेमदास की तेरह वर्षीया पुत्री त्रिवेणी से हुआ था। पिता की मृत्यु के बाद अठारह वर्ष की अवस्था में मनोहरदास अपनी ज़मींदारी हरजीवन दास मुनीम को सौंप कर तीर्थयात्रा के लिये निकल पड़ा। ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन के प्रारम्भिक काल की कहानी है, इसलिए रेल का प्रचार न होने के कारण नायक पैदल और फिर नाव में यात्रा करता है। वह काशी जाना चाहता था, किन्तु बक्सर पर नाव टूट गई और सब यात्री बह गए। मनोहरदास तो ग़ाज़ीपुर पहुँच गया, किन्तु उसकी पत्नी का पता न लगा। वह सब कुछ त्याग कर कुम्भ के अवसर पर इलाहाबाद आया और वहाँ संगम के किनारे बैठ कर अपना स्वगत भाषण करता है। इतने में ही उसने एक स्त्री और साधु को गंगा में नहाते देखा। वह तुरन्त अपनी पत्नी और ससुर को पहिचान गया। सब मिलकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। रचना में मनोहरदास का स्वगत भाषण ही मुख्य है। उसमें न तो मानव-जीवन की

विविधता है और न चरित्र-चित्रण। कथानक सरल और गौण है। स्वगत भाषण पढ़ते समय तो मालूम ही नहीं होता कि हम उपन्यास पढ़ रहे हैं। उपन्यास सुखान्त है। 'स्वर्गीय कुसुम' का कथानक अधिक घटना-प्रधान है। उसमें आरा (बिहार) के राजा कर्णसिंह की पुत्री कुसुम कुमारी की व्यथापूर्ण कथा है। लेखक ने बताया है कि किस प्रकार कुसुम कुमारी तीन वर्ष की अवस्था में देवदासी बनी, पंडे द्वारा वेश्या को बेची गई, हरिहर क्षेत्र के कार्तिकी पूर्णिमा के मेले में नाव टूट जाने से बह गई और बसंत कुमार द्वारा बचाई गई, फिर अपने गाँव आरा लौट कर आई और छिप कर रहने लगी, बसंत कुमार का विवाह उसकी छोटी बहन गुलाब से होता है और वह स्वयं देवदासी-प्रथा का मूलोच्छेदन करने की प्रतिज्ञा करती है, किन्तु एक दिन गुलाब के तीक्ष्ण व्यंग सुनकर आत्म-हत्या कर लेती है। और भी अनेक छोटी-छोटी घटनाएँ हैं। लेखक दुःखान्त और सुखान्त दोनों के प्रेमियों की रुचि के अनुकूल उपन्यास का अन्त करता है। कुसुम की मृत्यु के कारण उपन्यास दुःखान्त है। किन्तु उसे सुखान्त बनाने के लिए लेखक फिर कथानक को आगे बढ़ाता है, कुसुम के प्राण बच जाते हैं। गुलाब उसे बहिन के रूप में पहिचानती है और सब प्रसन्न होते हैं। स्वयं लेखक को सुखान्त कथानक पसन्द है। 'स्वर्गीय कुसुम' में देवदासी-प्रथा का विरोध उन्होंने बड़ी दबी ज़बान से किया है। सम्भव है वैष्णव होने के कारण वे अधिक आगे न बढ़ सके हों। सामाजिक कुरीतियों और अत्याचारों के विरुद्ध खुल्लमखुल्ला विद्रोह करने का साहस उनमें नहीं है। वेश्या के हाथ बेची जाने के बाद निरपराध कुसुम समाज में अपना असली व्यक्तित्व प्रकट नहीं कर सकती। स्वयं कुसुम नहीं चाहती कि उसके पिता उसे प्रकट रूप से ग्रहण करें, क्योंकि न तो समाज उन्हें ऐसा करने की आज्ञा देता था और न कुसुम समाज में विप्लव उपस्थित करना चाहती थी। बसन्त के साथ चुपचाप विवाह उसने अपना धर्म बचाने के लिए किया, किन्तु प्रकट रूप से गुलाब से विवाह कराया ताकि उसके कारण बसन्त समाज में पतित न माना जाय और सन्तान के बिना उसके पुरखों के पिण्ड-पानी का लोप न हो जाय। सब बातें कुसुम की कर्मगति और भाग्य पर छोड़ दी जाती हैं। बसन्त में भी साहस नहीं कि वह समाज के प्रति विद्रोह करे। वास्तव में लेखक ने सामाजिक विडम्बना का यथातथ्य उल्लेख कर दिया है। वह दुर्गापाठ, महामृत्युञ्जय पाठ, इत्यादि में भी विश्वास करता है। कथानक प्रेम-प्रधान है। उसमें षडयन्त्र और ऐयारी का तीव्र चक्र है। त्याग, वेदना, संयम, बुद्धि

की कुशाग्रता, आदि कुसुम के चरित्र के प्रधान अंग हैं। लेखक का उद्देश्य आदर्शपूर्ण है। 'हृदयहारिणी' या आदर्श रमणी में किशोरीलाल गोस्वामी ने रङ्गपुर के महाराज महेन्द्रसिंह के पुत्र नरेन्द्रसिंह (वीरेन्द्र) और कृष्णनगर के महाराज धनेश्वर सिंह और कमलादेवी की पुत्री कुसुम कुमारी की कथा का वर्णन किया है। नरेन्द्रसिंह कुसुम कुमारी का सौन्दर्य देख कर उसे हृदयहारिणी के नाम से पुकारता था। वह स्वयं बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला के दर्बार में अँगरेज़ों का गुप्तचर था। यह उपन्यास 'हिन्दोस्थान' में प्रकाशित हुआ था और 'लवङ्गलता' का पूर्व भाग है। लेखक ने मुसलमानों और अँगरेज़ों के अन्तर्गत भारत की परतन्त्रता पर क्षोभ प्रकट किया है, किन्तु साथ ही अँगरेज़ों द्वारा देश को मुसलमानों के चंगुल से छुड़ाए जाने पर सन्तोष प्रकट किया है। 'लवङ्गलता' में लवङ्गलता अपने को सिराजुद्दौला के चंगुलों से बचाने में सफल होती है। कथानक में तिलिस्म और ऐयारी का भी काफ़ी अंश है। कुसुम कुमारी और लवङ्गलता के रूप में उन्होंने हिन्दू समाज के सामने दो ऐसी वीराङ्गनाओं के उदाहरण रक्खे, जिन्होंने प्राणों की बाज़ी लगाकर अपने पातिव्रत और धर्म तथा जाति पर किए गए मुसलमानी अत्याचारों का विरोध किया। इसी प्रकार उनकी दूसरी रचनाओं में भी हिन्दू स्त्रियों के आगे आदर्श उदाहरण रक्खे गए हैं। हिन्दी में स्कॉट की शैली पर उपन्यास लिखने वालों में किशोरीलाल गोस्वामी का पहला स्थान है।

हनुमन्त सिंह के उपन्यास में भी सामाजिक चित्रण किए गए हैं। गोपाल राम गहमरी ने अपने उपन्यासों में भारतीय गार्हस्थ्य जीवन और पाश्चात्य सभ्यता के घातक प्रभावों की ओर पाठकों का ध्यान दिलाया है। 'कामिनी' नामक उपन्यास में बालमुकुन्द वर्मा ने भारतीय महिलाओं की वीरता के चित्र अङ्कित किए हैं। अधिकतर ये उपन्यास ऐतिहासिक हैं या किसी ऐतिहासिक घटना के आधार पर आधारित हैं। हिन्दी के इन ऐतिहासिक उपन्यासों में शौर्य, प्रेम, चरित्र की उच्चता और कार्य्य-व्यापार का दिग्दर्शन कराया गया है। ये उपन्यासकार जातीय गौरव का यशगान करते हैं। उन्हें उच्चकुलोद्भव पात्रों की सच्चरित्रता और हिन्दू-ललनाओं के सतीत्व पर गर्व है। लेकिन साथ ही सामाजिक कुसंस्कारों की तरफ़ से वे आँख बन्द कर लेना नहीं चाहते। अपने और दूसरों के गुण-दोषों पर उन्होंने समान रूप से दृष्टि डाली है। उनके पात्र मुग़लकालीन अन्तिम दिनों के हैं। कल्पना के सम्मिश्रण के साथ-साथ ऐतिहासिक तथ्य पर भी उन्होंने ध्यान रक्खा है।

इसके अतिरिक्त विषय की दृष्टि से उपन्यास-कला की उन्नति में योग देने वाले लेखकों में बालकृष्ण भट्ट : 'नूतन ब्रह्मचारी' (१८८६) और 'सौ अजान और एक सुजान' (१८९२), रत्नचन्द्र प्लीडर : 'नूतनचरित्र' (१८८३), किशोरीलाल गोस्वामी : 'सुख शर्वरी' (१८९१), श्रीनिवासदास : 'परीक्षा गुरु' (१८८२ द्वि० सं०), मेहता लज्जाराम शर्मा : 'स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी' (१८९९) और 'धूर्त रसिकलाल' (१८९९), गोपालराम गहमरी : 'बड़ा भाई' (१८९८) और 'सास पतोहू' (१८९८), कार्तिकप्रसाद खत्री : 'दीनानाथ', आदि ने शिक्षाप्रद और नैतिक उपन्यास लिखे। 'नूतन ब्रह्मचारी' में बालकृष्ण भट्ट ने विट्ठलराव और राधाबाई के पुत्र विनायक के, जो नायक है, चरित्रवान् और सद्वृत्त होने का परिणाम दिखाया है। वह हिंसा, द्वेष, आदि से रहित सुचरित्र के बल पर डाकुओं के सरदार जैसे दुष्ट को भी चरित्रवान् बना देता है। यद्यपि लेखक की पुस्तक शिक्षा-विभाग में स्वीकृत नहीं हुई थी, तो भी उसने यह आशा प्रकट की कि साधारण अक्षर-ज्ञान रखने वाला नूतन ब्रह्मचारी (विद्यार्थी) भी चरित्र में विनायक का सहकारी हो। 'सौ अजान और एक सुजान' में भी भट्ट जी ने शिक्षापूर्ण कथा रक्खी है। सेठ हीराचन्द पण्डित शिरोमणि और उनके शिष्य चन्द्रशेखर (चन्दू) के सत्सङ्ग में समय व्यतीत करता था। उसकी मृत्यु के बाद उसके पुत्र रिधिनाथ और सिधिनाथ बसन्ता, नन्दू, रघुनाथ और बुद्धदास के कुचक्र में पड़ कर मद्यपान और वेश्यावृत्ति करने लगे। पुलिस बारबार उन दोनों को पकड़ लेती थी, किन्तु चन्दू सदैव उनकी रक्षा करता रहा। अन्त में चन्दू के चरित्र से प्रभावित होकर वे दुष्ट-सङ्ग छोड़ सत् कर्म में प्रवृत्त होते हैं और अपने वंश के अनुरूप यश-वृद्धि करते हैं। ये दोनों ग्रन्थ नैतिक उपन्यासों के उत्तम उदाहरण हैं। उनमें प्रबन्ध-कल्पना का टकसालीपन या उपन्यास-कला की विशेषताएँ तो नहीं मिलतीं, किन्तु वे सुन्दर शिक्षाओं से भरे हुए हैं। उनमें उपमा आदि अलंकारों से लदी हुई भाषा का लालित्य है और प्राकृतिक वर्णन भरे पड़े हैं। पात्रों का चरित्र-चित्रण अच्छा हुआ है। कहा जाता है कि उनके पात्र वैसे ही हैं जैसे उन्होंने वास्तविक जीवन में पाए थे। 'सौ अजान और एक सुजान' के चन्दू और पञ्चानन के चरित्र में भट्ट जी के चरित्र की झलक दिखाई देती है। 'परीक्षा गुरु' में लाला श्रीनिवास दास पग-पग पर शिक्षा और नीति की बातें बताते चलते हैं। दिल्ली का सेठ मदनमोहन विदेशी वस्तुओं का प्रयोग करता था और चुन्नीलाल,

शम्भूदयाल, बैजनाथ, आदि के साथ वेश्यावृत्ति तथा अन्य प्रकार के भोग-विलास में जीवन व्यतीत करता था। उसके मित्र ब्रजकिशोर वकील ने उसे लाख समझाया, किन्तु एक न मानी। अन्त में वकील साहब यह कहकर कि परीक्षा ही गुरु है अर्थात् तुम अनुभव से सीखोगे अलग हट गए। जब सेठ पर विपत्ति आई तो वकील साहब ने ही उसकी रक्षा की। सेठ की पत्नी 'आदर्श' हिन्दू रमणी है। कष्ट सहने पर भी वह अपने पति की मर्ज़ी के खिलाफ़ कुछ नहीं कहती-सुनती। उपन्यास से लेखक के गहरे सांसारिक अनुभव का परिचय प्राप्त होता है। अन्य उपन्यासों की भाँति 'परीक्षा गुरु' में भी उपन्यास-कला की विशेषताओं का अभाव है। कथानक में जटिलता नहीं है। भाषा और कथोपकथन रोचक हैं। सेठ मदनमोहन भारतीय समाज के पतन का प्रतीक है। ब्रजकिशोर अँगरेज़ी-शिक्षित किन्तु देश-प्रेमी व्यक्ति का उदाहरण है। बात करते समय वह अँगरेज़ी साहित्य और इतिहास के उदाहरण देता चलता है। अन्य सभी प्रकार के उपन्यासों की भाँति 'परीक्षा गुरु' भी तत्कालीन भारतीय समाज पर अच्छा प्रकाश डालता है। उन सब में नवोत्थानकालीन भावना व्याप्त है। किशोरीलाल गोस्वामी ने अनाथिनी और रमाशंकर जमींदार के माध्यम द्वारा क्रमशः पुण्य और पाप के संघर्ष और अन्त में पुण्य की विजय का चित्रण किया है। अनाथिनी सच्चरित्रा, साहसिन, स्वावलम्बिनी और आत्म-बलिदान तक कर देने वाली स्त्री है। धूर्त रसिकलाल सेठ सोहनलाल को जूए, वेश्यावृत्ति, मद्यपान, आदि का शौक लगाकर उस पर हावी हो जाता है और उसके स्वामि-भक्त मुनीम को निकलवा देता है। वह सेठ की सम्पत्ति हड़प लेता है, किन्तु अन्त में वह अपने किए की सज़ा पाता है। सेठ की आँखें खुल जाती हैं। लज्जाराम शर्मा ने अपने अन्य उपन्यासों में भी ऐसे ही शिक्षाप्रद कथानक रक्खे हैं। इसी प्रकार गोपालराम गहमरी ने 'बड़ा भाई' तथा अन्य अनेक उपन्यासों में, कार्तिकप्रसाद खत्री ने 'दीनानाथ' में, तथा अन्य अनेक लेखकों ने सामाजिक, गार्हस्थ्य, आदि जीवन-क्षेत्रों से सम्बन्धित शिक्षा और नीति से पूर्ण उपन्यासों की रचना की। साथ ही उनसे सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक विषयों पर भी प्रकाश पड़ता है। सामाजिक और धार्मिक सुधार, गुण-दोषों का ठीक-ठीक विवेचन, कठोर नैतिक अनुशासन और जीवन को उन्नति के मार्ग पर ले चलना, ये ही इन उपन्यासों के विषय हैं। उसके लिए उन्होंने मध्यम वर्ग के पात्र रक्खे हैं। उनके जीवन की किसी विशेष परिस्थितिजन्य पाप और पुण्य का सङ्घर्ष, भाई-भाई, भाई-बहन, पति-पत्नी,

माता-पिता, आदि के पारस्परिक सम्बन्ध, पाप का दुःखद और पुण्य का सुखद परिणाम, आदि नीतिज्ञान-सम्बन्धी विषयों का अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि से विश्लेषण किया गया है। इस कार्य में उन्होंने संस्कृत के नैतिक और धार्मिक कथा-साहित्य का सहारा लिया है और उनके अवतरण उद्धृत करते चले गए हैं। गार्हस्थ्य जीवन की भी अत्यन्त मार्मिक कहानियाँ हैं। परन्तु इन उपन्यासों में एक बात ज़रा खटकती है। लेखक अपने मनोनीत विषय में इतना रम गए हैं कि कला का उन्हें बिल्कुल ध्यान ही नहीं रहा। यही वजह है कि उनमें शिक्षा और नैतिकता के सामने उपन्यास-कला को गौण स्थान प्राप्त है। भावों, विचारों और कार्य-व्यापार में शुद्ध भारतीय दृष्टिकोण बरता गया है।

उपन्यास साहित्य की इस प्रकार की रचनाओं से पूर्व हिन्दी जनता में 'सिंहासन बत्तीसी', 'बैताल पच्चीसी', 'तिलिस्म-इ-होशरुबा', 'दास्तान-इ-अमीर हमज़ा', 'क़िस्सा तोतामैना', आदि तान्त्रिक, जादूभरी और वासनामयी कथा-कहानियों का अधिक प्रचार था। संस्कृत और फ़ारसी से हिन्दी और उर्दू में इन कहानियों को रूपान्तरित करने का कार्य फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में गिल-क्राइस्ट के तत्त्वावधान में शुरू हो गया था। इस साहित्य का हिन्दी उपन्यासों पर प्रभाव पड़े बिना न रह सका। यहाँ तक कि किशोरीलाल गोस्वामी जैसे प्रसिद्ध उपन्यास-लेखक भी इस प्रभाव से वञ्चित नहीं रहे। 'स्वर्गीय कुसुम' में उन्होंने तिलिस्मी घर और 'लवङ्गलता' में नवाब सिराजुद्दौला के गोल तिलिस्मी कमरे, नज़ीर खाँ का बूढ़ी स्त्री के रूप में लवंगलता के पास जाने, हीरा झील के गुप्त मार्ग, महेन्द्रकुमार का स्त्री-वेष में आने, नवाब की बहिन नगीना बेगम के पति सैयद अहमद के रहस्यमय छुटकारे, और लखलखा, आदि का वर्णन किया है। नक़ाबपोश सवार भी घोड़ों पर दौड़ते हुए नज़र आ जाते हैं। 'प्रणयिनी परिणय' (१८९०) के राजा का वर्णन पढ़ कर राजा भोज की याद आ जाती है। उसने प्रणयिनी के प्रेमी कुमार शास्त्री (कुमार शास्त्री का पुत्र) को प्रासाद पर कमन्द लगा कर चढ़ते हुए पकड़ा। यह एक अपूर्व अभिनव कल्पना है! अन्त में मार शास्त्री का प्रणयिनी के साथ विवाह सम्पन्न हुआ। 'कटे मूंड़ की दो दो बातें' में ज़मुर्रद पहाड़ी और तिलिस्मी सीसमहल, ऐयारी, प्रेम और शौर्य का अद्भुत मिश्रण है। १८९० में काशीनाथ शर्मा ने शक्तिदेव ब्राह्मण द्वारा पूर्व जन्म की विद्याधरियों, वर्द्धमान की राजकुमारी कनकरेखा तथा उसकी अन्य तीन बहिनों से विवाह कर कनकपुर के राजा होने की कथा 'चतुर सखी' में और

विजयानन्द त्रिपाठी ने एक अज्ञात कुलशील व्यक्ति के राजा बन जाने की कथा का वर्णन 'सच्चा सपना' नामक अनूदित उपन्यास में किया। उनमें तान्त्रिक और दैवी बातों का उल्लेख है। इसी प्रकार जैनेन्द्रकिशोर कृत 'कमलिनी' (१८९१) में मदन मोहन और कमला की प्रेम-कहानी और देवी सहाय शुक्ल द्वारा संग्रहीत 'दृष्टान्त प्रदीपिनी', ४ भाग (१८८९-१८९९ में जादूभरी बातें भरी हुई हैं, जैसे, 'बाबा अब्दुला चपेट ग्राही का वर्णन', 'पति के सन्मुख गिने चावल और परोक्ष में मुर्दा खाने वाली स्त्री का वर्णन', 'कलङ्क घोड़े का वर्णन', आदि।

इस प्रवृत्ति का यहीं अन्त नहीं हुआ। उसका चरमोत्कर्ष हमें देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों में मिलता है। १८९१ में और उसके बाद उन्होंने 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' प्रकाशित किए। इनके अतिरिक्त 'नरेन्द्र मोहिनी'[१] (१८९९), 'कुसुम कुमारी', ४ भाग (१८९९-१९००) और 'वीरेन्द्र वीर' (१८९८ द्वि० सं०) नामक उपन्यास भी उन्होंने प्रकाशित किए। 'चन्द्रकान्ता' में नौगढ़ और विजयगढ़ दो पहाड़ी रजवाड़ों का वर्णन किया गया है। इन दोनों रजवाड़ों में पहले आपस में मेल था, किन्तु विजयगढ़ के वज़ीर के लड़के क्रूरसिंह के कारण अनबन हो गई। वह विजयगढ़ की राजकुमारी चन्द्रकान्ता (जयसिंह की पुत्री) से विवाह करना चाहता था। किन्तु नौगढ़ के कुमार वीरेन्द्रसिंह (सुरेन्द्रसिंह का पुत्र) ने चन्द्रकान्ता से प्रेम कर अनेक कष्ट उठाए। क्रूरसिंह जयसिंह से बिगड़ कर चुनारगढ़ गया और वहाँ के राजा शिवदत्तसिंह को उभाड़ लाया। दोनों ओर से संघर्ष होता है और ऐयारी अच्छी तरह से दिखाई जाती है। जीतसिंह, तेजसिंह, बद्रीनाथ, पन्नालाल, आदि ऐयार अपने-अपने हथकण्डे दिखाते हैं। अन्त में वीरेन्द्रसिंह और चन्द्रकान्ता का विवाह हो जाता है। चन्द्रकान्ता ने वीरेन्द्रसिंह की तिलिस्मी किताब के विषय में बहुत सहायता की। 'सन्तति' में चन्द्रकान्ता का सन्तति द्वारा ऐयारी और तिलस्म के करिश्मे दिखाए गए हैं। 'चन्द्रकान्ता' की भाँति उसमें भी कथानक प्रेम से शुरू होकर आगे बढ़ता है। बीच-बीच में पहाड़ों, नदियों, दर्रों, भयानक जंगलों और खूबसूरत तथा दिलचस्प घाटियों के भी अच्छे वर्णन आए हैं। 'चन्द्रकान्ता' और 'सन्तति' के सम्बन्ध

---

[१] सेलेक्शन्स फ्रॉम दि रेकॉर्ड्स ऑव दि गवर्नमेंट ऑव इंडिया, होम डिपार्टमेंट, नं० CCCLXX, १८९८ (कलकत्ता, १८९९) में 'नरेन्द्र मोहिनी' उपन्यास को बँगला से अनूदित कहा है।

में उपन्यासकार का कहना है : 'मेरे कई मित्र आक्षेप करते हैं कि मुझे देश-हित-पूर्ण और धर्मभावमय कोई ग्रंथ लिखना उचित था,' जिससे मेरे प्रचरणशील पुस्तकों के कारण समाज का बहुत कुछ उपकार व सुधार हो जाता। बात बहुत ठीक है परन्तु एक अप्रसिद्ध ग्रन्थकार की पुस्तक को कौन पढ़ता ? यदि मैं चन्द्रकान्ता और सन्तति को न लिखकर अपने मित्रों में भो दो-चार बातें हिन्दी के विषय में कहना चाहता तो कदाचित वे सुनना पसन्द नहीं करते। गम्भीर विषय के लिये जैसे एक विशेष भाषा का प्रयोजन होता है वैसे ही विशेष पुरुष का भी। भारतवर्ष में विशेषता की अधिकता न देखकर मैंने साधारण बातें लिखना ही आवश्यक समझी। संसार में ऐसे भी लोग हुए होंगे जिन्होंने सरल और भावमयी एक ही पुस्तक लिखकर लोगों का चित्त अपनी ओर खैंच लिया हो पर वैसा कठिन काम मेरे ऐसों के करने योग्य न था तथापि पात्रों की चाल-चलन दिखलाने में जहाँ तक हो सका ध्यान रक्खा गया है। सब पात्र यथासमय संध्या, तर्पण करते हैं और अवसर पड़ने पर पूजा प्रचार भी वीरेन्द्रसिंह आदि में जगह-जगह दिखलाई देता है।' 'कुछ दिनों की बात है कि मेरे कई मित्रों ने सम्वाद पत्रों में इस विषय का आन्दोलन उठाया था कि इसका कथानक सम्भव है कि असम्भव। मैं नहीं समझता कि यह बात क्यों उठाई और बढ़ाई गई। जिस प्रकार पञ्चतन्त्र, हितोपदेश बालकों की शिक्षा के लिये लिखे गये उसी प्रकार यह लोगों के मनोविनोद के लिये, पर यह सम्भव है कि असम्भव, इस पर कोई यह समझेगा कि चन्द्रकान्ता और वीरेन्द्रसिंह इत्यादि पात्र और उनके विचित्र स्थानादि सब ऐतिहासिक हैं तो बड़ी भारी भूल है। कल्पना का मैदान बहुत विस्तृत है और उसका यह एक छोटा सा नमूना है। अब रही सम्भव-असम्भव की बात अर्थात् कौन सी बात हो सकती है और कौन नहीं हो सकती ? इसका विचार प्रत्येक पुरुष की योग्यता और देश काल-पात्र से सम्बन्ध रखता है कभी ऐसा समय था कि यहाँ के आकाश में विमान उड़ते थे, एक-एक वीर पुरुषों के तीर में यह सामर्थ्य थी कि क्षणमात्र में सहस्रों पुरुषों का संहार हो जाता, पर अब वह बातें खाली पौराणिक कथा समझी जाती हैं। पर दो सौ वर्ष पहिले जो बातें असम्भव-थीं आजकल विज्ञान के सहारे वे सब सम्भव हो रही हैं। रेल, तार, बिजली, आदि के कार्यों को पहिले कौन मान सकता था ? और फिर यह भी है कि साधारण लोगों की दृष्टि में जो असम्भव है कवियों की दृष्टि में भी वह असम्भव हो रहे, यह कोई नियम की बात नहीं है। संस्कृत साहित्य के सर्वोत्तम उपन्यास कादम्बरी की नायिका

युवती की युवती रही पर उसके तीन जन्म हो गये। तथापि कोई बुद्धिमान पुरुष इसको दोषावह न समझकर गुणाधायक (?) ही समझेगा। चन्द्रकान्ता में जो बातें लिखी गई हैं वे इसलिये नहीं कि लोग उनकी सचाई-झुठाई की परीक्षा करें प्रत्युत इसलिये कि पाठ कौतूहलवर्द्धक हो।' 'एक समय था कि लोग सिंहासन बत्तीसी, बैताल पचीसी आदि की कहानियों को विश्राम काल में रुचि से पढ़ते थे फिर चहारदरवेश और अलिफ़लैला के किस्सों का समय आया, अब इस ढंग के उपन्यासों का समय है अब भी वह समय दूर है जब लोग बिना किसी न्यूनाधिकार के ऐतिहासिक पुस्तकों को रुचि से पढ़ें जब वह समय आवेगा उस समय कथा सरित्सागर के समान चन्द्रकान्ता बतलावेगी कि एक वह भी समय था जब इस प्रकार के ग्रन्थों से ही वीर प्रसू भारत-भूमि की सन्तान का मनोविनोद होता था। भगवान् उस समय को शीघ्र लावें।' लेखक ने अपने कथन में अपना और 'चन्द्रकान्ता' की शैली पर लिखे गए उपन्यासों का दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया है। 'चन्द्रकान्ता'[1] और 'सन्तति' उर्दू के 'बोस्तान-इ-ख्याल' और 'दास्तान-इ-अमीर हमज़ा' के मुक़ाबले के हैं। परन्तु देवकीनन्दन खत्री की रचनाओं में वासना नहीं मिलती। उनके उपन्यासों में राजकुमार और राजकुमारियों का प्रेम, उनके

---

[1] 'आज हिन्दी के बहुत से उपन्यास हुए हैं जिनमें कई तरह की बातें वो राजनीति भी लिखी गई हैं, राज दरबार के तरीक़े वो सामान भी ज़ाहिर किये गये हैं, मगर राज दर्बारों में ऐयार (चालाक) भी नौकर हुआ करते थे जो कि हरफ़न् मौला यानी सूरत बदलना, बहुत सी दवाओं का जानना, गाना, बजाना, दौड़ना, शस्त्र चलाना, जासूसों का काम देना, वग़ैरह बहुत सी बातें जाना करते थे। जब राजाओं में लड़ाई होती थी तो ये लोग अपनी चालाकी से बिना ख़ून गिराये वो पलटनों की जानें गंवाये लड़ाई ख़तम कर देते थे। इन लोगों की बड़ी क़द्र की जाती थी। इन्हीं ऐयारी पेशे में आजकल बहुरूपिये दिखलाई देते हैं। वे सब गुण तो इन लोगों में रहे नहीं, सिर्फ़ शक्ल बदलना रह गया, वह भी किसी काम का नहीं। इन ऐयारों का बयान हिन्दी किताबों में अभी तक मेरी नज़रों से नहीं गुज़रा। अगर हिन्दी पढ़ने वाले भी इस मज़े को देख लें तो कई बातों का फ़ायदा हो। सबसे ज़्यादा तो यह है कि ऐसी किताबों का पढ़ने वाला जल्दी किसी के धोखे में न पड़ेगा। इन सब बातों का ख़्याल करके मैंने यह ''चन्द्रकान्ता'' नामक उपन्यास लिखा है।....'

—देवकीनन्दन खत्री

मार्ग में बाधाएँ, उनके ऐयारों के षड्यन्त्र और बिना लड़ाई-झगड़े के अपना-अपना काम निकालने वाले ऐयारों और जासूसों के एक से एक बढ़ कर हथकंडे देखने को मिलते हैं। तिलिस्म का वैचित्र्य देखकर तो दंग रह जाना पड़ता है। ऐसे-ऐसे दृश्य सामने आते हैं जिन्हें देखकर हम आश्चर्यचकित रह जाते हैं। रत्नों से भरे खज़ानों से आँखें चौंधिया जाती हैं। कथानक भी जटिल हैं। परन्तु यह देवकीनन्दन की प्रतिभा ही का काम था कि कथानकों में शैथिल्य नहीं आने पाया। तिलिस्म और ऐयारी का सिलसिला शुरू से अन्त तक बड़ी कुशलता पूर्वक निभाया गया है। यह ठीक है कि देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों में घटना वैचित्र्य प्रधान है। उनमें मानवी चरित्र-चित्रण और भावों की विशद् व्याख्या नहीं मिलती। तो भी इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि घटनाओं का इतना विशाल महल दो कोमल हृदयों के पारस्परिक प्र म-बन्धन को सुदृढ़ नींव पर खड़ा होता है। बड़ी से बड़ी ऐयारी उनका बन्धन तोड़ने में समर्थ न हो सकी। एक को सङ्कट में देखकर दूसरे की याद आजाती है। बीच-बीच में हमें प्रेमजनित भावावेश और विरहजन्य व्याकुलता में मानव-हृदय की पीड़ा का भी अनुभव होता है। तिलिस्मी और जासूसी उपन्यासों में क्या यह तथा ऐयारों की स्वामि-भक्ति की बात भूल जाने की है? 'चन्द्रकान्ता' और 'सन्तति' जैसे उपन्यासों में भी मुसलमानों को नौकरियों से हटा कर उनकी जगह हिन्दू रक्खे गए हैं।

देवकीनन्दन खत्री की देखादेखी आगे चलकर हिन्दी में अच्छे-बुरे सभी तरह के तिलिस्मी और जासूसी उपन्यासों की भरमार हो गई। बीसवीं शताब्दी में इन उपन्यासों की संख्या में विशेष वृद्धि हुई। आलोच्य काल में १८९३ के लगभग रामनगर के देवीप्रसाद शर्मा उपाध्याय ने 'सुन्दर सरोजिनी' नामक उपन्यास लिखा। उसमें कल्पना की बड़ी भद्दी उड़ान है। देवकीनन्दन खत्री के शिष्य जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी कृत 'बसन्त मालती' (१८९९) में साधारण तिलिस्म है। भाषा के विषय में उन्होंने अपने गुरु का अनुगमन नहीं किया। उनकी भाषा संस्कृत-गर्भित है। इनके अतिरिक्त 'भयानक भेदिया', 'प्रवीण पथिक', 'प्रमीला,' आदि अनेक तिलिस्मी और जासूसी उपन्यास निकले। हिन्दी में बहुत दिनों तक ऐसे उपन्यासों का शौक बना रहा।

तिलिस्मी उपन्यासों को छोड़ कर, हिन्दी उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता उनकी नैतिकता और शिक्षा है। लेखकगण जनता को अधोगति

के गर्त से निकाल कर उचित मार्ग पर लाना चाहते थे। इसीलिए पाप और पुण्य के सङ्घर्ष की कहानी कहने वाली कथा के प्रारम्भ में कालिदास, हर्ष, भारवि, 'सुभाषित रत्नावली', 'रहिमन विलास', आदि के नीति और धर्म-विषयक अवतरण भूमिका के रूप में उन्होंने उद्धृत किए हैं। लेखकों को भारतीय जीवन का ह्रास देख कर सच्ची मानसिक पीड़ा का अनुभव होता था। कथानक चाहे सामाजिक हो या ऐतिहासिक, वे समाज के सामने एक ऐसा आदर्श रखना चाहते थे जिससे वह अपना जीवन सुधार सके। इसी आदर्शवाद के उद्देश्य से प्रेरित होकर किशोरीलाल गोस्वामी ने 'स्वर्गीय कुसुम' और 'प्रेममयी' में और देवकीनन्दन खत्री ने 'नरेन्द्र मोहिनी' में दुःखान्त कथानकों को सुखान्त बना दिया है। नायक का नाश दिखाने से उनका ध्येय अवश्य नष्ट होता था, लेकिन उससे मनुष्य के मनुष्यत्व का प्रदर्शन नहीं होता। जीवन में सज्जन से भी सज्जन पुरुष सदैव सुखी नहीं रहता। उस पर भाग्य का कोप प्रकट होता रहता है। देवकीनन्दन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी ने दुःखान्त के प्रेमी पाठकों से अन्तिम पृष्ठ फाड़ डालने के लिये कह दिया है। यह मानव-चरित्र के प्रति अन्याय है। लेखक जीवन के तथ्य से दूर हट गए हैं।

नैतिक और शिक्षाप्रद उपन्यासों को छोड़ कर हिन्दी के अन्य उपन्यासों में प्रेमतत्त्व प्रधान रूप से पाया जाता है। जीवन में प्रेम करना एक प्रधान घटना है। अतः उपन्यासों में उसका चित्रण आवश्यक हो जाता है। आधुनिक उपन्यासों की तरह इन उपन्यासों में जीवन के सब पहलुओं पर लेखक विचार नहीं करते। वे तत्कालीन सामाजिक जीवन के किसी अङ्ग विशेष को लेकर उसके गुण-दोषों पर अत्यन्त मर्मज्ञता के साथ विचार करते हैं। जीवन की गम्भीर समस्याओं की विवेचना के झंझट में न पड़ कर उन्होंने किसी एक विशेष समस्या का सरल और सुन्दर रीति से विश्लेषण करते हुए अपने अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने का प्रयत्न किया है। जीवन की साधारण घटनाओं पर उनके कथानक खड़े हुए हैं। अनेकरूपता में से ऐकरूपता पैदा करना उनका ध्येय नहीं था। इसीलिए उनके कथानक अत्यन्त सीधे और सरल हैं। उनमें पेचीदा स्थल नहीं मिलते। तिलिस्मी उपन्यासों के कथानकों की जटिलता साधारण जीवन से सम्बन्ध नहीं रखती। अधिकांश में वह कल्पना की उपज है।

उपन्यासों की एक शैली तो पुराने कहानी कहने वालों की शैली है। ऐसा प्रतीत होता है मानों लेखक ध्यान लगाए बैठे श्रोताओं को कोई कहानी

सुना रहा है। वह स्थान-स्थान पर हर एक बात स्पष्ट करता और उपदेश देता चलता है, जैसे, 'दृष्टान्त प्रदीपिनी'। उपन्यासों की दूसरी शैली वह है जिसके अन्तर्गत लेखक पाठकों का ध्यान रक्खे बिना प्राकृतिक दृश्यों, घटनाओं, पात्रों, वातावरण, आदि का विस्तृत वर्णन देता है। ऐसी शैली में कहीं-कहीं पात्रों का सम्भाषण भी करा दिया जाता है। आलोच्य काल में यही शैली प्रमुख रूप से मिलती है। पात्र यन्त्र-सञ्चालित और मूक मालूम होते हैं। उनका मनोवैज्ञानिक चित्रण नहीं मिलता। वे प्राय: समाज द्वारा स्वीकृत पाप-पुण्य, गुण-दोष, के प्रतीक हैं; उनमें व्यक्तिगत विशेषताएँ नहीं हैं। इसीलिए अधिकतर उपन्यासों के पात्रों में समान गुण या दोष मिलना कठिन नहीं है, वे एक-दूसरे से मिलते-जुलते हैं। ऐतिहासिक पात्र वीर, साहसी और प्रेमी हैं। वे भी एक ही प्रकार के हैं। सभी प्रेम के वशीभूत हो यातनाएँ सहते और अपने प्राण संकट में डाल देते हैं। रचना-विधि के सम्बन्ध में यह कहना ज़रूरी है कि कथानकों में कथनोपकथनों का विशेष प्रयोग नहीं हुआ। तिलिस्मी उपन्यासों में तो वे और भी कम हैं। लेखक केवल कथा कहता हुआ चला जाता है। बीच-बीच में कहीं पात्रों से कथनोपकथन करा दिया गया है। लेखक को उनके विषय में कुछ कहना पड़ता है। यही कारण है कि इन उपन्यासों में भावावेशपूर्ण स्थलों का अभाव है। प्रेम-सम्भाषण और षड्यन्त्र की रचना करते समय जो कथनोपकथन मिलता है उसे भी लेखक ने अपने आदर्शवाद की झोंक में अवास्तविक और प्राणहीन बना डाला है। आलोच्य काल के उपन्यासों के कथानक अत्यन्त सरल हैं और कथनोपकथन से चरित्र-चित्रण में कुछ भी सहायता नहीं मिलती। स्वयं लेखक घटनाओं या किसी स्थल विशेष का सीधा-सीधा वर्णन कर आगे बढ़ जाता है। वह पात्रों के चरित्र का विश्लेषण कर उनके मानसिक पक्ष पर प्रकाश नहीं डालता। और न मानव-स्वभावगत त्रुटियाँ दिखाकर वह अपनी रचना को अधिक से अधिक स्वाभाविक बनाने का प्रयत्न ही करता है। 'दीनानाथ' ही एक ऐसा उपन्यास है जिसमें कथा का वर्णन प्रथम पुरुष में है।

भाषा की दृष्टि से इस काल के उपन्यास तीन भागों में विभाजित किए जा सकते हैं। पहले तो वे उपन्यास हैं जिनकी भाषा संस्कृत-गर्भित है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, किशोरीलाल गोस्वामी, आदि लेखकों की भाषा संस्कृत-शब्दावली से सजी हुई है। उन्होंने सीधी हिन्दी का प्रयोग अवश्य किया है, परन्तु आर्य समाज और बँगला के प्रभावान्तर्गत उनकी

झुकाव संस्कृत शब्दों के अधिकाधिक प्रयोग की ओर पाया जाता है। परन्तु इससे उनकी भाषा कृत्रिम और अजनबी नहीं हो पाई। दूसरे वे उपन्यास हैं जिनकी भाषा में संस्कृत शब्द ठूँस-ठूँस कर भरे गए हैं। मालूम होता है लेखकों ने भाषा के साथ मज़ाक किया है। 'कमलिनी', 'चतुर सखी', देवीप्रसाद शर्मा उपाध्याय कृत 'सुन्दर सरोजिनी' (१८६३ के लगभग), आदि उपन्यास इस श्रेणी में आते हैं। उदाहरण के लिये, जैनेन्द्रकिशोर के 'कमलिनी' उपन्यास में 'नाक बह रही है' के स्थान पर 'नासिका रन्ध्र स्फीत हो रहा है' जैसी भाषा का प्रयोग हुआ है। ऐसे और भी अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। ऐसे प्रयोगों से भाषा में अस्वाभाविकता और भद्दापन आ गया है। सौभाग्यवश यह प्रवृत्ति बहुत कम लेखकों में पाई जाती है। तीसरी श्रेणी में हम सीधी हिन्दी के लेखकों को ले सकते हैं। इनमें अधिकतर तिलिस्मी और जासूसी उपन्यासों के लेखक ही हैं। देवकीनन्दन खत्री ने साधारण जीवन में प्रयुक्त होने वाली भाषा का अत्यन्त सुन्दर रूप में व्यवहार किया है। उसे थोड़े से थोड़ा पढ़ा-लिखा व्यक्ति भी आसानी से समझ सकता है। वास्तव में यदि यह कहा जाय कि राजा शिवप्रसाद की अपेक्षा देवकीनन्दन खत्री हिन्दुस्तानी भाषा का सच्चा स्वरूप अच्छी तरह जानते थे, तो कोई अत्युक्ति न होगी। राजा साहब की 'आमफ़हम' भाषा और 'चन्द्रकान्ता' की भाषा में आकाश-पाताल का अन्तर है। और कहना चाहें तो हम यह भी कह सकते हैं कि आलोच्य काल में देवकीनन्दन खत्री ही बेलाग भाषा लिखने वाले हैं। नहीं तो उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के हिन्दी-लेखकों की भाषा दोषपूर्ण है। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इस दोष से बरी नहीं हैं। ब्रजभाषा, पूर्वी हिन्दी, प्राचीन रूपों, और बँगला के प्रयोग और मुहावरे, अशुद्ध और शिथिल व्याकरण और वाक्य-विन्यास, आदि दोषों से भाषा भारी पड़ी है, जैसे, 'पहिर', 'कधी', 'सुरत', 'निपुन', 'अन्तरजामी', 'रीत होय है', 'चार ठो', 'दियार', 'कै दिन', 'नहीं लगै है', 'ग्वाला दूध नहीं खाता', 'ठौर', 'बेला', 'मन में दृढ़ लालसा किया', 'चिन्ता किया', 'तम्बाकू अच्छी है', 'बाज़ार लगी हुई है', 'तुमारी चाल-चलन', 'इसकी छान-बीन नहीं किया', 'डर लगती थी', 'बाँचना', 'चाल चलन बिगड़ी हुई थी', 'जबरजस्त', 'रीझ जाय है', 'आछत', 'करे है', 'भई', 'बेर', 'यह तुम्हें देने कहा है', 'सांझ', 'अबेर', 'नाई', 'बहिअरबानी', 'जून', 'बासर', 'डर बनी रही', आदि। बँगला से अवश्य कुछ सुन्दर और ललित संस्कृत-पद-विन्यास की परम्परा हिन्दी में आई। १८६६ में पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध (१८६५-

१६४७) ने भाषा के नमूने की दृष्टि से 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' नामक उपन्यास लिखा। उसमें औपन्यासिक कौशल नहीं है। भाषा की दृष्टि से भी हम उसे सफल नहीं कह सकते। वास्तव में लेखकों का ध्यान विषयों की अनेकरूपता की ओर ही अधिक गया, भाषा की ओर नहीं। साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि गद्य में कहावतों और मुहावरों का जितना प्रयोग उन्नीसवीं शताब्दी में होता था उतना बीसवीं शताब्दी में नहीं होता।

बङ्गाल में नई शिक्षा के प्रभावान्तर्गत बहुत पहले लोगों की विचारधारा बदल चली थी। उनमें देशहित, समाजहित, आदि की उमङ्गें पैदा हो रही थीं। देशकाल के अनुसार उनमें साहित्य-निर्माण का भी विस्तृत प्रयत्न होने लगा था। बङ्गाल में नये ढंग के नाटकों और उपन्यासों की रचना का सूत्रपात हो चुका था, जिनमें देश और समाज के प्रति उत्पन्न नए भावों का समावेश हो रहा था। इधर हिन्दी में मौलिक उपन्यासों के अतिरिक्त सस्ते ढंग के तिलिस्मी और जासूसी उपन्यासों की भरमार हो चली थी। इससे साधारण जनता का मनोविनोद तो हुआ, परन्तु साहित्यिकों की सन्तुष्टि न हुई। इसलिए आलोच्य काल में बँगला उपन्यासों के अनुवादों की विशेषता रही। १८६४ में बङ्किमचन्द्र कृत 'दुर्गेश नन्दिनी' के प्रकाशित हो जाने के बाद हिन्दी में ऐतिहासिक, सामाजिक और गार्हस्थ्य मौलिक उपन्यासों की रचना हुई, इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। 'पूर्णप्रकाश और चन्द्रप्रभा' नामक मराठी उपन्यास के अनुवाद के बाद हिन्दी में अँगरेज़ी, बँगला, मराठी, संस्कृत उपन्यासों और उर्दू-कथाओं के अनुवाद धड़ाधड़ प्रकाशित होने लगे। लेकिन बँगला से सबसे अधिक अनुवाद हुए। इन अनुवादकों में भारतेन्दु : बङ्किम कृत 'राजसिंह', राधाकृष्णदास : तारकचन्द्र गंगोली कृत दुःखपूर्ण सामाजिक कहानी 'स्वर्णलता', पतिप्राणा अबला : बङ्किम कृत सुन्दर प्रेम कहानी 'राधारानी' (१८८३), गदाधरसिंह : बङ्किम कृत ऐतिहासिक 'दुर्गेश-नन्दिनी' (१८८२) और रमेश चन्द्र दत्त कृत ऐतिहासिक 'बङ्गविजेता', किशोरीलाल गोस्वामी : सामाजिक कहानी 'प्रेममयी'(१८८६) और 'लावण्यमयी' (१८६१), राधाचरण गोस्वामी : श्रीमती सरनकुमारी घोषाल कृत ऐतिहासिक 'दीप निर्वाण' और 'बिरजा' (१८६१), उदितनारायण लाल वर्मा : 'दीपनिर्वाण' (१८६१), बालमुकुन्द गुप्त : सामाजिक 'मडेल भगिनी', ४ भाग (१८८८), रामशङ्कर व्यास : 'मधुमालती' और 'मधुमती' (१८८६), विजयानन्द त्रिपाठी : भूदेव मुखोपाध्याय कृत 'सच्चा सपना' (१८६०), राधिकानाथ बन्ध्योपा-

ध्याय : सामाजिक 'स्वर्णबाई' (१८६१), प्रतापनारायण मिश्र : बङ्किम कृत प्रेम-कहानी 'युगुलाङ्गुरीय' और 'कपालकुण्डला', अयोध्यासिंह उपाध्याय : 'कृष्णकान्त का दानपत्र' (१८६७) और 'राधारानी' (१८६७), और कार्तिकप्रसाद खत्री : पाँच कौड़ी दे का 'कुलटा' तथा 'मधुमालती' (१८६७) और नारायणदास मौलिक कृत 'दलित कुसुम' (१८६८) के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। स्कॉट की शैली पर लिखे गए बङ्गाली, विशेष कर बङ्किम बाबू के, उपन्यासों का हिन्दी में बहुत प्रचार हुआ। उच्चकुलोद्भव नायक-नायिकाओं की प्रेममयी और वीरतापूर्ण जीवनचर्या के ये उपन्यास ज्वलन्त उदाहरण हैं। कथानक, कथनोपकथन, मानवी भावनाओं, घटना-वैचित्र्य और सुन्दर वर्णन-शैली की दृष्टि से बँगला उपन्यास-साहित्य में हिन्दी उपन्यास-लेखकों को प्रभावशाली और उच्चकोटि की रचनाएँ मिलीं। कल्पना-रञ्जित ऐतिहासिक घटनाओं का बँगला उपन्यासों में बड़े ही मनोरञ्जक और मौलिक रूप में तारतम्य बाँधा गया है। किशोरीलाल गोस्वामी के 'लवङ्गलता' और 'हृदयहारिणी' बँगला शैली के ही हैं। यहाँ पर यह संकेत कर देना भी अनुचित न होगा कि अँगरेज़ी उपन्यासों का हिन्दी उपन्यासों पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा। उनका प्रभाव बँगला उपन्यासों द्वारा परोक्ष रूप में पाया जाता है। अप्रौढ़ तिलिस्मी उपन्यासों के सामने हिन्दी साहित्यिकों ने श्रेष्ठ और प्रौढ़ बँगला रचनाओं का अनुवाद करना ही श्रेयस्कर समझा।

बँगला के अतिरिक्त संस्कृत, उर्दू, अँगरेज़ी, आदि की रचनाओं के अनुवाद भी हुए। गदाधर सिंह ने बँगला से संस्कृत उपन्यास 'कादम्बरी' का हिन्दी में अनुवाद किया। यह उपन्यास धारावाहिक रूप में 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में प्रकाशित होता था। काशीनाथ शर्मा ने पूर्वाचार्य कृत संस्कृत रचना 'चतुर सखी' (१८६०) का हिन्दी में अनुवाद किया। इनके अतिरिक्त संस्कृत कथा-कहानियों, जैसे, 'सावित्री सत्यवान', 'दुष्यन्त और शकुन्तला', 'ध्रुव की तपस्या', आदि के भी कहानियों के रूप में अनुवाद प्रकाशित हुए। सरसा, ज़िला इलाहाबाद, के काशीनाथ खत्री ने १८८३ में महाराजा अलवर के आश्रय और अलीगढ़ की भाषा सम्वर्द्धिनी सभा की अध्यक्षता में Lamb's Tales from Shakespeare का अनुवाद 'शेक्सपियर के परम मनोहर नाटकों के आशय' के नाम से दो भागों में हिन्दी में किया। प्रथम नौ नाटकों के अनुवाद में अनुवादक सरलता के लिए कल्पित हिन्दी नाम रखना चाहता था। किन्तु नाम बदलने में उसे एक यह बड़ा दोष दिखाई पड़ा कि नाटकों में यूरोप के आचार-

विचार, रीति-रस्म का वर्णन होने से हिन्दी नाम असंगत जान पड़ने लगे, जैसे, हिन्दी नाम वाले पात्र का गिरजे में जाकर विवाह करना, स्त्री की कमर में हाथ डाल कर चलना, इत्यादि। इसलिए अनुवादक ने मूल नाम ही रहने दिए हैं। १८६४ में गदाधर सिंह ने बँगला से अँगरेज़ी रचना 'ओथेलो' का हिन्दी रूपान्तर प्रकाशित किया। १८६७ में पुरोहित गोपीनाथ ने अँगरेज़ी के किसी उपन्यास के आधार पर 'वीरेन्द्र' की रचना की। १६०० में पुरुषोत्तमदास टंडन ने शेक्सपियर कृत 'पेरिक्लीज़ (Pericles) का 'भाग्य का फेर' या 'प्यारे कृष्ण की कहानी' के नाम से रूपान्तर पहले 'हिन्दी प्रदीप' में और फिर पुस्तक रूप में प्रकाशित किया। कथा भारतीय आवरण में रक्खी गई है।

मराठी से 'पूर्णप्रकाश और चन्द्रप्रभा' तथा मुरादाबाद के स्वरूपचन्द जैन (१८६३ के लगभग र० का०) द्वारा 'रमा और माधव' (१८६६) नामक एक ही उपन्यास के दो अनुवादों का उल्लेख पीछे हो चुका है। १८६२ में पंडित किशनलाल ने गुजराती के लेखक जहाँगीर शाह जी आरदेशर जी तलेयार खाँ की रचना का 'मुद्राकुलीन अर्थात् इतिहास चन्द्रोदय' के नाम से हिन्दी में अनुवाद किया, जिसमें अठारहवीं शताब्दी में आर्यों की वीरता, यवनों का अत्याचार, हिन्दू स्त्रियों का बलपूर्वक हरण, देव-मन्दिरों का टूटना, आदि भारतवर्ष की दुःखभरी कहानी का वर्णन है। मेहता लज्जाराम शर्मा ने गुजराती में 'लीवे जान नो दोस्त' का 'कपटी मित्र' (१६००) के नाम से अनुवाद किया। बाबू रामकृष्ण वर्मा (१८५६-१६०६) ने उर्दू और अँगरेज़ी से अनुवाद किए। १८६१ में 'अकबर', भाग १, का अँगरेज़ी से अनुवाद हुआ। १८६४ में उन्होंने काज़ी अज़ीज़ुद्दीन कृत उर्दू उपन्यास 'समरैदियानत'—अँगरेज़ी में Fruits of Honesty—का 'अमलावृत्तान्तमाला' के नाम से हिन्दी में अनुवाद किया। १८६५ में उसी लेखक का 'संसार दर्पण' उन्होंने प्रकाशित किया। 'अमलावृत्तान्तमाला' से पहले वे 'ठगवृत्तान्तमाला' (१८८६) और 'पुलीसवृत्तान्तमाला' (१८६०) का अनुवाद कर चुके थे। 'अमलावृत्तान्तमाला' से यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि बुरे काम का फल बुरा और भले काम का फल भला दूसरी दुनिया में तो मिलता ही है पर इस दुनिया में भी शीघ्र ही यथायोग्य परिणाम देखने में आता है। अमला लोगों की कार्रवाई, पर्वनलाल की बदनीयती, अँगरेज़ लोगों की मेहरबानी, रियायापरवरी और इंसाफ़, अर्दलियों की तकलीफ़देही

और चालाकी, दियानत हुसैन की नेकचलनी, दियानतदारी और उनका भला परिणाम बहुत ही अच्छी तरह दिखाया गया है। सच्चे की सचाई का अच्छा परिणाम, बुरे के लिए दुःखद अन्त, सच्चे की ईश्वर द्वारा सहायता और उसकी क्षणिक आपत्ति, आदि बातें ही 'ठगवृत्तान्तमाला' और 'पुलीस वृत्तान्तमाला' में प्रदर्शित की गई हैं। ठग और मियाँ मिट्ठू ख़ाँ पुलीस कॉन्सटेबिल स्वयं अपनी-अपनी कथाएँ कह कर पुण्य-पाप के उदाहरण पाठकों के सामने रखते हैं। इन रचनाओं को उपन्यास न कह कर यदि 'कथा-वार्ता' कहा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा। उनमें नीति की शिक्षा अच्छी दी गई है। कहीं-कहीं संस्कृत-मिश्रित हिन्दी को छोड़ कर, लेखक ने मूल रचनाओं की भाषा ही अधिकतर बनी रहने दी है।

अस्तु, सामान्य रूप से उन्नीसवीं शताब्दी हिन्दी उपन्यास-साहित्य को हम चार भागों में बाँट सकते हैं। पहला, सामाजिक, जिसमें सुधार और नीति के पुट के साथ-साथ प्रेम और शौर्य के अनुपम उदाहरण हैं। दूसरा, नीति और शिक्षा-सम्बन्धी, जिसमें सामाजिक ध्येय भी निहित है। तीसरा, तिलिस्मी और जासूसी उपन्यास, जिनसे मध्यम वर्ग के वणिक सम्प्रदाय का यथेष्ट मनोरञ्जन हुआ। और चौथा, स्कॉट की शैली पर लिखे गए ऐतिहासिक उपन्यास। हिन्दी में श्रेष्ठ मौलिक ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना बहुत कम हुई। अन्तिम श्रेणी के उपन्यासों का ध्येय देश में राष्ट्र-प्रेम और सामाजिक सुधारों का प्रचार करना था। वास्तव में तिलिस्मी उपन्यासों को छोड़ कर अन्य मौलिक या अनूदित उपन्यासों में दो उद्देश्य प्रधान रूप से मिलते हैं। एक तो वे देश के प्राचीन गौरव और उसके पतन की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। बँगला उपन्यासों में यह बात अधिक पाई जाती है। दूसरे, वे समाज-सुधार, धर्म-सुधार, व्यक्तिगत चारित्रिक सुधार, अँगरेज़ी प्रभाव से बचना, आदि बातों पर ज़ोर देते हैं। बालकृष्ण भट्ट, लाला श्रीनिवासदास, आदि के उपन्यासों और काज़ी अज़ीज़ुद्दीन के 'संसार-दर्पण,' बालमुकुन्द गुप्त द्वारा अनूदित 'मडेल भगिनी', आदि में यह दिखाया गया है कि अँगरेज़ी-शिक्षित किस प्रकार फ़ैशन के पीछे अपनी प्राचीन परिपाटी को छोड़ दुर्दशा भोगते हैं। कुछ लोग तो उस फ़ैशन के गर्त से निकल आते हैं, अन्यथा अधिकतर लोग उसमें डूब जाते हैं। उस समय उनकी अत्यन्त शोचनीय अवस्था होती है। पश्चिमी शिक्षा से देश के स्त्री-पुरुषों में विलासिता, वाह्याडम्बर, आदि बातें बढ़ती जाती थीं। उधर दूसरी ओर शिक्षा के अभाव के कारण जनता में अनेक कुरीतियाँ और

कुप्रथाएँ प्रचलित हो गई थीं; मद्यपान, वेश्यागमन, जुआ खेलने, आदि की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही थी। उपन्यास-लेखक इन दोनों ही बातों को रोकना चाहते थे। वे मध्यम मार्ग पसन्द करते थे—पश्चिमी शिक्षा ग्रहण करने पर भी अपनी सभ्यता और संस्कृति से विमुख न होना। इस सम्बन्ध में उन्होंने पौराणिक और ऐतिहासिक कथाओं, सामाजिक और गार्हस्थ्य जीवन से सामग्री ली और कल्पना एवं किम्वदन्तियों का आश्रय ग्रहण किया। अनुवादों को छोड़कर आलोच्य काल की औपन्यासिक रचनाओं को हम प्रौढ़ नहीं कह सकते। वे अँगरेज़ी और बँगला उपन्यासों के सामने नहीं ठहरतीं। परन्तु उनमें उनके उज्जवल भविष्य का आभास मिलता है। उनमें सत्य का अनुसरण करने का प्रयत्न किया गया है। वहाँ मानव-जीवन के लक्ष्य प्रेम का सहानुभूतिपूर्ण विश्लेषण भी है। उनसे समाज-सुधार, जातीय गौरव की रक्षा, ऐतिहासिक सत्य, काव्य, दर्शन और मनुष्यत्व को आश्रय मिलता है। इस सम्बन्ध में किशोरीलाल गोस्वामी का प्रयत्न सराहनीय है। १८६८ में 'उपन्यास' नामक पत्र निकाल कर उन्होंने उपन्यास साहित्य में और भी सम्पन्नता लाने की चेष्टा की।

१८६१ के लगभग से रेनाल्ड, कैनन डॉयल, आदि के सस्ते उपन्यासों के अनुवादों की हिन्दी में भरमार होगई। उनसे हिन्दी उपन्यास-साहित्य की गति-विधि पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उपन्यास पढ़ने वालों की रुचि पर उनका काफ़ी प्रभाव पड़ा। और यद्यपि इन अनुवादों से सुरुचि का प्रचार न हुआ, तो भी भद्दे और कपोलकल्पित घटना-वैचित्र्य से भरी हुई रचनाओं का जैसे, सागर के भावदेव उपनाम रज्जी दुबे कृत 'वचन तरङ्गिणी' (१८६३) जिसमें जायसी कृत 'पद्मावत' की तरह का कथानक है, प्रकाशन बहुत कुछ बन्द हो गया। उनके स्थान पर ऐतिहासिक सत्य के आधार पर मौलिक और श्रेष्ठ एवं प्रेम और शौर्य से भरी कहानियों और जासूसी उपन्यासों की रचना होने लगी। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ऐसी ही उत्तम साहित्यिक कोटि की रचनाओं ने हिन्दी साहित्य को ढक लिया। उन्होंने नए-नए आदर्श और विचार उपस्थित किए। परन्तु साथ ही अनुकरण की प्रवृत्ति भी प्रबल हो उठी।

६

नाटक

ईसा से सैकड़ों वर्ष पूर्व भारत में नाटकों का पूर्ण प्रचार हो चुका था। नाट्य-कला का जन्म कब हुआ था, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कह सकना कठिन है। पौराणिक रीति के अनुसार उसका जन्म त्रिमूर्ति द्वारा हुआ। कहा जाता है कि सत्ययुग के अन्त और त्रेता के प्रारम्भ में सब देवता मिल कर ब्रह्मा के पास गए और उनसे मनोरञ्जन का साधन माँगा। ब्रह्मा ने ऋग्वेद से कथोपकथन, सामवेद से गायन, अथर्वण से रस और यजुर्वेद से अभिनय लेकर पञ्चम वेद, नाट्य-वेद, की रचना की। विश्वकर्मा ने रङ्गमञ्च बनाई, शिव ने ताण्डव और पार्वती ने लास्य नृत्य दिए और विष्णु ने चार शैलियाँ दीं। पृथ्वी पर मनुष्यों के लाभार्थ नाट्य-वेद के प्रचार का कार्य भरत मुनि को सौंपा गया। इस पौराणिक कथा का तात्पर्य केवल यही है कि बीज रूप में नाट्य-कला वेदों और वैदिक काल में मिलती है और भरत मुनि उसके आदि आचार्य हैं। वेदों का अध्ययन करने पर यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है जैसे, ऋग्वेद में कथोपकथन मिलते हैं। जनता भी फ़सल तैयार होने, पुण्य पर्व, वीर-पूजा, ऋतु-परिवर्तन, आदि के अवसरों पर विविध प्रकार के नृत्यों तथा गायन-वादन से अपना मनोरञ्जन किया करती थी। कालांतर में छाया-चित्रों का प्रचार भी हो गया था। मनोरञ्जन के इन साधनों में भी नाट्य-कला के बीज पाए जाते हैं। कुछ विद्वान् नटों द्वारा कठपुतलियों के तमाशे से उसका सम्बन्ध स्थापित करते हैं। किन्तु कठपुतलियों वाले नट और नाटकीय व्यवस्था के सूत्र ग्रहण करने वाले नट में भेद बताया जाता है। तत्पश्चात् रामायण तथा महाभारत महाकाव्यों और हरिवंश, अग्नि, आदि पुराणों में नटों, नटियों, आदि का उल्लेख मिलता है। पाश्चात्य विद्वान नटों, नटियों, आदि से केवल नाचने वाले का अर्थ लेते हैं। किन्तु विद्वानों का दूसरा पक्ष उनका सम्बन्ध नाट्य-कला से स्थापित करते हैं। बौद्ध धर्म में चुल्लवग्ग के 'विनय पिटक' तथा अन्य ग्रन्थों में कीटागिरि जैसी रङ्गशालाओं और उनमें सम्मिलित होने वाले बौद्ध भिक्षुओं का विहारों से निकाले जाने का उल्लेख मिलता है। फिर पाणिनि (लगभग तीसरी शताब्दी पूर्वईसा) के व्याकरण और पतञ्जलि (पाणिनि से

लगभग डेढ़ शताब्दी बाद) के महाभाष्य में कृशाश्व और शिलालिन् के नट-सूत्रों और नाट्य-कला का उल्लेख मिलता है। ग्रन्थों में नटों, नट-सूत्रों, अभिनयों, आदि के उल्लेख का यही अर्थ है कि उनकी (ग्रन्थों की) रचना से पूर्व नाट्य-कला का यथेष्ट विकास हो चुका था। यदि विकास न हुआ होता तो उनमें पूर्ववर्ती सूत्रों और आचार्यों के उल्लेख की आवश्यकता न पड़ती। किसी कला के विकसित हो जाने के बाद ही लक्षण-ग्रन्थों की रचना हुआ करती है। नाट्य-कला की इसी विकास-परम्परा में आगे चल कर कालिदास, हर्ष, भवभूति, आदि विश्व-विख्यात नाटककार हुए और अनेक लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण हुआ। अस्तु, आज से लगभग दो सहस्र वर्ष पूर्व भारतवर्ष में नाट्य-कला का जन्म और विकास हो चुका था। अन्य देशों से बहुत पहले वह अपनी पूर्ण उन्नतावस्था को पहुँच गई थी।

ईसा की सातवीं शताब्दी में हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद भारतीय राजनीतिक जीवन छिन्न-भिन्न और अराजकतापूर्ण हो गया था। देश अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया और नरेश पारस्परिक कलह और युद्ध-विग्रह में अपनी शक्ति का ह्रास करने लगे। उसी समय के लगभग देश का निकटवर्ती मुसलमानी देशों से सम्पर्क स्थापित हुआ। प्रारम्भ में यह सम्पर्क व्यापार और सांस्कृतिक आदान-प्रदान तक सीमित रहा। किन्तु शीघ्र ही बढ़ते हुए इस्लाम धर्म के साथ भारतवर्ष पर मुसलमानी आक्रमण होने लगे। देश की अराजकतापूर्ण परिस्थिति से आक्रमणकारियों ने भरपूर लाभ उठाया और अनेक घोर युद्धों और कठिनाइयों के बाद उन्होंने अपना राज्य स्थापित कर लिया। उस समय देश में अभिनय-कला के दो प्रधान केन्द्र थे, राज्य-सभा और देवमन्दिर। दोनों स्थानों का विध्वंस शुरू हो जाने के कारण कला के प्रचार को यथेष्ट आघात पहुँचा। दूसरे, विजयी आक्रमणकारियों का धर्म नाट्य-कला की अनुमति नहीं देता था। उनका राज्य स्थापित हो जाने के बाद निश्चित रूप से उसका ह्रास हुआ। उस समय के आक्रमणकारियों में धार्मिक जोश भी बहुत था। इसलिए वे क़ुरान के आदेशों के प्रतिकूल बातें सहन न कर सके हों तो कोई आश्चर्य नहीं। बाद को मुग़ल बादशाहों ने सङ्गीत तथा अन्य ललित कलाओं को आश्रय अवश्य दिया, किन्तु नाटक का वे फ़िर भी आदर न कर सके। जिस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में अँगरेज़ी साहित्य ने नाट्य-रचना को प्रोत्साहन दिया, उस प्रकार भारतीय इतिहास के मध्य युग में संस्कृत विद्या का ह्रास और हिन्दी तथा अन्य जन

भाषाओं में नाट्य-रचना की परम्परा न होने के अतिरिक्त अरबी-फ़ारसी साहित्य ने कोई प्रोत्साहन न दिया, यद्यपि भारतीय संगीत, चित्रकला, वास्तु-कला, आदि पर विदेशी प्रभाव पड़े बिना न रह सका। इतिहास-लेखकों का मत है कि उस समय भी मुसलमानी प्रभाव से दूर दक्षिण में संस्कृत नाटकों की रचना और अभिनय-कला का प्रचार बराबर बना रहा। ऐसे स्थानों में जहाँ मुसलमानी प्रभाव विशेष था उच्च श्रेणी के नाट्य-साहित्य और अभिनय कला का पतन हो गया। केवल गाँवों में रूपक के कुछ हीन भेदों का प्रचार बना रहा। आगे चलकर उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में अवध-दरबार में अमानत कृत 'इन्दर सभा' (१८५३) नामक गीति-नाट्य ने जन्म लिया। उस समय तक मुसलमान अपनी धार्मिक कट्टरता बहुत-कुछ खो चुके थे। सैयद ग़ुलाम हुसेन ने 'सैरुलमुताख़रीन' में लिखा है कि नवाब सिराजुद्दौला, मीर जाफ़र, मीर क़ासिम, मीरन, अवध के नवाब शुजाउ-द्दौला, आदि वसन्तोत्सव, होलिकोत्सव, दिवाली, आदि मनाते थे। अवध के नवाबों में तो इस प्रकार की इस्लाम के खिलाफ़ शौक़ीनियों का और भी प्रचार था। स्वयं वाहबी आन्दोलन का ध्येय भारत के मुसलमानों को विशुद्ध इस्लाम धर्म का रूप बताना था। इसलिए 'इन्दर सभा' का मुसलमानी दरबार में जन्म लेने और शुरू के मुसलमान आक्रमणकारियों की धर्मान्धता में कोई सम्बन्ध नहीं है। सच तो यह है कि बक्सर की लड़ाई (१७६४) के बाद अवध-दरबार पर अँगरेज़ों तथा फ़्रांसीसियों, प्रधानतः पहले, के माध्यम द्वारा पाश्चात्य प्रभाव काफ़ी पड़ा। अवध नरेशों में यूरोपीय खाने-पीने, वेशभूषा, खिलौनों, चित्रों, दवाइयों, आदि का शौक पैदा हो गया था। अँगरेज़ों का अनुकरण कर उन्होंने भी अपने राज्य में (उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में) सती, बाल-हत्या, अङ्ग भङ्ग करने और नपुंसक बनाने, आदि की प्रथाएँ बन्द कर दी थीं। मशीनों और कल-पुरज़ों में भी वे दिलचस्पी लेने लगे थे। हिन्दी प्रदेश के मध्य भाग में अवध अँगरेज़ों के काफ़ी सम्पर्क में आया। वहाँ यूरोपीय राजदूतों, धर्म-प्रचारकों, सैनिकों और यात्रियों का जमघट रहता था। अवध के प्रति अँगरेज़ों की शुरू की जैसी नीति बनी रहती तो निस्सन्देह उस राज्य में यूरोपीय सभ्यता के साथ सम्पर्क के फलस्वरूप बड़े अच्छे-अच्छे और महत्वपूर्ण परिणाम निकलते। इसी यूरोपीय प्रभाव के कारण अवध के मुसलमानी दरबार में 'इन्दर सभा' का जन्म हो सका था, न कि इसलिए कि इस्लाम धर्म में नाट्य-कला को प्रोत्साहन देने की शक्ति थी। अराजकतापूर्ण परिस्थिति के कारण भी मध्ययुग में नाट्य-कला

का ह्रास हुआ। क्योंकि नाट्य-कला, गायन-वादन, आदि के लिए शान्तिपूर्ण वातावरण नितान्त आवश्यक है।

इस प्रकार भारतीय इतिहास के मध्य युग में नाट्य-कला उठ-सी गई। परन्तु आधुनिक खोज से चौदहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग मध्य तक कुछ नाटक नाम से पुकारी जाने वाली रचनाओं का पता चला है। चौदहवीं शताब्दी में प्रसिद्ध मैथिली कवि विद्यापति ने 'रुक्मिणी हरण' और 'पारिजात हरण', विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में केशवदास ने 'विज्ञानगीता', कृष्ण जीवन ने 'करुणाभरण', हृदयराम पञ्जाबी ने 'हनुमान नाटक', यशवन्तसिंह ने 'प्रबोधचन्द्रोदय', विक्रम की अठारहवीं शताब्दी में निवाज कवि ने 'शकुन्तला', देव ने 'देवमायाप्रपञ्च', आलम ने 'माधवानल कामकन्दला' और विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी में महाराजा विश्वनाथसिंह ने 'आनन्द रघुनन्दन', मञ्जु ने 'हनुमान नाटक', कृष्ण शर्मा साधु ने 'रामलीलाविहार नाटक', हरिराम ने 'जानकीरामचरित्र नाटक' और ब्रजवासीदास ने 'प्रबोधचन्द्रोदय', आदि नाटक लिखे।[1] परन्तु नाटक की रीति के अनुसार उनको नाटक नाम से अभिहित नहीं किया जा सकता। वे या तो अनुवाद हैं या उनमें रामायण और महाभारत की कथाओं का पद्यात्मक वर्णन है। आधुनिक नाटकों की भाँति उनमें पात्र-प्रवेशादि कुछ नहीं है, यद्यपि एक ओर पात्रों के नाम लिखे अवश्य मिल जाते हैं। और न उनमें चरित्र-चित्रण और कार्य-व्यापार ही मिलता है। उनमें नाट्याभिनय का कोई स्थान नहीं है और सब की रचना काव्य की भाँति है। परन्तु उनमें और रामलीला तथा रासलीलाओं में एक बात समान रूप से मिलती है। वे धार्मिक कथानकों को लेकर चलते हैं और उनका क्षेत्र संकुचित है। नाट्य-कला के दुर्दिन में उनका जन्म हुआ था। विदेशी जाति के सम्पर्क से उनको कोई उत्तेजना नहीं मिली। ऐसी हालत में नाट्य-कला की विशेष उन्नति होना सम्भव नहीं था।

हिन्दी प्रदेश में हमें रासलीला और रामलीला का प्रचार काफ़ी प्राचीन समय से मिलता है। गाँव वाले और साधारण जनता उनसे अपना मनोरञ्जन कर लिया करती थी। कुछ पौराणिक और ऐतिहासिक व्यक्तियों के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली कुछ घटनाओं के आधार पर भी लीलाओं का अभिनय

---

[1] 'सप्तम हिन्दी साहित्य सम्मेलन का कार्य विवरण', पृ० ११६-१२४ तथा भारतेन्दु कृत 'नाटक', भारतेन्दु नाटकावली (१९२७), पृ० ८२६

होता था। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में इस प्रकार की लीलाओं के निश्चित प्रमाण मिलते हैं। ये लीलाएँ ब्रज तथा हिन्दी प्रदेश के उत्तर पश्चिम और दक्षिण-पश्चिम भाग में अधिक प्रचलित थीं। विलियम रिज़वे ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दि ड्रामा ऐंड दि ड्रैमैटिक डान्सेज़ ऑव दि नॉन यूरोपियन रेसेज़' में धार्मिक पर्वों और उत्सवों के अवसर पर विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों से सम्बन्ध रखने वाली लीलाओं के अभिनयों का उल्लेख किया है। रामायण, महाभारत, आदि से लीलाएँ लेकर नृत्य और गायन-वादन के साथ विविध कृत्यों का प्रदर्शन होता था। इससे जनता की धार्मिक और वीर-भावना की सन्तुष्टि होती थी। इन लीलाओं में साधारणतः पद्यात्मक संवाद रहता था। चारों ओर से खुला हुआ रङ्गमञ्च कई तख्त पास-पास रख कर बनाया जाता था जिस पर पात्र अपना अभिनय करते थे। वाद्य-यन्त्रों का सञ्चालन भी उसी पर होता था। दर्शक उस रङ्गमञ्च के चारों ओर ज़मीन पर बैठते थे। पात्र या तो पीछे लगे पर्दे की दूसरी ओर या पास ही के किसी घर में बने हुए 'ग्रीन रूम' से मुँह पर भद्दे तरीक़े से खड़िया और लाली मले कृत्रिम बाल और दाढ़ी-मूँछ लगाए या चेहरे लगाए और तड़क-भड़क वाले रङ्ग-बिरङ्ग के कपड़े और मुकुट आदि पहिने उछलते-कूदते रङ्गमञ्च पर आते थे। पुरुष ही स्त्रियों का अभिनय करते थे। लीलीएँ वर्षा के अन्त और शरद् ऋतु के प्रारम्भ में होती थीं। समय ऐसा रक्खा जाता था जब लोग खा-पीकर निश्चिन्त हो जाते थे—अर्थात् रात के लगभग ११ बजे से सूर्योदय से कुछ पहले तक। कथानक काफ़ी लम्बा होता था। अभिनय मामूली तौर से हाथ-पैर चलाने, मटकने, हास्यास्पद ढंग से रोने-हँसने, धड़ाम से गिर पड़ने, आदि तक सीमित था। दर्शकों पर सबसे अधिक प्रभाव किसी तड़पा देने वाले पद्यात्मक संवाद का पड़ता था। चरित्र के गाम्भीर्य का प्रदर्शन बिल्कुल नहीं रहता था। रासलीला, रामलीला, पूरन भगत, क़त्ल हक़ीक़तराय, आल्हा-ऊदल, इन्दल राजा का ब्याह, आदि भद्दे अभिनयों का अभी कुछ समय पहले तक काफ़ी प्रचार था। इधर दस-पन्द्रह वर्षों से मनोरञ्जन के आधुनिक साधनों की ओर जनता के आकृष्ट हो जाने से उनका प्रचार कम क्या एक प्रकार से बिल्कुल नहीं रहा। यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि हाथरस और राजपूताना के स्वाँग[1], मथुरा और

---

[1] पं० रामग़रीब चौबे साँग या स्वाँग की उत्पत्ति के विषय में कहते हैं :

'Saharanpur has a class of local songs peculiar to itself which are known as 'Sang' or 'Swang.' The sing-

वृन्दावन की रासलीला और अवध की रामलीला को आधुनिक हिन्दी नाटकों के मूल में मानना सरासर भूल है। उनका (लीलाओं का) अपना स्वतंत्र अस्तित्व था जो मध्य युग से चला आ रहा था। प्राचीन नाट्य-कला का जो पूर्व रूप अवशेष रह गया था वही इन लीलाओं में मिलता था, यद्यपि वह भी अत्यन्त हीन और शोचनीय अवस्था में था। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने उन्हें भ्रष्ट और नाट्य-कला के तत्वों से हीन कह कर पुकारा है।[1] यद्यपि लीलाओं वाली कथाएँ नाटकों के लिए अपनाई गईं और लीला-शैली का

---

ing of these songs commences generally about five days before the Holi festival. Much competition goes on among the local poets in the composition of them. Another name for this class of songs is 'Chamola', and they are sung to the accompaniment of a little drum known as *Mridang*.

The song generally begins with some verses in praise of the 'ustad' or teacher from whom the poet has received instruction in the art of composition. Then it goes on to treat of some important event which has engaged the attention of the public, or to record the career of some eminent personage. The composition is usually in the form of a dialogue.

Singers meet at several recognised places known as 'Akara' and large crowds assemble to listen to the competitors.

It is said that these songs were originated by Amba Ram a Gujarati Brahman, who was resident of Saharanpur. He was a man of considerable wealth, most of which he spent on encouraging this class of performance. He finally became destitute and wandered to Haidarabad where he received much patronage. After living there for sometime, he died.

The singing of these songs commenced at Saharanpur about 1819 A. D.

—'इंडियन एँटिक्वेरी', जनवरी, १९१०

[1] 'नाटक', भारतेंदु नाटकावली (१९२७), पृ० ७१०

नाटकीय रचनाओं पर प्रभाव पड़ा, तो भी आधुनिक हिन्दी नाटकों का जन्म इन लीलाओं की कोख से नहीं हुआ। वास्तव में सच तो यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में नवोत्थान-कालीन भावना से प्रेरित संस्कृत और अँगरेज़ी साहित्य के अनुशीलन के फलस्वरूप और फिर से अनुकूल वातावरण पाकर हिन्दी नाट्य-साहित्य का जन्म हुआ। भारतवासियों द्वारा अँगरेज़ी साहित्य का अध्ययन तो हुआ ही, किन्तु ईस्ट इण्डिया कंपनी के काल में अँगरेज़ों ने भी अठारहवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध और उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में बम्बई, मद्रास, कलकत्ता, पटना, आदि बड़े-बड़े नगरों में अपने मनोरञ्जन के लिए अभिनयशालाओं की स्थापना कर भारतीय शिक्षित समुदाय का ध्यान नाट्य-कला की ओर आकृष्ट किया। वे अँगरेज़ी नाटकों या कालिदास के शकुन्तला नाटक का प्राय: अभिनय किया करते थे। सर विलियम जोन्स द्वारा तथा फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में 'शकुन्तला' के दो-तीन अनुवाद प्रस्तुत हो ही चुके थे। साहित्यिकों में रुचि उत्पन्न करने के लिए यह बहुत था। और फिर प्राचीन भारतीय और एलिज़बेथन युग की नाटकीय रचना-पद्धतियों में बहुत-कुछ साम्य होने से भी काफ़ी प्रोत्साहन मिला; शेक्सपियर तथा अन्य नाटककारों का अध्ययन होने ही लगा था।[१] स्वयं नाट्य-रचना भारतवर्ष के लिए

---

[१] 'Shakespeare, with his universal appeal and his many features in complete harmony with the spirit of the ancient Hindu drama, was loved and admired passionately, studied, and enthusiastically produced on the college stage first in English, and later on, in the Vernacular'—**डॉ० आर० के० याज्ञिक: 'दि इंडियन थिएटर', पृ० ७०, १०५ और तीसरे से दसवें अध्याय तक।**

While the Indian drama shows some affinities with Greek comedy, it affords more striking points of resemblance to the productions of the Elizabethan playwrights and in particular of Shakespeare. The aim of Indian dramatists is not to portray types of character, but individual persons; nor do they observe the rule of unity of time and place. They are given to introducing romantic and fabulous elements; they mix prose with verse, they blend the comic with the serious, and introduce puns and comic distortions of words. 'The character of the 'vidushaka' too is a close parallel to the fool in Shakespeare.

नई नहीं थी, उसकी परम्परा बीच में भले ही टूट गई हो। काल-गति से जो वृक्ष सूख गया था वह फिर से पुष्पित-पल्लवित हो उठा। १८६५ में मंसाराम मारवाड़ी नामक एक नाटककार का कथन है: 'इस आर्यावर्त देश में प्राचीन काल में नाट्य विद्या का प्रचुरतर प्रचार था तथा श्री भोजराज के समय में तो अतीव प्रबल था क्योंकि उनके ही समय में कविकुल कुमुद कलाप कलाधर महाकवि कालिदास ने शकुन्तला, व कविवर भवभूति ने मालती माधव, श्री हर्ष कवि ने रत्नावली नाटिका इत्यादि अनेक अभिनव सुललित गद्य पद्यात्मक नाटक निर्माण किये गये थे और किये जाते थे और वही उत्तमोत्तम व सदुपदेश गर्भित नाटक राजा भोज की सभा में होते भी थे कि जिनमें पतिव्रता धर्म, सत्यशील पुरुषों का वीरत्व और धैर्य, कुशलों की कुशलता, प्रेमियों का प्रेम, वियोगियों का वियोग ऐसे दर्शाया जाता था कि मानो प्रत्यक्ष वही समय है. क्यों न हो जब हमारे राजा-महाराजा ऐसे गुणज्ञ व गुणग्राही थे तब अनेक कविगण उनके समीपवर्ती होकर विविध नाटक, प्रहसन, भाषा, अलंकार, चम्पू आदि निर्मित कर २ उन्हें समर्पण करते थे तब वे उन्हें सादर असंख्य पारितोषिक प्रदान करते थे। उस समय सर्वसाधारण पुरुषों की भी गीर्वाण वाणी ही मातृभाषा तथा व्यावहारिक भाषा हो गई थी ऐसे पृथ्वीराज के समय तक कुछ बर्ताव रहा, फिर यवनों का राज्य होने पर संस्कृत विद्या का व संगीत नाट्यादि का लेशमात्र भी न रहा, तथापि श्री तुलसीदास जी आदि महात्मावों ने कुछ न कुछ बर्ताव रक्खा ही; परन्तु यवनों का राज्य नष्ट होने के अनंतर श्रीमती महाराणी विक्टोरिया का राज्य हुआ, तब सब विद्वद्वरगणों के भाग्य उदित हुये और वैसा ही प्रचार होने लगा....'।

Common to both are also several contrivances intended to further the action of the drama, such as the writing of letters, the introduction of a play within a play, the restorations of the dead to life, and the use of the intoxication on the stage as a humourous device. Such a series of coincidences, in a case where influence or borrowing is absolutely out of the question, is an instructive instance of how similar developments can arise independently."

—ए० ए० मैकडॉनेल: 'ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिट्रेचर', लंदन, १६००, पृ० ३५०-३५१

अँगरेज़ी राज्य की स्थापना के बाद नवजागरण काल में भारतीय जीवन और साहित्य में युगान्तर उपस्थित हुआ। अँगरेज़ी साहित्य ने कैसे और किस प्रकार भारतीय विचारधारा को प्रभावित किया, यह दूसरे अध्याय में दिखाया जा चुका है। उससे देश में ज़बरदस्त परिवर्तन हुआ, नवजीवन का सञ्चार हुआ। यूरोप में भी नवोत्थान ने आधुनिक यूरोप को जन्म दिया। किन्तु वहाँ की नवचेतना भारत की आधुनिक नवचेतना के मुकाबले एक साधारण घटना थी। वहाँ एक पतनोन्मुख जाति का अपने प्राचीन साहित्य और कला की ओर ध्यान भर गया, यहाँ दो महान् जातियों के सम्पर्क द्वारा बड़े-बड़े परिवर्तन हुए जिनसे जीवन का कोई क्षेत्र अछूता न रहा। यूरोपीय नवचेतना का प्रभाव भारत जैसे बड़े देश और इतनी अधिक जन-संख्या पर भी न पड़ा। यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के भारतीय जीवन में बहुत बड़े अंश तक पुरातनत्व बना रहा, तो भी लोगों में नई उमङ्गों और आकांक्षाओं का जन्म हुआ। शिक्षित समुदाय ने प्राचीन साहित्य का अदम्य उत्साह के साथ अध्ययन शुरू किया। हिन्दी के साहित्यिकों ने इस अवसर से पूरा-पूरा लाभ उठाया। उन्होंने विविध प्रकार से साहित्य की श्रीवृद्धि और पुनर्निर्माण की ओर ध्यान दिया। नवीन आन्दोलनों ने उन्हें उपादान और सामग्री प्रदान की।

हिन्दी साहित्यिकों में से बहुत थोड़ों ने विश्वविद्यालयों की उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। लेकिन अधिकांश ने मध्यम श्रेणी (Secondary Stage) तक अँगरेज़ी शिक्षा अवश्य प्राप्त की थी। जो अँगरेज़ी न भी जानते थे, वे भी युग के प्रबल प्रभाव से बच नहीं सके। समय की प्रगति के साथ वे आगे बढ़ने के लिये तैयार थे। देशकाल के इस प्रभाव को समझने वाले प्रगतिशील लेखकों में गोपालचन्द्र उपनाम गिरिधरदास (१८३३-१८६०) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। वे अपने समय के प्रगतिशील व्यक्तियों में से थे। उन्होंने उस समय अपने घर की लड़कियाँ मदरसे पढ़ने भेजी थीं जब कि स्त्री-शिक्षा की ओर किसी का ध्यान भी न जाता था और जिसे लोग अच्छी निगाह न देखते थे। विशुद्ध नाटक-रीति के अनुसार उन्होंने 'नहुष' नामक पहले हिन्दी नाटक की १८५६ में रचना की।[1] इस पौराणिक नाटक की पूरी प्रति अब अप्राप्य है। अवशिष्ट भाग राधाकृष्णदास ने 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका', भाग ६, १६०५ में छपवाया था। तत्पश्चात् भारतेन्दु का उदय हुआ। वे

---

[1] 'नाटक', भारतेन्दु नाटकावली (१६२७), पृ० ८१७-८१८

प्रतिभाशाली और अपने पिता की भाँति प्रगतिशील व्यक्ति और हिन्दी साहित्य की चौमुखी नवीनता के प्रतीक थे। उनका व्यक्तित्व महान् था। हिन्दी भाषा और साहित्य की शोचनीय अवस्था और हिन्दी भाषियों की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक अधोगति देखकर उन्हें मर्मान्तक पीड़ा होती थी। पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव का वे उत्कृष्ट उदाहरण थे। हिन्दी भाषा और साहित्य पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने संस्कृत और अँगरेज़ी साहित्य का अध्ययन किया था। बङ्ग देश में वे नाटकों का सूत्रपात देख चुके थे। हिन्दी में ऐसे साहित्य के अभाव का अनुभव कर वे इस ओर अग्रसर हुए। और अपनी प्रतिभा, अथक परिश्रम और साहित्यिक अभिरुचि के ज़ोर से उन्होंने हिन्दी साहित्य को नए मार्ग पर लाकर खड़ा कर दिया।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने १८६८ में चौर कवि की संस्कृत रचना 'विद्या-सुन्दर' का अनुवाद प्रकाशित किया। विद्यासुन्दर की कथा बङ्गाल में बहुत प्रसिद्ध थी। उसी की छाया लेकर उन्होंने अनुवाद किया था। उसमें विद्या और सुन्दर की प्रेम-गाथा का अत्यन्त सुन्दर और रोचक वर्णन है। इस अनुवाद के बाद उन्होंने सामाजिक, धार्मिक, विशुद्ध साहित्यिक, पौराणिक और राष्ट्रीय एवं राजनीतिक नाटकों की रचना की। उनकी नाटकीय रचनाएँ तीन भागों में विभक्त की जा सकती हैं, अनूदित, मौलिक और अपूर्ण। अनूदित रचनाओं का उल्लेख आगे किया जायगा। मौलिक रचनाओं में 'सत्य हरिश्चन्द्र' (१८७५) पौराणिक आख्यान तथा चंडकौशिक[1] के आधार पर लिखा गया नाटक है। यह उनकी सर्वोत्कृष्ट मौलिक रचनाओं में से है। उन्हें यह रचना अत्यधिक प्रिय थी। उसमें सत्य-प्रतिज्ञ महाराज हरिश्चन्द्र की प्रसिद्ध कथा का वर्णन है। नाटक का प्रारम्भ नान्दी-पाठ तथा अन्य आवश्यक भूमिकाओं के साथ हुआ है और उसमें रूपक के सभी प्रमुख लक्षण विद्यमान है। किन्तु नाट्य-शास्त्र के विरुद्ध उसमें चार ही अङ्क हैं, जो एक प्रकार से नवीन प्रभाव है। उसमें वीर (सत्य वीर, दान-वीर) करुण और वीभत्स रसों का समावेश है और काशी, गङ्गा और श्मशान घाट के उत्तम वर्णन हैं। 'श्री चन्द्रावली नाटिका' (१८७६) में चन्द्रावली का श्रीकृष्ण के प्रति पूर्वानुराग-जनित दिव्य प्रेम, विरह और अन्त में मिलन का सुन्दर वर्णन है। उसमें उन्होंने अपनी पुष्टिमार्गीय भक्ति का

---

[1] दे०, 'माधुरी', मई, १९२५, भाग २, संख्या ४, पृ० ७४२-७४८

प्रतिपादन किया है। भागवत और सूरदास में भी चन्द्रावली का उल्लेख मिलता है। किन्तु उनमें उसकी कथा को अधिक विस्तार नहीं दिया गया। रचना-पद्धति की दृष्टि से 'चन्द्रावली' का हिन्दी साहित्य में विशेष स्थान है। नाट्य-शास्त्र के आचार्यों ने नाटक में रस और नाटिका में अनुकृति की प्रधानता मानी है। नाटिका के लगभग सभी लक्षणों से समन्वित 'चन्द्रावली' में अनुकृति के साथ-साथ रस का भी अपूर्व सम्मिलन है। उसमें शृंगार-रस में से वियोग शृंगार और उसकी एकादश दशाओं के अनुपम उदाहरण मिलते हैं। संयोग शृंगार केवल अन्त में मिलता है। उसकी काव्यात्मकता में रीतिकालीन कविता का प्रभाव है। किन्तु जहाँ एक ओर उसमें काव्यात्मकता के कारण सौन्दर्य की सृष्टि हुई है वहाँ दूसरी ओर कथोपकथन, अभिनय, आदि की दृष्टि से उसमें कुछ दोष भी आगए हैं। उसका प्रकृति-वर्णन परम्परा-विहित और उद्दीपनात्मक है। वास्तव में 'चन्द्रावली' नाटिका एक सुन्दर काव्यात्मक प्रेम-कहानी है जिसमें मानव-जीवन की पूरक प्रकृति के साहचर्य्य से अनुराग उत्पन्न हुआ है, जो मीरां के प्रेम की भाँति समस्त भौतिक सीमाओं का उल्लङ्घन कर अद्वैत की चरम भावना तक पहुँच जाता है और जिसमें काव्य के सभी तत्व विद्यमान हैं। 'चन्द्रावली' भी भारतेन्दु जी की प्रिय रचनाओं में से थी। ब्रजभाषा और संस्कृत में उसके अनुवाद हुए। 'विषस्य विषमौषधम्' (१८७६) भाण है। १८७५ में बड़ौदा के गायकवाड़ को कुप्रबन्ध के कारण गद्दी से उतारे जाने और उनके स्थान पर सयाजीराव के गद्दी पर बैठने की घटना के आधार पर उसकी रचना हुई। इसमें भण्डाचार्य जी का व्याख्यान पठनीय है। 'भारत दुर्दशा' (१८८०) छः अङ्कों में विभक्त नाट्य-रासक है जिसमें नाटककार ने भारत के प्राचीन गौरव और उसकी वर्तमान दुरवस्था का वर्णन किया है। इसका अन्त नैराश्यपूर्ण है। किन्तु उसी नैराश्य के कारण भारतीय दुरवस्था के कारणों का मूलोच्छेदन करने की इच्छा पैदा होती है। रचना-पद्धति की दृष्टि से नाट्य-रासक के सभी शास्त्रीय लक्षण उसमें नहीं मिलते। 'नीलदेवी' (१८८१) गीति-रूपक (वियोगान्त) है और रचना की दृष्टि से नवीन भेद है। इसका कथानक ऐतिहासिक है। रानी नीलदेवी गणिका के वेष में मुसलमानों से अपने पति सूर्यदेव के वध का बदला लेती है। भारतेन्दु के समय में ही 'नीलदेवी' का सफल अभिनय हुआ था। 'चन्द्रावली' में यदि लीलाओं और पारसी खेलों का प्रभाव है, तो 'नीलदेवी' पर स्वाँगों का प्रभाव है। मौलिक अपूर्ण रचनाओं में से 'प्रेमजोगिनी' (१८७५) के चार दृश्यों (गर्भांकों)

में काशी की वास्तविक दशा और वहाँ के गौरववान् दर्शनीय व्यक्तियों का उल्लेख है। उसमें उन्होंने अपने जीवन के सम्बन्ध में भी संकेत दिए हैं। उसके प्रथम दो दृश्य 'काशी के छाया-चित्र या दो भले-बुरे फ़ोटोग्राफ़' के नाम से भी प्रकाशित हुए थे। 'सती-प्रताप' (१८८३) नामक गीति-रूपक सावित्री-सत्यवान का पौराणिक आख्यान लेकर शुरू किया गया था, किन्तु अधूरा रह गया। १८९२ में राधाकृष्णदास ने उसे पूर्ण किया। १८८४ में 'भारत जननी' का तृतीय संस्करण प्रकाशित हुआ। 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका', 'मोहन चन्द्रिका' (कला ६, किरण ८, सं० १९३८, भाद्रपद) में तथा राधाकृष्णदास ने उसे भारतेन्दु-रचित लिखा है। भारतेन्दु ने भी उसे स्वरचित कहा है ('नाटक')। सम्भवतः उन्होंने दूसरे से अनुवाद करा और स्वयं शुद्ध कर उसे अपना बना लिया था। यह रचना सर्वप्रथम १८७७ के 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' पत्र में प्रकाशित हुई थी। बँगला के 'भारत-माता' के आशय पर उसका निर्माण हुआ। उसमें भारत भूमि और उसकी सन्तान की आपस की फूट, कलह, आदि के कारण दुर्दशा और भावी सुधार का वर्णन किया गया है। भारत माता एक खँडहर पर बैठी हैं और प्रस्तावना के बाद विभिन्न राग-रागनियों में भारत, सरस्वती, साहब, भारत-सन्तान, आदि अपने कथन करते हैं। धैर्य भारत को शान्ति देता है। अँगरेज़ उसकी दुरवस्था पर दुःख प्रकट कर दयालुता, निरपेक्षता, और प्रजा-पालन का वचन देता है। हिन्दू अपने कथन में कहता है कि हिन्दू अपना हिन्दूपन भूल बैठे हैं। अन्त में लेखक का देशभक्ति से पूर्ण वक्तव्य है। 'भारत जननी' एक छोटा-सा नाट्य-गीत (ऑपेरा) है। अपने संस्कृत और अँगरेज़ी नाट्य-शास्त्र के अध्ययन के आधार पर उन्होंने हिन्दी के नाट्य-शास्त्र, 'नाटक' (१८८३), का निर्माण किया। इस ग्रन्थ में उन्होंने नाट्य-शास्त्र का देशकाल और अवस्था के अनुसार परिवर्तित दशा के प्रकाश में अध्ययन किया है। प्राचीन आचार्यों के नियम उन्होंने ग्रहण किए हैं, परन्तु अन्ध-भक्ति के साथ नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि परिवर्तित समय के अनुसार उन्होंने पाश्चात्य नाट्य-शास्त्र का भी उपयोग किया है। बहुत-से अप्रयुक्त प्राचीन नियम छोड़ देने और उस काल में प्राचीन नियमों के अशास्त्रीय प्रचलित अर्थ ग्रहण करने में उन्होंने कोई हानि नहीं समझी, जैसे, उन्होंने 'गर्भांक' को 'दृश्य' के अर्थ में स्वीकार किया।[1]

---

[1] 'जैसे ही भाषा के प्राचीन कवियों ने नाटक का लिखना अति कठिन

संस्कृत में भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र का जो स्थान है, वही हिन्दी में भारतेन्दु के 'नाटक' का है। वह तत्कालीन नाटकीय दशाओं पर प्रकाश डालता है। यह बात अभी हिन्दी-आलोचकों ने महसूस नहीं की। भारतेन्दु की रचनाओं का अध्ययन करते समय उससे बहुत सहायता मिलती है। प्रहसन, नाटक, नाटिका, भाण, आदि रूपक के विभिन्न भेदों में रचना कर उन्होंने हिन्दी-भाषियों के सामने नाटक-रचना के जो उदाहरण रक्खे वे सब प्राचीन नाट्य-शास्त्र के नियमों के अनुसार खरे नहीं उतरते। परन्तु इस सम्बन्ध में कोई अन्तिम मत निर्धारित करने से पहिले 'नाटक' का अध्ययन कर लेना न्यायपूर्ण और उचित होगा।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटकों को हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं। पहला, सामाजिक और राजनीतिक नाटक, जैसे, 'भारत दुर्दशा,' 'नीलदेवी', आदि। दूसरा, पौराणिक नाटक, जैसे, 'सती प्रताप'। तीसरा, वे नाटक जिनका मूलाधार प्रेमतत्त्व है, जैसे, 'चन्द्रावली'। ये तीन भाग तीन उद्‌गमों के समान हैं, जिनसे तीन विभिन्न नाटकीय धाराएँ प्रवाहित हुईं— सामाजिक और राजनीतिक, पौराणिक और प्रेम-सम्बन्धी। पहले दो का साहित्यिक मूल्य कम है, यद्यपि संख्या में वे तीसरे से बहुत अधिक हैं। उसके लेखक धार्मिक, सामाजिक या राजनीतिक कथानकों को कई अङ्कों में विभाजित कर, उसके परिणाम को अन्त में रख कर अपने कर्त्तव्य की इति श्री समझ बैठे हैं। उनकी रचनाओं में कलात्मकता और विचार-गाम्भीर्य के दर्शन नहीं होते। प्रेम-सम्बन्धी कृतियों में रस, अलङ्कार, आदि साहित्यिक तत्वों का समावेश है।

समझा था वैसा ही आज कल्ह के भाषा वालों ने नाटक का लिखना सब से सहज समझ लिया है। आज कल्ह के भाषा वाले यही समझते हैं कि कई एक अंकों में पात्रों का नाम लिख कर जो उनका संभाषण लिखना है यही नाटक कहाता है। और कुछ मनमौजी शैली भी चला दी है कि एक अंक में अनेक गर्भांक भर देते हैं। आज कल्ह के भाषा वालों ने यह नहीं जाना कि गर्भांक क्या पदार्थ है केवल इतना ही समझ लिया है कि अंक के भीतरी जो अवांतर अवयव हैं उन्हीं का नाम गर्भांक है वस्तुगत्या नाटक के भीतर किसी एक अंक में जो नाटक दिखाया जाए तो उसका नाम गर्भांक है कहा भी है 'अंकोऽपर : स गर्भाङ्क : सबीज : फलवानपि' इति'।....

—पं० सुदर्शनाचार्य : 'अनर्घनल चरित्र महानाटक'-(१९०८) की भूमिका

भारतेन्दु का जीवन प्रेममय था। उनका प्रेम दो रूपों में प्रस्फुटित हुआ है—ईश्वरोन्मुख प्रेम और देश-प्रेम। 'चन्द्रावली' में उनका ईश्वरोन्मुख और 'सत्य हरिश्चन्द्र' में सत्य-प्रेम है। 'भारत दुर्दशा', 'नीलदेवी', आदि में देश-प्रेम अभिव्यक्त हुआ है। वल्लभ सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखते हुए भी उनका धर्म उन्हें धार्मिक असहिष्णुता और विद्वेष, व्यर्थ का वितण्डावाद और मतमतान्तरों का संघर्ष नहीं सिखाता था। वे सब धर्मों की समान गति में विश्वास रखते थे। वे संकुचित मनोवृत्ति और अन्ध-विश्वास से मुक्त थे। उनका प्रेम निरन्तर प्रसारोन्मुख था। अपना अस्तित्व पहिचानते हुए भी वे समस्त विश्व को अपनी बाहों में भरे हुए थे। मुसलमानों और ईसाइयों के प्रति प्रकट किए गए विचार उनके ऐतिहासिक अध्ययन और राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता के द्योतक हैं। राजनीति के दलदल से बाहर मनुष्यता के नाते उनमें इस्लाम, ईसाइयत या अन्य किसी मत से किसी प्रकार भी धार्मिक विद्वेष नहीं था। हिन्दू होने के नाते उनसे यही आशा भी थी। हिन्दू स्वभाव से सहिष्णु होता है। देश की अधोगति पर विचार करते समय उनका ध्यान बरबस विदेशी आक्रमणकारियों के घातक प्रभाव और भारत के प्राचीन आर्य-गौरव तथा पृथ्वीराज, पोरस, राणा प्रताप, शिवाजी, आदि वीरों की ओर आकृष्ट हो जाता और वीरतापूर्ण भीषण युद्धों के ज्वलन्त उदाहरणों में उनका नीरव राष्ट्रीय गान जग उठता था। भारत की दुरवस्था पर वे आँसू बहाते हुए रोग, महर्घ, कर, मद्य, आलस्य, धनहीनता, बलहीनता, अविद्या, पारस्परिक फूट और कलह, यवनों के कारण दुःख, पाश्चात्य सभ्यता का अन्धानुकरण, धार्मिक अन्धविश्वास, छूआछूत, दम्भ, पाखण्ड, भूत-प्रेत और अनेक देवी-देवताओं की पूजा, दुर्भिक्ष, निज भाषा के प्रति उदासीनता और फलतः अधःपतन, स्वदेशी के प्रचार का अभाव, देश के उद्योग-धन्धों का पतन, देश का आर्थिक शोषण, नाना प्रकार के मतों का बाहुल्य, अनैक्य, असंगठन, अन्धपरम्परा, आदि का उल्लेख और भारत में चारों ओर छाए हुए अँधियारे का अत्यन्त क्षोभपूर्ण शब्दों में वर्णन किया है। भारत के प्राचीन गौरव का स्मरण करते ही उन्हें 'सब विधि ते भई दुखारी' 'भारत भुव' की 'मसान' की भाँति दीन-हीन अवस्था की याद आ जाती थी और तब अपने हृदयोद्गारों को रोक न सकने के कारण वे निराश और विचलित हो उठते थे। 'नीलदेवी' के सातवें अङ्क में एक देवता के मुख से 'सब भाँति दैव प्रतिकूल होइ एहि नासा' आदि पंक्तियाँ कहला कर भारत-दुर्भाग्य का दुःखपूर्ण चित्र अंकित है। विक्टोरिया के व्यक्तित्व के माध्यम द्वारा

अँगरेज़ी राज्य के प्रति उनकी 'भक्ति' के पीछे प्राचीन भारत की 'राजा कृष्ण समान' वाली भावना काम कर रही थी। इसी लिए उन्होंने इँगलैंड के राजकुमार, महारानी विक्टोरिया, आदि को आर्येश्वर, आर्येश्वरी, माता, अम्ब, आदि नामों से सम्बोधित किया। किन्तु राज्य में छोटे-छोटे अँगरेज़ कर्मचारियों का जातीय पक्षपात, काले-गोरे का भेद-भाव, भारतवासियों के साथ दुर्व्यवहार, सरकारी पदों पर भारतवासियों का नियुक्त न होना, गवर्नर-जनरल और गवर्नर की कौंसिलों में उनका सदस्य नियुक्त न होना, भारत की निर्धनता और आर्थिक दुरवस्था, आदि बातें उन्हें मानसिक पीड़ा पहुँचाती थीं और अवसर मिलने पर वे उनका विरोध किए बिना न रहते थे। राष्ट्रीय-हित का ध्यान उन्हें सदैव बना रहता था। वे 'गवर्नमेंट के आदमी' नहीं थे। अहितकारी सरकारी नीतियों की उन्होंने सदैव कठोर आलोचना की। सामाजिक जीवन के किसी भी क्षेत्र में वे अभारतीयता और 'अँगरेज़ों के औगुन' अपनाने के कट्टर विरोधी और पाश्चात्य सभ्यता की अच्छी-अच्छी बातें ग्रहण करने के पक्षपाती थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र सच्चे अर्थों में भारतीय नवोत्थान के प्रतीक थे। राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों में अन्य नाटककारों की विचार-धारा भी भारतेन्दु की विचार-धारा के लगभग समान समझनी चाहिए।

परन्तु हिन्दी नाटकों का जितनी तीव्रगति से उत्थान हुआ, उतनी ही शीघ्रता के साथ उनका पतन हो गया। साहित्य के विद्यार्थी के लिए यह अत्यन्त रोचक और दिलचस्प विषय है। उत्तम मौलिक, साहित्यिक और सामाजिक नाटकों में केवल श्रीनिवासदास : 'रणधीर और प्रेममोहिनी' (१८७८), 'तप्तासंवरण' (१८८३) और 'संयोगिता स्वयंवर' (१८८५); राधाकृष्णदास : 'दुखिनी बाला' (१८८०), 'पद्मावती' (१८८२), 'धर्मालाप' (१८८५) और 'महाराणा प्रताप' (१८९७); किशोरीलाल गोस्वामी : 'मयङ्कमञ्जरी महानाटक' (१८९१); राव कृष्णदेवशरण सिंह : 'माधुरी रूपक', आदि रचनाओं की गणना हो सकती है। 'रणधीर और प्रेममोहिनी' रचना 'रोमियो ऐंड जूलियट' के ढङ्ग की है। कथानक कल्पित है। उसमें पाटन के राजकुमार रणधीर और सूरत की राजकुमारी प्रेममोहिनी की प्रेम-कहानी है। नाटक में आधुनिक और मध्ययुगीन समाज का मिश्रण है। नवीन शैली के अनुसार लिखा गया होने के कारण उसमें प्रस्तावना का अभाव है और अंत दुःखपूर्ण है। 'तप्तासंवरण' में तप्ता नायिका और संवरण नायक है। सूर्य भगवान् की पुत्री तप्ता ने अपने प्रेमी संवरण के ध्यान में मग्न हो गौतम मुनि का आगमन

न जाना, फलतः मुनि ने तप्ता को शाप दिया कि उसका प्रेमी उसे भूल जाय। किन्तु प्रार्थना करने पर शाप का परिहार इस प्रकार बताया कि शरीर-स्पर्श होते ही वह तुम्हें पहिचान जायगा। तप्ता विरह में योगिन बन जाती है। एक बार अनजाने मूर्छित संवरण को सम्हालते समय वे एक दूसरे को पहिचान जाते हैं और विवाह हो जाता है। नाटक शृङ्गारपूर्ण है। उसमें प्रस्तावना सहित पाँच अंक हैं। लेखक ने संस्कृत शैली पर अंकों में दृश्य नहीं रक्खे। 'संयोगिता स्वयंवर' की रचना चन्द कृत रासो और आत्माराम केशवजी द्विवेदी कृत 'पृथिराज चहुआण' से कथा-भाग लेकर हुई है। अंत में जयचन्द ने स्वयं अपनी कन्या का हाथ पृथ्वीराज के हाथ में दे दिया है और इस प्रकार लेखक ने तत्कालीन फूट और कलह बचा दी है। कथानक प्रस्तावना सहित पाँच अङ्कों और दृश्यों (गर्भाङ्कों) में विभाजित है। संस्कृत छन्दों में गाने भी हैं। 'दुखिनी बाला' में बाल-विवाह, जन्म-पत्र के अनुसार विवाह होने तथा विधवा-विवाह के अशुभ परिणाम दिखाए गए हैं। रूपक का प्रारम्भ प्रस्तावना से होता है; नान्दी-पाठ नहीं है। अन्त में भरत-वाक्य है। कथानक दृश्यों में, न कि अंकों में, विभाजित है। 'महारानी पद्मावती' ऐतिहासिक रूपक की रचना 'टाड राजस्थान', 'इतिहासतिमिर-नाशक' और 'पद्मावत' के आधार पर हुई है। नान्दी-पाठ, प्रस्तावना, आदि से उसका प्रारम्भ होता है। अन्त में महाराणी पद्मावती सब स्त्रियों के साथ अग्निमय गुफा में प्रवेश कर जाती हैं। कथानक अनेक दृश्यों सहित छः अङ्कों में विभाजित है। मुस्लिम पात्र उर्दू का प्रयोग करते हैं। 'धर्मालाप' में कोई अङ्क या दृश्य नहीं। वह केवल एक वार्तालाप के रूप में है। सनातन धर्म बीच में बैठा है और उसके चारों ओर पण्डित, वेदान्ती, शैव, शाक्त, वैष्णव, न्यू फ़ैशनिए, लाला लोग, बाबू साहब, दयानन्दी, ब्राह्मो, नेटिव क्रिश्चियन, थियोसोफ़िस्ट, आदि लड़कों के रूप में उसे घेरे हुए हैं। अन्त में प्रेमी भक्त कहता है कि हम न हिन्दू हैं, न मुसलमान, न यहूदी, न ईसाई। ईश्वर एक है, उस तक पहुँचने के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। सब भेद-भाव भूल कर लोगों को प्रेम, भक्ति और ज्ञान-प्रसूत अमृत का प्रचार करना चाहिए। यही सनातन धर्म है। 'महाराणा प्रताप' में उदयपुर के महाराणा प्रतापसिंह की वीरता तथा धीरता और अकबर की कुटिल राजनीति का वर्णन किया गया है। इस नाटक का कई बार अभिनय भी हुआ। उसका प्रारम्भ नान्दी-पाठ और प्रस्तावना से हुआ है और अन्त में भरत-वाक्य है। अनेक गर्भांकों सहित कथानक सात अंकों में विभाजित है। अंकों की संख्या प्राचीन नियमानुसार

है, किन्तु गर्भांकों में विभाजन और विषय उसके अनुसार नहीं है। 'मयङ्क मञ्जरी महानाटक' में अवन्तपुर के राजा महेन्द्रसिंह के मन्त्री सुमन्तदेव और उसकी स्त्री मनोरमा की पुत्री मयङ्कमञ्जरी राजा के पुत्र वीरेन्द्रसिंह के साथ गांधर्व विवाह कर लेती है। उसका पिता विरोध करता है। वह उसका विवाह नवद्वीपपुर के राजा नरेन्द्रसिंह के पुत्र बसन्तदेव के साथ करना चाहता है। बसन्त चरित्रहीन और विवाहित है। सुमन्त और बसन्त की ओर से षड्यन्त्र चलते हैं, किन्तु मयङ्क और वीरेन्द्र अपने साहस तथा शौर्य, स्थिर बुद्धि और विवेक से सब पर विजय पाते हैं और अन्त में उनका विवाह हो जाता है। उनके सखा-सखी आनन्दवल्लभ और कामिनी, और अनुराग वल्लभ और सौदामिनी भी विवाह कर लेते हैं। नाटक का प्रारम्भ प्रस्तावना से होता है और कथानक पाँच अंकों में विभाजित है। संस्कृत नाट्य-शास्त्र के अनुसार अंक उत्तरोत्तर छोटे होते गए हैं। अंक भी दृश्यों में विभाजित नहीं है। उसमें शृंगार और वीर-रस की प्रधानता तथा काव्य-तत्व की विशेषता है। नाटककार का ध्येय सुधार, ऐक्य, स्त्री-स्वतन्त्रता, आदि हैं। प्राचीन नाट्य-शास्त्र का पूर्ण पालन नहीं हुआ। मयंक और वीरेन्द्र का चुम्बन, दुर्जनबन्धु का वध, यात्रा, आदि ऐसी बातें हैं जो शास्त्रीय दृष्टि से वर्जित मानी गई हैं। खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर से प्रकाशित 'माधुरी' रूपक के लेखक भारतेन्दु माने गए हैं। राधाकृष्णदास ने उसे भारतेन्दु द्वारा सम्पादित, संग्रहीत व उत्साह देकर बनवाए ग्रन्थों में रक्खा है। बा० ब्रजरत्नदास ने राव कृष्णदेवशरण सिंह को वास्तविक लेखक माना है। 'माधुरी' रूपक की रचना भारतेन्दु कृत 'चन्द्रावली' के अनुकरण पर हुई है। किन्तु उसमें भारतेन्दु की रचना के समान सच्ची अनुभूति नहीं है। चन्द्रावली का स्थान माधुरी ने ले लिया है। चन्द्रावली का कृष्ण के साथ मिलन हो जाता है, किन्तु माधुरी मूर्च्छित होकर गिर पड़ती है और कथानक समाप्त हो जाता है। 'चन्द्रावली' की भाँति 'माधुरी' में भी खड़ीबोली और ब्रजभाषा गद्य तथा कविताओं का प्रयोग हुआ है। राधाकृष्ण-दास की रचनाओं में देश-हित, समाज-हित और धर्म-हित प्रधान हैं। शेष रचनाओं का कथानक प्रेमतत्व पर आधारित है, यद्यपि, उनमें भी तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक एवं पौराणिक प्रभावों का नितान्त अभाव नहीं है। कथानकों के संक्षिप्त परिचयों से ज्ञात हो जाता है कि ये रचनाएँ भारतेन्दु द्वारा स्थापित नाटकीय परम्पराओं को आगे बढ़ाती हैं, वे हमें तत्कालीन नाटकीय गतिविधि से परिचित कराती

हैं। परन्तु उच्चकोटि के नाटकों की परम्परा थोड़े दिन चलकर बन्द हो गई।

उपर्युक्त उच्चकोटि के नाटकों के अतिरिक्त भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और श्रीनिवासदास के जीवन-काल में तथा उनकी मृत्यु के बाद निश्चित रूप से हिन्दी में कोई अपूर्व और मनोहर नाटक-ग्रन्थ देखने में नहीं आता। नाटकों की जैसी दुर्दशा उन दिनों हो गई थी उसे देख कर साहित्य-रसिकों को बड़ा दुःख होता था। स्वयं श्रीनिवासदास ने 'तप्तासंवरण' में लिखा है:

> 'नट—....इस देश मैं कोई भला मानस नाटक करै तो उसकी बड़ी चर्चा हो।
>
> सूत्रधार—हाँ अब तो ऐसे ही है पर पहले यह बात न थी क्योंकि होती तो कालिदासादि महाकवि नाटक न रचते और नाटक उत्तम काव्यों की गणना में न होता। देशान्तर मैं तो इसका अब भी बड़ा प्रचार है ईश्वर करै यहाँ के मनुष्य भी इसका आनन्द लें।'

'चौपट चपेट' (१८९१) नामक प्रहसन में किशोरीलाल गोस्वामी का कथन है:

> 'हिंदी के अभाग्यवश जब से भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र-जी परलोक सिधारे हैं तब से साहित्य की बड़ी दुर्दशा हो रही है गद्य तो जो है सो हुई है पर पद्य की दशा ऐसी भयानक हो रही है कि देखते ही शरीर काँप उठता है बहुत से मूर्खाधिराज कविता का श्राद्ध करने पर उतारू भये हैं, अस्तु और नाटक-विद्या को तो कदाचित् बाबू साहब अपने संग ही ले गये हों, उनके पीछे दो-एक रूपक कि जिनसे घण्टा भर जी लगै, छोड़ के और आज तक कोई नाटक नहीं बने जिससे हिन्दी भाषा की पुष्टि होय, यह अभाग्य नहीं तो क्या है?'

उनके 'मयङ्कमञ्जरी' (१८९१) में सूत्रधार कहता है:

> '....जिस देश में इस विद्या का प्रथम २ प्रचार भया, और संगीत-साहित्य परिपक्व होकर पृथ्वी भर में व्याप गये, आज वहां के निवासी नाटक का नाम तक नहीं जानते, यदि है तो इन्द्र-सभा पारसियों के शतरंजी मशाल वाले भ्रष्ट खेल ही पर नाटकों की इति श्री है. खेलना तो दूर रहै, जो नाटक रचे, या अभिनय करे, वह हास्यास्पद गिना जाता है. छि छि!! (सहर्ष) हाँ! यदि श्रीकृष्णचन्द्र ने स्वयं अपने पुत्रों को रंभाभिसार आदि नाटक खेलने की आज्ञा न दी होती, और

महाकवि कालिदास आदि इसके रचियता न होते तो सत्य ही आज यह विद्या सब लोप हो जाती, या नीच विद्या गिनी जाती, (चारों ओर देख के) अहह ! प्रायः थोड़े ही दिनों से रसिकों की इधर भी दृष्टि पड़ी है यद्यपि अभी भी इसका प्रचुर प्रचार और तादृश आदर नहीं भया है, पर होनहार बात का प्रकाश पहले ही भास जाता है...'

लाली का 'गोपीचन्द नाटक' (१८६६) में कहना है :

'विश्व विख्यात भवभूति और कालिदास के समय से दृश्य या काव्य नाटक का आरम्भ माना जाता है कुछ अनुचित नहीं है। उस काल, आजकल की भाँति नाटक का नाम निंदा का पात्र नहीं था। इस अपयश का दोष नाटक का काम करने वाले अज्ञान मनुष्यों पर दिया जा सकता है।'

रामकृष्ण वर्मा का 'कृष्णाकुमारी नाटक' में कहना है :

'...जब से श्रीयुत भारतभूषण भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र ने और विशेषतः विद्वद् शिरोमणि ला० श्रीनिवासदास जी ने इस भारत वर्ष को छोड़ स्वर्गलोक को भूषित किया तब से अभागिनी हिन्दी में कोई भी नाटक उपन्यास अथवा कोई अपूर्व मनोहर ग्रन्थ देखने में न आया। नाटकों की जैसी कुछ दुर्दशा इन दिनों है वह केवल वे ही लोग जान सकते हैं जो नाटक के गुण दोष और लक्षणों से अभिज्ञ हैं। इन दिनों यह परिपाटी पड़ गई है कि दो तीन पुरुषों की बातचीत अथवा रङ्गभूमि पर व्यर्थ ही हाथ पैर हिलाने हो को लोग नाटक कह देते हैं। स्वर्गवासी बाबू हरिश्चन्द्र जी ने इन दोषों को दूर करने और लोगों को नाटक के लक्षण और लाभ समझाने के लिये 'नाटक' नामक एक उत्तम ग्रन्थ लिखा था परन्तु आलसी लोग उसे कब देखते हैं....'

देवकीनन्दन त्रिपाठी कृत 'सैंकड़े में दश-दश' (हस्तलिखित) नामक प्रहसन में निम्नलिखित वार्तालाप से भी उस समय नाटक के सम्बन्ध में साधारण लोगों के विचार मालूम होते हैं :

'प्रमोदविहारी—नारायण, फिर भी ऐसी बात कहते हो, जाने दो भड़इन को चलो नाट्यशाला को चलैं जहाँ कुछ उन्नति की बातें होती हैं, वहाँ है क्या और नाहक इज्जत गँवाना है।

दुलारीचरन—(खींच के) अजी साहब क्या बकते हो पागल हो

गये हो क्या जो नाट्यशाला २ पुकार रहे हो भले आदमियों के शाला होने से पेट नहीं भरा अब नटों का शाला होंने पर भरेगा....

× × ×

दु०—भला दो घड़ी से नाट्यशाला २ बक रहे हो हमें इसका अर्थ तो बताओ यह ससुरी कौन सी चीज़ है जो तुम उस पर आसक्त हो गये।

× × ×

दु०—नाटक किस चिड़िया का नाम है ?

प्र०—ड्रामा २—ड्रामा समझते हो कि नहीं ?

दु०—जी हाँ ड्रामा को ज़रा उर्दू में तो बयान कीजिये।

प्र०—उर्दू में तो इसकी कहीं भी ज़िकिर नहीं है हम कहाँ से बयान करें, आप ड्रामा के माने नहीं जानते ?

दु०—ड्रामा—!! (सोच के) जी हाँ जानता हूँ एक तरह की किताब अँगरेज़ी में होती है लेकिन उसका यहाँ पर क्या काम है ? आप क्या उसी वाहिआत किताब को पढ़कर ऐसा पागल हो गये ?

प्र०—वाह जी वाह, आप तो कुछ २ अँगरेज़ी भी जानते हैं तो भी ऐसी अद्द की सद्द समझ ? ज़रा अकिल में तेल का पुचाड़ा देकर आवो तो ड्रामा का अर्थ समझ पड़े।

× × ×

इन्द्रनाथ—(हँसके) अजी साहब एक दफ़े एक चवन्नी खरचो तो जान पड़े नाटक क्या चीज है।'

यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में ट्रेजेडी और मेलोड्रामा से लेकर कॉमेडी और प्रहसन तक सैकड़ों नाटकों की रचना हुई, तो भी आज साहित्य के विद्यार्थियों को उनके विषय में बहुत कम मालूम है। हिन्दी की साधु अभिनयशालाओं के अभाव में नाटककारों को बहुत जल्दी प्रतिद्वन्द्वी नाटकीय दशाओं का सामना करना पड़ा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के जीवन-काल में ही सस्ते और भद्दे ढङ्ग के पारसी थिएटरों का प्रचार हो गया था।[१] उनकी तड़क-भड़क और चलते हुए सस्ते गानों से अशिक्षित जनता का काफी मनोरञ्जन हुआ और वह उन्हीं की ओर अधिकाधिक आकृष्ट होती गई। उसका परिणाम यह हुआ कि बहुत-से नाटककार केवल रुपया बनाने

[१] 'नाटक', भारतेन्दु नाटकावली १९२७), पृ० ७६०, ८६८-८६६

के लोभ से जनता की रुचि के अनुकूल रचनाएँ करने लगे। विचारवान् साहित्यिक इस प्रथा को साहित्य की सम्यक् प्रगति के लिये सर्वथा हानिकारक समझते थे।[1] अयोध्यासिंह उपाध्याय (१८६५-१९४७): 'प्रद्युम्न विजय व्यायोग' (१८९३) और 'श्री रुक्मिणी परिणय' (१८९४), और रामकृष्ण वर्मा ने (अनुवादों द्वारा) लोगों का ध्यान देश-हितैषिता और नाट्य-कला-चातुर्य्य की ओर आकृष्ट करना चाहा। 'प्रद्युम्न विजय व्यायोग' हरिवंश पर्व के कथा-भाग के आधार और हरिश्चन्द्र कृत 'धनञ्जय-विजय' की छाया पर विरचित है। 'रुक्मिणी परिणय' भागवत की प्रसिद्ध कथा और नान्दी-पाठ तथा अन्य आवश्यक लक्षणों सहित नौ अङ्कों में विभाजित है। अङ्कों में दृश्य भी नहीं हैं। रामकृष्ण वर्मा कृत 'कृष्णाकुमारी नाटक' में सूत्रधार कहता है:

> '....ये विद्वज्जन् रासलीला, इन्द्रसभा, पारसीलीला, लैला मजनू, गुलाबकावली तथा भारत जननी इत्यादि नाटकों से क्या प्रसन्न होंगे? जैसे भ्रमर नित्य नई २ सुमन वासना का रसिक होता है वैसे ही विद्वज्जन् नित्य २ नई २ कला चातुरी के अनुरागी होते हैं सो प्रिये! इन्हें कोई नूतन नाटक जो देश हितैषिता इत्यादि गुणों से भूषित हो दिखाना चाहिये।'

परन्तु उनको अपने पुनीत कार्य में सफलता न मिल सकी। सच बात तो यह है कि शिक्षा के अभाव में हिन्दी जनता की रुचि ही विकृत हो गई थी। जनता की रुचि का परिष्कार करने के बजाय हिन्दी नाटककारों ने उसकी माँग की पूर्ति की और जनता को जैसा कुछ मिल गया उसने उसी से अपना दिल बहलाया। भारतेन्दु के जीवन-काल में और विशेषकर उनकी मृत्यु के बाद सस्ते नाटकों की हिन्दी में भरमार हो गई। इस प्रकार नाटक साहित्य का गम्भीर अङ्ग न बन पाया। तमाशा देखने वाले लोग थिएटर में जाने से पहले अपना दिमाग़ घर पर ही छोड़ जाते थे।

इधर तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके कुछ साथी अपनी प्रतिभा के बल पर उच्चकोटि के और प्रभावशाली नाटकों की रचना कर साहित्य के निर्माण में योग दे रहे थे, उधर अधिकतर नाटककार विषय की दृष्टि से भारतेन्दु से प्रेरणा ग्रहण कर प्रचलित रङ्गमञ्च के लिये नाटक-रचना कर रहे थे। ऐसे नाटककारों में देवकीनन्दन त्रिपाठी (१८७० ई० का०): 'सीताहरण

---

[1] वही, पृ० ८११

नाटक' (ई०, १८७६), 'रुक्मिणीहरण नाटक' (ई०, १८७६), 'रामलीला नाटक' (ई०, १८७६ से पूर्व), 'कंसवध नाटक' (ई०, १८७६), 'नन्दोत्सव नाटक' (ई०, १८८०), 'लक्ष्मी सरस्वती मिलन नाटक' (ई०, १८८१), 'प्रचण्ड गोरक्षण नाटक' (ई०, १८८१), 'बालविवाह नाटक' (ई०, १८८१) और 'गोवध-निषेध नाटक' (ई०, १८८१); लाल खड्गबहादुरमल (१८७३ र० का०): 'रतिकुसुमायुध नाटक' (१८८५), 'महारास नाटक' (१८८५), 'हरतालिका नाटिका' (१८८७), 'भारत ललना' (१८८८) और 'कल्पवृक्ष नाटक' (१८८७); अम्बिकादत्त व्यासः 'ललिता नाटिका' (१८८३), 'गोसङ्कट नाटक' (१८८६), 'मन की उमङ्ग' (१८८६) और 'भारत सौभाग्य' (१८८७); बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन': 'भारत सौभाग्य' (१८८६); बलदेव प्रसाद मिश्र (१८६६-१६०४): 'मीराबाई' (१८६७) और 'नन्दविदा' (१६००); तोताराम वर्मा: 'विवाह विडम्बन नाटक' (१६००); दामोदर शास्त्री (१८७३ र० का०): 'रामलीला' (१८८२-१८८८); प्रतापनारायण मिश्र: 'भारत दुर्दशा रूपक' और 'कलिकौतुक रूपक' (१८६०); ज्वालाप्रसाद मिश्र (१८६२—१): 'सीतावनवास' (१८६५); लालीः 'गोपीचन्द' (१८६६); अजमेर के छगनलाल कासलीवालः 'सत्यवती नाटक' (१८६६); और दुर्गाप्रसाद मिश्र: 'प्रभास मिलन' (१८६६), आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। और भी अनेक नाटककारों[1] ने, जिनके नामों का यहाँ उल्लेख नहीं किया गया, उनको सहयोग

---

[1] इनके अतिरिक्त श्रीकृष्ण काश्मीरी उर्फ़ वकरूः 'विद्याविलासिनी वा सुखवर्धिनी नाटक' (१८८४), विजयानन्द त्रिपाठीः 'महामोह विद्रावण नाटक' (१८८४), कमलाचरण मिश्र: 'अद्भुत नाटक' (१८८५), भारतीय श्री जगन्नाथः 'वर्ण व्यवस्था' (१८८७), जीवानन्द ज्योतिर्विद्: 'मङ्गल नाटक' (१८८७), घनश्यामदास: 'वृद्धावस्था विवाह नाटक' (१८८८), शालिग्राम वैश्य: 'मोरध्वज नाटक' (१८९०), 'रत्नाकर' के सम्पादक शिवराम पांडेयः 'होली दर्पण नाटक' (१८९१), विचित्र कवि गोस्वामी रामाचार्य गिरि: 'द्रौपदी चीर हरण नाटक' (१८९२), जगतनारायण: 'अकबर गो-रक्षा न्याय नाटक' (१८९२), मंसाराम: 'ध्रुव तपस्या वा ध्रुवाख्यान' (१८९१), मलवाड़ी के बन्धीदीन दिक्षित: 'श्री सीता हरण' (१८९२), प्रभुलाल कायस्थ: 'द्रौपदी वस्त्र हरण' (१८९६), जवाहरलाल वैद्य: 'कमलमोहिनी भँवरसिंह' (१८९६), देवदत्त शर्मा: 'बाल्य विवाह नाटक' (१८९७), छुट्टनलाल: 'बालविवाह',

दिया। इनमें से अधिकतर रचनाओं के शीर्षकों से उनके विषयों का अनुमान लगाया जा सकता है। 'सीताहरण' वाल्मीकि और 'रुक्मिणी हरण' भागवत के आधार पर प्रस्तावना और गर्भांकों (दृश्यों) सहित पाँच-पाँच अंकों में हैं। इसी प्रकार 'कंस-वध' है। 'नन्दोत्सव' में कृष्ण-जन्म की कथा है। उसमें प्रस्तावना नहीं रक्खी गई और अंक चार हैं। नन्द, यशोदा, रोहिणी, आदि खड़ीबोली और गोप ब्रजभाषा का प्रयोग करते हैं। 'बालविवाह नाटक' में तीन अंक है और प्रस्तावना का अभाव है। प्रत्येक अंक गर्भांकों में विभाजित है। 'प्रचण्ड गो-रक्षण' में प्रस्तावना है तो भरत वाक्य नहीं है और कथानक गर्भांकों सहित केवल दो अंकों में विभाजित है। नाटक में गो-वध के सम्बन्ध में हिन्दू-मुस्लिम झगड़े और कचहरी द्वारा हिन्दुओं के पक्ष में निर्णय का उल्लेख है। 'रतिकुसुमायुध' शृंगार रस का रूपक है जिसमें धर्मोक्त परस्पर अनुराग का वर्णन है। नान्दी-पाठ नहीं है। गाने-बजाने के साथ कथानक पाँच दृश्यों में विभाजित है। 'महारास' की रचना भागवत के २९-३२ अध्यायों के आधार पर हुई है और वह शृंगार रस का रूपक है। नान्दी-पाठ और प्रस्तावना हैं, किन्तु अंक चार ही हैं। 'हरतालिका' में पार्वती के भादों शुक्ल ३ हस्त नक्षत्र के व्रत की कथा है। चार अंकों को चार दृश्य लिखा गया है। 'कल्पवृक्ष' की कथा हरिवंश पुराण के ११७-१२८ अध्यायों से ली गई है। उसमें शृंगार, वीर, रौद्र, अद्भुत, वीभत्स रस और कुछ नीति और उपदेश की बातें भी हैं। हरि-चरित्र का वर्णन प्रस्तावना सहित चार अंकों में हैं। 'प्रेमघन' के 'भारत सौभाग्य' में विषय राजनीतिक और राष्ट्रीय है। इलाहाबाद कॉंग्रेस के समय उसकी रचना हुई थी और

चम्पावती चन्द्रसेन : 'वारिदनाद वध', आदि ने पौराणिक और सामाजिक, अधिकतर पौराणिक, नाटकों की रचना की। ग्रन्थों के शीर्षकों से उनके विषयों के सम्बन्ध में सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। भारतेन्दु के बाद अर्थात् १८८४ से १९०० तक की नाट्य-रचनाओं की गतिविधि पर भी उनसे अच्छा प्रकाश पड़ता है। 'सती सीता स्वयम्वर', 'भर्तृहरि राज त्याग', आदि अन्य अनेक इसी प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं। रत्नचन्द्र (१८४०-१९११) कृत 'हिन्दी-उर्दू नाटक', भाग १ (१८९०) वास्तव में नाटक न होकर हिन्दी-उर्दू के सम्बन्ध में साधारण संवाद-ग्रन्थ है। भारतेन्दु कृत 'नाटक' (पृ० ८४१-८४२) और मिश्रबन्धु कृत 'विनोद' में दी गई सूचियों से भी अन्य अनेक नाटककारों और उनकी कृतियों का पता चलता है।

उसी के विचारों की उस पर छाप है। अम्बिकादत्त व्यास के 'भारत सौभाग्य' में अँगरेज़ी राज्य का गुण-गान है। 'विवाह विडम्बन' में बाल-विवाह और विवाहोत्सवों में अपव्यय का कुपरिणाम दिखाया है। नाटक नवीन रीति से लिखा गया है। नान्दी-पाठ और प्रस्तावना नहीं है। कथानक चार अंकों में विभाजित है। नीच पात्र और स्त्रियाँ ब्रजभाषा का प्रयोग करती हैं। 'गोपीचन्द' की कथा पौराणिक किन्तु प्रस्तावना से रहित तीन अंकों में विभाजित है। 'प्रभास मिलन' में नारद द्वारिका में स्थित कृष्ण से सौ वर्ष से विरह-पीड़ित नन्द-यशोदा आदि का कृष्ण द्वारा दान-यज्ञ करा कर मिलन कराते हैं। नाटक की रचना नवीन रीति से हुई है। नान्दी-पाठ, प्रस्तावना, आदि नहीं हैं और गर्भांक सहित छः अंक हैं। इस नाटक में एक विचित्र काल-दोष है। कृष्ण के पुत्र कहते हैं :

'मैं तो कहूं हूं आजकल इस समय अँगरेज़ी गेंद बल्ला खेलो।'

'वोही किरकिटी सिरफटि जाने क्या कहे हैं, आया याद अरे भइ इसका नाम किरकिट है'।

किन्तु अन्त में वे कबड्डी खेलते हैं। कृष्ण जी के लड़के उनकी दाढ़ी पकड़ कर भी हिला लेते हैं। 'कलिकौतुक रूपक' में घरेलू जीवन, विद्यार्थी जीवन और सार्वजनिक जीवन के दोषों, कुकर्मों और पापाचारों का उल्लेख है। उपर्युक्त नाटकों में से कुछ के संक्षिप्त परिचय से विषय और प्राचीन तथा नवीन के मिश्रण या नितान्त नवीन नाटकीय रचना-विधान का ज्ञान भी प्राप्त हो जाता है। पारसी खेलों का प्रभाव लगभग सभी रचनाओं पर पाया जाता है। इन लेखकों ने देशहित और समाज-सुधार के साथ जनता के मनोरञ्जन का भी विशेष ध्यान रक्खा। उन्होंने इन्द्रसभा, गुलबकावली, लैलामजनू, आदि नाटकों के बदले ऐसे नाटक जनता के सामने रक्खे, जिनमें गाना-बजाना तो इन्हीं की भाँति था, परन्तु ध्येय देशोपकारी और धर्मरक्षक था। मानों उन्होंने भारत को नष्ट होने से बचाने के लिये एक सार्वजनिक आयोजना तैयार की हो। उनका ध्यान पारसी रङ्गमञ्च पर था, परन्तु ध्येय लोकहितकारी था। जगतनारायण अपने 'अबकर गो-रक्षा न्याय नाटक' (१८६५) की भूमिका में कहते हैं :

'एक दिन हमारे चार पाँच मित्र हमको नाटकशाला में एक नाटक दिखाने के लिये ले गये. जब नाटक समाप्त हो गया और मित्र लोग अपने अपने घर जाने लगे तो हमने उनसे पूछा कि आप लोगों ने इस नाटक के देखने से क्या लाभ प्राप्त किया है सो हमको बतलाइये।

उन्होंने उत्तर दिया कि और लाभ तो कुछ नहीं प्राप्त हुआ केवल गायन का आनन्द मिला है। हमने कहा कि नाटक देखने को हम मना नहीं करते हैं क्योंकि नाटक प्राचीन समय से होते आये हैं और लोग देखते भी आये हैं पर इतना तो हम ज़रूर कहेंगे कि जो रीति प्राचीन समय के नाटकों की थी वह आजकल के नाटकों की नहीं है। मित्रों ने कहा कि प्राचीन समय के नाटकों की क्या रीति थी? हमने कहा कि प्राचीन समय के नाटकों की यह रीति थी कि जब कभी धर्म अथवा देश में कोई बुराई भलाई पड़ जाती थी तो बुराई के दूर करने और भलाई के फैलाने के लिये नाटक किया करते थे कि जिसको देखने से मनुष्यों के हृदय में बुराई से घृणा और भलाई से प्रीति उत्पन्न हो जाती थी सो अब इन नाटकों से भलाई के बदले बुराई बहुत उत्पन्न होती है। हाँ! यदि आपको नाटकों का आनन्द लेना हो तो काशी निवासी श्रीयुत बाबू हरिश्चन्द्र जी के नाटकों को पढ़िये खेलिये खिलाइये आनन्द पाइये। उन्होंने उत्तर दिया कि बाबू जी के नाटकों में आजकल के नाटकों की भाँति गायन नहीं है, हम लोग क्या करें? प्रायः बहुत से लोगों को गायन सुन्ने के लिये ही आजकल के नाटकों में जाना पड़ता है, हाँ! यदि कोई धर्म अथवा देश सम्बन्धी ऐसा नाटक हो जिसमें आजकल के नाटकों की भाँति गायन हो तो हम आजकल के बुरे नाटकों को देखने न जायें अथवा आप कोई ऐसा नाटक बना दें तो हम आपका बहुत उपकार मानेंगे। हमने उत्तर दिया कि यदि ऐसा नाटक हम बना भी दें तो हमारे पास पात्र कहाँ हैं जो अभिनय कर दिखावें! उन्होंने कहा कि यदि अभिनय न भी हो तो हम स्वयं ही गाकर आनन्द लिया करेंगे। हमने कहा कि बहुत अच्छा हम आजकल के नाटकों के गायन में आप लोगों को एक नाटक बना देंगे।'

नाटक के प्रारम्भ में नटी और सूत्रधार कहते हैं :

'नटी—स्वामी इन लोगों को तो, इन्द्रसभा, गुलबकावली, लैला मजनू, इत्यादि नाटक रुचेंगे, भला हमारा नाटक इनको काहे को पसन्द आयेगा, क्योंकि हमारी भाषा में यवन भाषा के शब्दों का आनन्द कहाँ।

सूत्रधार—हे प्यारी घबरा मत! हम इनको इन्द्रसभा इत्यादि नाटकों की ही भाँति कोई नाटक दिखलावेंगे।

नटी—हे पति ! यदि आप इन्द्रसभा आदि नाटकों की ही भाँति कोई नाटक दिखलाना चाहते हैं तो उन्हीं में से कोई नाटक दिखलाइये।

सूत्रधार—प्राणप्यारी मेरा अभिप्राय इन्द्रसभा इत्यादि नाटकों की भाँति यह नहीं है कि जैसे इन नाटकों को देखकर हमारा भारत नाश हुआ है वैसे ही इनके तुल्य एक और दिखलाकर नाश करूँ, परंतु यह इच्छा है कि गाना बजाना तो इन्हीं की भाँति हो किन्तु देशोपकारी और धर्मरक्षक हो।'

जनता की धार्मिक प्रवृत्ति की परितुष्टि के लिए उन्होंने पौराणिक कथानक भी रक्खे। बहुत-से नाटकों में भक्तों के उज्ज्वल चरित्र की गाथा गाई गई है। रासधारियों और स्वाँगवालों की मोरध्वज, गोपीचन्द, ध्रुव, द्रौपदी, कंस, आदि लीलाओं में भी इस पक्ष को प्रधानता दी जाती थी। श्रद्धापरायण जनता की मानसिक परितुष्टि और मनबहलाव के साथ-साथ नाटककार उसे सद्प्रवृत्ति की ओर ले जाना चाहते थे। उसके मृतप्राय जीवन में जान फूँकने के लिए ये रचनाएँ काफ़ी थीं। सीता, द्रौपदी और रुक्मिणी का पातिव्रत धर्म, भक्तों की सहनशीलता और प्रेम-गाथाओं की रसीली बातें लोगों को अत्यन्त प्रिय लगती थीं। उन्हें देखकर उनमें उत्साह का समुद्र उमड़ पड़ता था। इन सब बातों के साथ नाच-गानों और चमकीली पोशाकों से उनकी तबियत फड़क उठती थी। ऐसी रचनाओं में श्रेष्ठ नाटकीय गुण और कलातत्व की आशा करना व्यर्थ है।

साधु अभिनयशाला के अभाव और पारसी रङ्गमञ्च के विनाशकारी प्रभाव के अलावा, जो स्वयं भारतेन्दु के 'चन्द्रावली', 'भारत दुर्दशा' और 'नीलदेवी' नाटकों में भी दृष्टिगोचर होता है, भारतेन्दु के अनुगामियों के ही हाथों हिन्दी-नाट्य-साहित्य का ह्रास हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नाट्य-कला में ही दक्षता नहीं दिखलाई, वरन् उन्होंने अपनी रचनाओं में देश की दुरवस्था का दिग्दर्शन कराकर उसके प्रतिकार की चेष्टा भी की है। क्योंकि नाटक में केवल हृद्गत भावनाओं का ही स्पष्टीकरण नहीं रहता, उसमें समाज के बाह्य जीवन का अनुकरण भी रहता है। उसमें मनोरञ्जन ही नहीं, वरन् समाजहित की भावना भी निहित रहती है। उनकी आँखों के सामने समाज नाशोन्मुख हो रहा था। भारत के पुनर्जीवन के लिये जीर्णशीर्ण सामाजिक जीवन को प्राणदान देना अत्यन्त आवश्यक था। बाल-विवाह, नशाखोरी, वेश्यावृत्ति, अविद्या, फ़िज़ूलख़र्ची, पश्चिम का अन्धानुकरण,

विदेशी वस्तुओं का अत्यधिक प्रयोग आदि कुरीतियाँ समाज में घुन का काम दे रही थीं। आर्य समाज बड़ी तत्परता के साथ समाज-सुधार में प्रवृत्त था ही। मुसलमानों द्वारा गो-वध, हिन्दुओं को मुसलमान बनाना, आदि धार्मिक अत्याचार याद कर सब भारतीय तिलमिला उठते थे। 'इंडियन नैशनल काँग्रेस ने भी देश के जीवन में काफ़ी जागृति पैदा कर दी थी, जैसा कि बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' और अम्बिकादत्त व्यास के 'भारत सौभाग्य' नामक एक नाम के दो नाटकों से स्पष्ट है। नए करों, आर्थिक दुरवस्था, शासन-सुधार, नवीन शिक्षा, पश्चिमी सभ्यता के कुप्रभावों, राजनीतिक प्रगति, शिक्षा का अभाव, काले-गोरे का भेद-भाव, आदि बातों ने उस समय उग्र रूप धारण कर लिया था। ऐसी अवस्था में किसी भी साहित्यिक के लिए इन आन्दोलनों के प्रभाव से बचना कठिन था। प्रत्येक लेखक को देश-हित और समाज-सुधार की धुन पैदा हो गई। बड़े-बड़े विद्वान् इस ओर विशेष रूप से चिन्तित थे। भारतेन्दु, श्रीनिवासदास, आदि जैसे लेखक जब तक ज़बर्दस्ती समाज से विमुख होने का प्रयत्न न करते तब तक उनका उससे बचना दुष्प्राय ही था। 'चन्द्रावली' और 'तप्तासंवरण' में विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से कला को प्रधानता मिली है। परन्तु देश के संक्रान्ति-काल में इस ओर वे अधिक योग न दे सके। अन्त में उन्हें समाज की तरफ़ मुड़ना ही पड़ता था। दूसरे लेखकों ने भी उनका अनुकरण किया। चारों तरफ़ नाट्य-साहित्य द्वारा सामाजिक और राजनीतिक समस्याएँ हल करने का प्रयत्न होने लगा। धार्मिक अराजकता दूर करने में लेखकों ने अपनी सारी शक्ति लगा दी। परन्तु इन महत्त्वपूर्ण विषयों का सुन्दर रूप से प्रतिपादन करने के लिए प्रतिभावान् कलाकार की आवश्यकता है, ऐसे कलाकोविद की, जो सांसारिक घटनाओं को जनसाधारण के धरातल से ऊपर उठ कर विस्तृत दृष्टिकोण से देख सके। भारतेन्दु ने समाजहित के लिए जो साधन चुना उसमें अन्य लेखकों को अधिक सफलता प्राप्त न हो सकी। नाटक साहित्य का एक परिमित रूप है और अनेक जटिल नियमों से बद्ध है। यह ठीक है कि उसके द्वारा संसार का कल्याण किया जा सकता है, परन्तु उसके लिए लेखक में सूक्ष्म बुद्धि द्वारा संक्षेप में मनुष्य की हृद्गत भावनाओं और बाह्य कार्य-कलाप का समावेश करने की दक्षता और कला-नैपुण्य होना परमावश्यक है। अधिकांश हिन्दी-लेखक इस शिखर तक न पहुँच सके। फलतः हिन्दी नाट्य-साहित्य का पतन अवश्यम्भावी था।

हिन्दी नाटकों का पतन और भी कई कारणों से हुआ। संस्कृत नाटकों

की श्रीवृद्धि धार्मिक महत्त्व, सामाजिक प्रगति और उन्नत भौतिक अवस्था के कारण हुई थी। परन्तु हिन्दी नाटकों का जन्म धार्मिक और नैतिक अराजकता के बीच हुआ। यहाँ पर हम इस अराजकता के कारणों का अनुसन्धान नहीं करेंगे। केवल इतना कहना ही काफ़ी होगा कि देश के सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक जीवन के साथ मानसिक हलचल का साहित्य पर प्रभाव पड़ना ज़रूरी था। हिन्दी-लेखक कलि का प्रबल प्रकोप समझ कर बेचैन हो रहे थे। उनके ऐसे विकृत जीवन से सम्बन्धित नाट्य-कला की उन्नति कब सम्भव थी?

दूसरे, पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क के फलस्वरूप हिन्दी-लेखकों के सामने नए-नए विचार और आदर्श उपस्थित हो रहे थे। ज्ञान की वृद्धि के लिए लोग व्यग्र हो रहे थे। देश में पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार हो चुका था। और इतिहास इस बात का साक्षी है कि शिक्षा के प्रचार से प्रत्येक युग में जनता में सभ्यता नहीं, वरन् मानसिक व्याकुलता बढ़ी है। ज्ञान-वृद्धि की प्रबल आकांक्षा के फलस्वरूप यहाँ मानसिक असन्तोष बढ़ा। लोग अपनी अपूर्णता दूर करने की चेष्टा में लगे। ऐसी परिस्थिति में साहित्य का स्थूल तो बढ़ गया, परन्तु स्थायी साहित्य की उत्पत्ति न हो सकी। केन्द्रीभूत साहित्यिक प्रयास न हो सका। नाटक का कथानक कुशलता-पूर्वक सजाया गया और संयमित होना चाहिए। लेकिन नाटककार अपना संयम खो बैठे। पाश्चात्य सभ्यता का धक्का खाकर उनका उतावलापन साहित्य के लिये श्रेयस्कर सिद्ध न हुआ। वाह्य अवस्था के साथ आभ्यन्तरिक अवस्था का सामञ्जस्य न हो सका।

बहुत कुछ हद तक आर्य समाज आन्दोलन भी हिन्दी नाटकों का घातक सिद्ध हुआ। आर्य समाज ने अनेक विषय सुझा कर सामग्री प्रस्तुत करने में कोई कसर बाक़ी न रक्खी। परन्तु शैली पर उसका प्रभाव अच्छा न पड़ा। साहित्यिकता का ध्यान न रख कर नाटककारों ने आर्य समाज की शास्त्रार्थ वाली शैली का अपनाना आरम्भ कर दिया। इससे उनकी कृतियों की कलात्मकता को बहुत क्षति पहुँची। मालूम होता है स्वयं लेखक विविध पात्रों के रूप में आर्य समाज के प्लेटफॉर्म से बोल रहा है। लेखक समाजी उपदेशक की भाँति समाज-सुधार के आवेग में अपने कर्त्तव्य से विचलित हो कर कथानक और कथनोपकथन के क्रमिक विकास को भी ले डूबता है। आर्य समाज का जितना प्रभाव नाटक और काव्य पर पड़ा उतना साहित्य के किसी और अङ्ग पर नहीं पड़ा।

कहने की आवश्यकता नहीं कि काल-प्रभाव के कारण नाट्य-साहित्य की जैसी उन्नति होनी चाहिए थी वैसी न हो सकी। वास्तव में देखा जाय तो शैशव-काल से ही वह रोग-ग्रस्त हो गया था। शुद्ध साहित्यिक कोटि के नाटकों का स्थान प्रचारात्मक नाटकीय कृतियों ने ले लिया। मानसिक अस्त-व्यस्तता के कारण अन्तर्जगत के अनुभवों का ठीक-ठीक स्पष्टीकरण न हो सका। नाट्य-शास्त्र के नियमानुकूल नाटक में पात्रों के भिन्न-भिन्न गुणों का प्रदर्शन होना चाहिए। यहाँ स्वयं लेखक का व्यक्तित्व प्रमुख रूप से अधिष्ठित है। उनमें हमें जीवन की अनेकरूपता नहीं मिलती। कथानक विविध घटनाओं के शिथिल एवं अव्यवस्थित संघटन मात्र हैं; कथानकों में अबाध प्रवाह नहीं है। अनेक दृश्य ऐसे हैं जिनका मुख्य कथानक से कोई सम्बन्ध नहीं। पात्रों के स्थान पर नाटककार बोलते हुए प्रतीत होते हैं। शैली की दृष्टि से आलोच्य काल का नाट्य-साहित्य अधिक आशाजनक नहीं है। नाटकीय दृष्टि से ये बहुत बड़े दोष हैं।

संस्कृत नाट्य-शास्त्रियों ने नवरसों में हास्यरस की गणना की है। रूपकों में प्रहसन हास्यरस-प्रधान है। परन्तु संस्कृत नाट्य-शास्त्र के अनुसार प्रहसन की रचना का मुख्य उद्देश्य हास्य-विनोद है, न कि समाज की निन्दनीय बातों पर व्यंग्य करना। पाश्चात्य 'कॉमेडी' के अनुकरण पर भारतीय लेखकों ने भी तदनुसार रचना करना आरम्भ कर दिया। वे तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक कुरीतियों और दौर्बल्य पर तीव्र व्यंग्य कसने लगे। हिन्दी में पहले-पहल १८७३ में भारतेन्दु ने 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नामक प्रहसन लिखा। उसमें उन्होंने मांसाहारियों, मद्यपान करने वालों, पशु-बलि, आदि का मज़ाक बनाया है। १८८१ में उन्होंने 'अन्धेर नगरी' नामक दूसरा प्रहसन प्रकाशित किया। उसमें दिखाया गया है कि जिस राज्य में गुण-अवगुण का भेद नहीं वहाँ प्रजा का राजा की मूर्खता के चंगुल में फँस जाने का डर बना रहता है। कहा जाता है 'कि बिहार प्रान्त के किसी ज़मींदार के अन्यायों को लक्ष्य कर उसे सुधारने के लिए' उसकी रचना हुई थी।

भारतेन्दु के बाद प्रसहन लिखने का अत्यधिक प्रचार हो चला। साथ ही उनका क्षेत्र बहुत जल्दी विस्तृत हो गया। उनमें बहुविवाह, वेश्यावृत्ति, बाल-विवाह, नशेबाज़ी, स्त्रियों की हीन दशा, अविद्या, सूदखोरी, पाश्चात्य सभ्यता के प्रभावान्तर्गत खान-पान और आचार-विहीनता, अँगरेज़ी शिक्षा और फ़ैशन के कुत्सित प्रभावों, आदि से पीड़ित भारतीय समाज का क्रन्दन

सुनाई पड़ता है। इन सामाजिक एवं धार्मिक कुरीतियों और कुप्रथाओं तथा कट्टरता और अन्ध-विश्वासों का उनमें खूब मज़ाक उड़ाया गया है। व्यापारी वर्ग में प्रचलित अनेक सामाजिक एवं धार्मिक कर्मकाण्डों और पुरोहितों, पण्डों, ज्योतिषियों, आदि का आधिपत्य, उसका स्वार्थपूर्ण दृष्टि से दान और तीर्थ-यात्रा, धन का मोह या कञ्जूसी, अत्यधिक ब्याज लेना, विवाहिता स्त्रियों की ओर से उदासीन होकर वेश्यावृत्ति, जुआ खेलना, मद्यपान, डरपोकपन, बाल-विवाह, बहु-विवाह, फ़िज़ूलखर्च, आदि बातें उन्होंने विशेष रूप से लक्ष्य बनाईं। पश्चिमी सभ्यता के फलस्वरूप उत्पन्न तीन बातों ने उनका ध्यान अधिक आकृष्ट किया—मांसाहार, मद्यपान तथा अपव्यय, और भारतीय आचार-विचारों और अँगरेज़ी न पढ़े-लिखे लोगों की अवहेलना। बालकृष्ण भट्ट ने १८७७ में 'शिक्षादान' या 'जैसा काम वैसा परिणाम' नामक प्रहसन की रचना की जिसमें उन्होंने वेश्यावृत्ति और नशेबाज़ी के कुपरिणामों का दिग्दर्शन कराया है। उसके बाद प्रहसन लिखने का ऐसा रास्ता खुला कि उनकी भरमार होगई। देवकीनन्दन त्रिपाठी (१८७० ए० का०) ने अनेक प्रहसन लिखे। उनकी रचनाओं के नाम ये हैं—'रक्षाबन्धन' (इ०, १८७८), 'एक एक के तीन तीन' (इ०, १८७९), 'स्त्रीचरित्र' (इ०, १८७९), 'वेश्या-विलास' (इ०), 'बैल छः टके को' (इ०), 'जय नारसिंह की'[1] (इ०, १८८३ के लगभग), 'सैकड़े में दश दश' (इ०) और 'कलजुगी जनेऊ' (१८८६)। 'रक्षा-बन्धन' में मद्यपान और वेश्यागमन के दोष दिखाए हैं। 'एक एक के तीन तीन' में उधार लेने वालों की बेईमानी का चित्रण किया है। 'स्त्रीचरित्र' में त्रिया-चरित्र और 'वेश्या-विलास' में वेश्यागमन के दोष हैं। 'बैल छः टके को' में यह प्रदर्शित किया है कि आदमी भली बुरी बातें पहिचाने, हैसियत के माफ़िक लोभ करे, किसी के नुकसान पर दिल न लगावे, जहाँ तक हो सके भलाई करे और 'साँची करे मीठी खावे'। 'जय नारसिंह की' में ओझा, जादू टोना वालों, आदि का कुव्यसन है। 'सैकड़े में दश दश' द्वारा लेखक ने धनी व्यक्तियों द्वारा मद्यपान, जुआ और वेश्यागमन, और अन्त में पुलीस द्वारा पीड़ित होना दिखाया है। त्रिपाठी जी ने समाज की अनेक कुरीतियों और कुप्रथाओं पर व्यंग्य की सृष्टि की है। भारतेन्दु के बाद यदि तीव्र और कठोर व्यंग्य मिलता है तो वह देवकीनन्दन त्रिपाठी का। अन्य प्रहसन-

---

[1] भारतेन्दु ने 'नाटक' में इसके लेखक का नाम देवकीनन्दन तिवारी दिया है। होना चाहिए, त्रिपाठी।

लेखकों में लाल खड्गबहादुर मल (१८७३ ६० का०): 'भारत आरत' (१८८५), राधाचरण गोस्वामी : 'बूढ़े मुँह मुहासे, लोग देखें तमाशे'[1] (१८८७) और 'तन मन धन गोसाईं जी के अर्पण' (१८६०), किशोरीलाल गोस्वामी : 'चौपट चपेट' (१८६१), देवकीनन्दन तिवारी (१८७३ ६० का) : 'कलियुगी विवाह प्रहसन' (१८६२), चौधरी नवलसिंह : 'वेश्या नाटक' (१८६३), और गोपालराम गहमरी : 'जैसे को तैसा' के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। जैसा कि उनके शीर्षकों से ज्ञात होता है, उनमें समाज के विभिन्न अङ्गों पर तीव्र कटाक्ष हैं। विजयानन्द त्रिपाठी 'श्रीकवि' ने भारतेन्दु के 'अन्धेर नगरी' के परिवर्द्धित रूप में 'महाअन्धेर नगरी' की रचना की। इसका द्वितीय संस्करण १८६३ में प्रकाशित हुआ था। फिर १८६५ में फ़र्रुखाबाद के देवदत्त शर्मा ने भारतेन्दु की शैली पर 'अति अन्धेर नगरी' की रचना की। दोनों लेखकों को काफ़ी सफलता मिली है। 'भारत आरत' की कथा चार दृश्यों में विभाजित है। उसमें हिन्दी-भाषियों का अनादर, कचहरियों की बुराइयाँ, नशेबाज़ी के दोष, और अन्त में सबको देखकर मजिस्ट्रेट द्वारा भारत की दुरवस्था पर क्षोभ और उनसे अँगरेज़ी राज्य के प्रति भक्ति की आशा प्रकट की है। 'बूढ़े मुँह मुँहासे' में अपने को भक्त कहने वाले की धूर्तता प्रकट की है। वह भक्त न होकर काम, क्रोध, लोभ, मोह का शिकार है। 'चौपट चपेट' में मदनमोहन और उसके साथी चम्पकलता को फुसलाने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु चम्पकलता उनकी दुर्गति बनाती है जिसकी प्रशंसा उसका पति अभयकुमार और स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती करते हैं। मद्यपान, जूआ, आदि व्यसनों की भी लेखक ने निन्दा की है। कथानक पाँच अंकों में विभाजित है। 'कलियुगी विवाह' में बाल-विवाह, विवाह में फ़िज़ूल-ख़र्च, अश्लील और भद्दे गानों की निन्दा की गई है। 'जैसे को तैसा' में वृद्ध-विवाह के दोष दिखाए गए हैं। शेष प्रहसनों के विषय उनके शीर्षकों से स्पष्ट ही हैं। उनमें प्रायः दृश्यों सहित एक या दो अंक में ही कथा का विभाजन मिलता है, वैसे अधिक अंक भी मिलते हैं। अधिकतर प्रहसन प्रस्तावना-रहित हैं।

पाश्चात्य ढंग पर लिखे गए इन हास्यरसात्मक ग्रन्थों से पता चलता है कि सामाजिक और धार्मिक विषयों की ओर लेखकों का कितना ध्यान जा रहा था। साधारण ढंग से कथानक को प्रायः तीन या तीन से अधिक

---

[1] इसके लेखक का नाम गोपालचन्द्र नहीं है, जैसा कि भारतेन्दु ने 'नाटक' में और मिश्रबन्धु ने 'विनोद' में लिखा है।

अंकों या दृश्यों में विभाजित कर उनमें मनोनीत विषय की आलोचना की गई है।

परन्तु यह कहे बिना नहीं रहा जा सकता कि हिन्दी के हास्यरसात्मक ग्रन्थों में अधिकतर अर्थहीन प्रलाप देखने को मिलता है। हास्य निम्नश्रेणी का है और व्यंग्य प्राणहीन। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, देवकीनन्दन त्रिपाटी और राधा-चरण गोस्वामी को छोड़कर अन्य लेखकों ने उच्चकोटि के तीक्ष्ण व्यंग्य की सृष्टि नहीं की है। उनका परिहास असङ्गत और स्वाभाविकता की सीमा का उल्लङ्घन करने वाला है। मालूम होता है ज़बर्दस्ती हास्य और व्यंग्य प्रकट करने का प्रयत्न किया जा रहा है। एक तो पराधीन देश का हास्य ही क्या; दूसरे, इन रचनाओं के पात्र समाज की निम्नश्रेणी के हैं। अधिकांश पात्रों में हमें कोई बुड्ढा, शिशु वर, वेश्या, कुटनियाँ, चरित्रहीन स्त्रियाँ, नशेबाज़, मोटा महाजन, मसखरा और वाक्पटु नौकर, ओझा, आदि ही मिलते हैं। इस अशिक्षित और असंस्कृत जनसमूह में हमें किसी अधकचरे समाज-सुधारक और देश-सेवक के दर्शन भी हो जाते हैं। परन्तु उनका सामाजिक कुरीतियों का मज़ाक भी ऊटपटाँग, भद्दे और अश्लील ढंग का है। उससे ऐसे परिहास की जिसमें सत्य की भावना छिपी हो और जो सीधा हृदय पर जाकर चोट करे अवतारणा नहीं होती। लेकिन सारा दोष लेखकों के मत्थे भी नहीं मढ़ा जा सकता। जिस समाज के वे अङ्ग थे वह पतित था और उसके चारों ओर अज्ञानान्धकार छाया हुआ था। उसमें मृदु और साथ ही गम्भीर परिहास और तीक्ष्ण व्यंग को जन्म देना ठोक पीट कर वैद्यराज बनाना था। वास्तव में इन हास्यरसात्मक ग्रन्थों के लेखकों ने समाज के मानसिक दौर्बल्य के निविड़ अन्धकार में फुलझड़ियाँ छुटाईं, यही क्या थोड़ा था। सामाजिक प्रगति और साहित्यिक प्रगति में सदैव गठबन्धन रहा है।

प्रहसनों द्वारा समाज-सुधार का कार्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने शुरू किया और देवकीनन्दन त्रिपाठी ने उसे आगे बढ़ाया। यूरोप में यह आन्दोलन काफ़ी उन्नति कर चुका था।

यहाँ पर नाट्य-कला के विकास और शास्त्रीय पक्ष तथा पाश्चात्य प्रभाव पर विचार कर लेना उचित होगा। भारतीय आचार्यों ने दो प्रकार के काव्य माने हैं—दृश्य और श्रव्य। श्रव्य काव्य तो वह होता है जिसका कानों से सुन कर आनन्द लिया जा सके, जैसे, 'रघुवंश', तुलसी कृत रामायण, 'बिहारी-सतसई', आदि। उसमें लेखक अपनी बात स्वयं कहता है। दृश्य

काव्य में लेखक अपनी हृद्गत बात स्वयं न कह कर उससे सम्बन्ध रखने वाले पात्रों के मुख से कहलाता है और उसका आनन्द देखकर उठाया जा सकता है, जैसे, 'अभिज्ञान शाकुन्तल', 'मालती माधव', 'चन्द्रावली', 'अजातशत्रु', आदि। देखने-सुनने में वैसे भी अन्तर है। आँखों से देखी घटना में अधिक आनन्द आता है। दृश्य काव्य और श्रव्य काव्य में से किसे श्रेष्ठ ठहराया जाय, इस सम्बन्ध में बहुत-कुछ व्यक्तिगत रुचि पर निर्भर रहता है। किन्तु दृश्य काव्य का श्रव्य काव्य की अपेक्षा क्षेत्र अधिक व्यापक है। उसमें काव्य कला, वास्तु कला, संगीत कला, नृत्य कला, कपड़े रंगने की कला, वेशभूषा सजाने की कला, आदि प्रायः सभी कलाओं का समावेश हो जाता है। उपादेयता की दृष्टि से भी दृश्य काव्य अधिक महत्वपूर्ण है। उसके द्वारा समाज के साधारण से साधारण व्यक्ति को शिक्षा दी जा सकती है। काव्य तथा अन्य प्रकार के साहित्य को सुनकर समझ लेना प्रत्येक व्यक्ति के लिए सरल कार्य नहीं है। इसीलिए नाट्य-शास्त्र को 'पंचम वेद' के नाम से पुकारा जाता है जिस पर शूद्रों तक का अधिकार है। इस दृष्टि से दृश्य काव्य और रङ्गमञ्च का अभिन्न सम्बन्ध है, यद्यपि उच्चकोटि के अनभिनेय नाटक भी लिखे गए हैं। रंगमंच पर अभिनय के द्वारा ही नाटककार अपने विचारों का अधिक से अधिक दर्शकों में सरलतापूर्वक प्रचार कर सकता है। किन्तु अभिनय के समय 'दृश्य' तत्व के साथ-साथ 'काव्य' तत्व भी बनाए रखना प्रतिभाशाली नाटककार ही कर सकता है। साथ ही दर्शकों में परिष्कृत रुचि होना आवश्यक है। यह पहले कहा जा चुका है कि उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में, भारतेन्दु के कथनानुसार, रामलीला, रासलीला, स्वाँग, पारसी थिएटरों के अभिनयों, आदि में परिष्कृत कलात्मक रुचि का अभाव था। पारसी थिएटर में 'शकुन्तला' का भ्रष्ट और भद्दा अभिनय देखकर उन्हें कितनी मानसिक व्यथा हुई थी, इसका उल्लेख उन्होंने 'नाटक' में किया है। ऐसी नाटकीय परिस्थितियों में उन्होंने भारत की प्राचीन नाट्य-कला की ओर ध्यान दिया। मध्ययुग में नाटकीय रचनाओं के अभाव के कारण उसका कोई विकास न हो सका था। आलोच्य काल की विषम नाटकीय परिस्थितियों के बीच जब भारतेन्दु के नेतृत्व में हिन्दी नाटककारों का ध्यान प्राचीन के साथ-साथ नवीन या पाश्चात्य नाट्य-कला पर गया तो प्राचीन नियमों और सिद्धान्तों तक ही अपने को सीमित रखना उनके लिए कठिन था। हिन्दी नाटकों पर उनके शैशव-काल से ही पाश्चात्य प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। भारतेन्दु ने नाट्य-रचना के अनुभव और अपनी विचार-

शक्ति के द्वारा अनेक पश्चिमी नाटकीय तत्व ग्रहण किए। प्राचीन के प्रति अत्यधिक मोह और नवीन के प्रति अत्यधिक आकर्षण न होने के कारण भारतीय नियमों की परतन्त्रता दूर करने या उन्हें परिवर्तित रूप में ग्रहण करने में उन्होंने संकोच से काम नहीं लिया। भरत मुनि के उन्होंने वे ही नियम ग्रहण किए जो देश-काल की परिवर्तित परिस्थिति के अनुसार नाट्य-रचना के लिए नितान्त उपयोगी और तत्कालीन शिक्षित और सहृदय समाज की रुचि के अनुकूल थे[1], जैसे, प्राचीन नाट्य-शास्त्र के विपरीत 'गर्भांक' का तत्कालीन प्रचलित अर्थ 'अंक' या 'दृश्य' के रूप में हो गया था। भारतेंदु ने सहर्ष वही प्रचलित अर्थ ग्रहण कर लिया।[2] पूर्ण पाश्चात्य प्रभाव बीसवीं शताब्दी में दृष्टिगोचर हुआ है। आलोच्य काल में तीन प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं—प्राचीन नियमानुसार लिखी गईं, नवीन नियमानुसार लिखी गईं, और मिश्रित। यह बात केवल शास्त्रीय पक्ष पर ध्यान रखते हुए कही गई है। नहीं तो तत्कालीन रासलीला, रामलीला, स्वाँग, पारसी थिएटरों, आदि के वातावरण का प्रभाव लगभग सभी रचनाओं पर पाया जाता है। नवोत्थान काल में प्राचीन से एकदम मोह तोड़ देना सम्भव भी नहीं था। पाश्चात्य प्रभाव के सम्बन्ध में यह बात भूल जाने की नहीं है कि एलिज़बेथकालीन और भारतीय नाटकों में बहुत कुछ समता है। इससे हिन्दी में यह सम्मिलन-कार्य और भी सुगम हो गया। पाश्चात्य नाटक से आवश्यक और उपयोगी तत्व ग्रहण करने में हिन्दी के नाटककारों ने अपनी अपूर्व समन्वयात्मक शक्ति का परिचय दिया।

वैसे तो स्थान-स्थान पर दिए गए विभिन्न रचनाओं के संक्षिप्त परिचयों से आलोच्य काल के रचना-विधान-सम्बन्धी प्रमुख सिद्धान्तों और शैलियों पर प्रकाश पड़ता ही है, किन्तु यहाँ उन पर सम्यक् रूप से विचार कर लेना उचित होगा। संस्कृत नाट्य-शास्त्र में नाटक के प्रारम्भ में पूर्वरङ्ग और प्रस्तावना नामक भूमिकाओं की व्यवस्था की गई है। पूर्वरङ्ग के अन्तर्गत नान्दी-पाठ मुख्य है। प्राचीन नाटकों का मंगल से आरम्भ और मंगल से अन्त किया जाता था। नान्दी प्रारम्भिक मंगलाचरण था। आलोच्य काल की कुछ रचनाओं में इस नियम का पालन हुआ है और कुछ में उसे त्याग दिया गया है। भारतेन्दु कृत 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'चन्द्रावली,'

---

[1] 'नाटक', भारतेन्दु-नाटकावली (१९२७), पृ० ७९५-८०० और ८२५-८२६

[2] वही, पृ० ८००, फुटनोट

राधाकृष्णदास कृत 'महारानी पद्मावती' और 'महाराणा प्रतापसिंह,' श्रीनिवासदास कृत 'तप्तासंवरण,' अयोध्यासिंह उपाध्याय कृत 'श्री रुक्मिणी-परिणय' में नान्दी का प्रयोग हुआ है। किन्तु भारतेन्दु कृत 'नीलदेवी' और 'भारत दुर्दशा', राधाकृष्णदास कृत 'दुखिनी बाला' और 'सती-प्रताप,' श्रीनिवासदास कृत 'रणधीर और प्रेममोहिनी', केशवराम भट्ट कृत 'सज्जाद सुम्बुल' और 'शमशाद सौसन', आदि में नान्दी का प्रयोग नहीं हुआ। नान्दी के बाद प्रस्तावना नाटक का महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। प्रस्तावना के द्वारा नाटककार अपने या वर्ण्य-विषय या पात्र आदि के सम्बन्ध में सूचना देता था। आलोच्य काल में वे भूमिका लिखकर या मुद्रण-कला का प्रचार हो जाने से अभिनय के समय संक्षिप्त विवरण (Synopsis) बाँट कर काम चलाने लगे। 'सिनोप्सिस' में नाटक का नाम, नाटककार का नाम, कथानक, पात्र-परिचय, आदि सभी बातें रहती थीं। साथ ही नाटक में कुतूहल बनाए रखने की दृष्टि से वर्ण्य-वस्तु का पूर्व परिचय देना भी ठीक न समझा गया। प्राचीन नाटकों में रस-निष्पत्ति प्रधान उद्देश्य रहता था। नवीन नाटकों में कुतूहल को प्रधानता दी जाने लगी थी। किन्तु अनेक नाटकों में प्रस्तावना मिलती भी है। प्रस्तावना रहित नाटक एकदम नाटकीय कथा-वस्तु से आरम्भ हो जाते हैं। प्राचीन नाट्य-शास्त्र के नियमानुसार नाटकों में पाँच से दस अंक तक हुआ करते थे। साधारणतः सात अंकों का अधिक प्रचार था। जिस नाटक में दस अंक रहते थे उसे महानाटक कहते थे। आलोच्य काल में अधिकतर नाटकों में इस नियम की अवहेलना मिलती है। शरतकुमार मुखोपाध्याय कृत 'भारतोद्धारक नाटक' (१८८८) में प्रस्तावना है तो अंक चार ही हैं, ध्येय भी उसका राजनीतिक-समाजिक है। प्रायः पाँच, कभी-कभी तीन, अंकों से अधिक अंक वाले नाटक नहीं मिलते। शेक्सपियर की शैली पर पाँच अंक रखने की प्रथा अधिक चल पड़ी थी। किशोरीलाल गोस्वामी ने 'मयंकमञ्जरी' नामक महानाटक की रचना की जिसमें पाँच अंक हैं। एक-दो सात अंक वाले नाटक भी मिलते हैं। नवीन प्रभावान्तर्गत अंकों का दृश्यों या 'गर्भांकों' में भी विभाजन होने लगा। कथानक में वैचित्र्य और सौन्दर्य उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक समझा गया। इसके विपरीत प्राचीन नियमानुसार रस के अन्तर्गत स्थायी भाव की रक्षा के लिए दृश्य-परिवर्तन अनावश्यक था और इसीलिए एक-एक अंक बहुत लम्बा होता था। भारतेन्दु, राधाकृष्णदास, श्रीनिवासदास, आदि लगभग सभी प्रमुख नाटककारों ने अंक-सम्बन्धी प्राचीन नियम का उल्लंघन किया है।

दृश्य-परिवर्तन बहुत शीघ्र होने लगा और पाश्चात्य शैली के अनुकरण पर प्रत्येक अंक के आरम्भ में संकेत-चिन्ह दिए जाने लगे। विष्कम्भक, प्रवेशक, अंकावतार, अंकमुख, आदि की योजना भी बहुत कम हो गई थी। पूर्णतः प्राचीन नियमों के अनुसार लिखे गए नाटकों में ही इनका प्रचार पाया जाता है। प्राचीन नियम के विरुद्ध प्रहसनों में भी एक से अधिक—दो-तीन या अधिक—अंक या 'दृश्य' रहने लगे। कथोपकथन की दृष्टि से प्राचीन नियम का पालन प्रायः सभी नाटककारों ने किया है। अपवारित, स्वगत् भाषण, आदि का ख़ूब प्रयोग हुआ है। बँगला नाटकों के अनुकरण पर लम्बे-लम्बे काव्यात्मक स्वगत-भाषणों का अधिक प्रयोग होने लगा था। दो या दो से अधिक पात्रों का वार्तालाप तो सामान्यतः पाया ही जाता है। इस प्रकार का कथोपकथन कथानक को आगे बढ़ाने और पात्र के चरित्र पर प्रकाश डालने में सहायक होता है। किन्तु आलोच्य काल में दो या दो से अधिक व्यक्तियों के कथोपकथन अपने उद्देश्य में अधिक सफल हुए प्रतीत नहीं होते। अधिकतर वे अस्वाभाविक, यथार्थता से दूर और निरर्थक जान पड़ते हैं। ऐसे कथोपकथन भी मिलते हैं जिनका नाटकीय कथावस्तु में कोई स्थान नहीं। कभी-कभी तो थोड़े से कार्य-व्यापार के लिए अत्यधिक विस्तृत सम्भाषण मिल जाते हैं जो तबियत उबा देने वाले हैं। जहाँ नाटक-कारों ने अशिक्षित या अर्द्धशिक्षित पात्र ला खड़ा किए हैं वहाँ तो सम्भाषण निरर्थक और यहाँ तक कि अशिष्ट और अश्लील शब्दों के जमघट के सिवाय कुछ नहीं है। छोटे-छोटे, सरल, उपयुक्त, गठे हुए और सार-गर्भित सम्भाषणों का एक प्रकार से अभाव है। भारतेन्दु, लाला श्रीनिवास-दास, राधाकृष्णदास, किशोरीलाल गोस्वामी, बलदेवप्रसाद मिश्र, आदि की रचनाओं में सुन्दर प्रवाहयुक्त सम्भाषण मिलते हैं, किन्तु उनकी रचनाएँ भी दोषपूर्ण स्थलों से पूर्णतः मुक्त नहीं हैं। हाँ, केशवराम भट्ट की रचनाएँ इस दृष्टि से अधिक सफल कही जा सकती हैं। इसके अतिरिक्त आलोच्य काल में संवादों के बीच में कविता के प्रयोग की प्रथा भी बराबर मिलती है। गम्भीर-अगम्भीर सभी अवसरों पर इस प्रवृत्ति का परिचय प्राप्त होता है। संस्कृत में नाटकों को काव्यान्तर्गत माने जाने के कारण उन्हें कवित्वपूर्ण रक्खा जाता था। हिन्दी में इस नियम तथा साँग, लीलाओं और पारसी खेलों के अनुकरण पर अधिकतर सामान्य नाटकीय रचनाओं में पद्यात्मक अंश और कविताएँ रखने की प्रथा जारी रही। पद्यात्मक संवाद तो नितान्त अस्वाभाविक और हास्यास्पद प्रतीत

होते हैं।[1] प्रसिद्ध नाटककारों की रचनाओं में भी उनका प्रभाव मिलता है। भारतेन्दु कृत 'चन्द्रावली' भी इस दोष से मुक्त नहीं है। उनकी तथा अन्य नाटककारों की रचनाओं में पारसी खेलों के समान गीत, कोरस, आदि भी मिलते हैं। संवादों के बीच में दी गई कविताएँ अधिकतर साधारण हैं। सौन्दर्यपूर्ण कविताओं में रीतिकालीन परम्परा का प्रभाव है। 'चन्द्रावली' में जैसे सुन्दर छन्द मिलते हैं वैसे अन्यत्र दुर्लभ हैं। पात्रों की भाषा ब्रज-भाषा के रूपों से मिश्रित खड़ीबोली है। संस्कृत और प्राकृत वाले प्राचीन नियम के अनुकरण पर खड़ीबोली और किसी प्रादेशिक बोली के प्रयोग की प्रथा का बीसवीं शताब्दी में अधिक प्रचार हुआ, यद्यपि शिक्षा-प्रसार और जनसत्तात्मक विचारों के प्रभावान्तर्गत उसका अब प्रचार नहीं रहा। आलोच्य काल में भी ऐसी प्रथा प्रचलित थी। अशिक्षित या अर्द्धशिक्षित पात्रों की बहुलता होने के कारण प्रहसनों में भी प्रादेशिक बोलियों का प्रयोग मिलता है। हिन्दू मुसलमान पात्रों की भाषा में भी

---

[1] 'वर्तमान समय के नवीन नाटककार शुद्ध संगीत तथा छंद प्रबन्ध का कुछ भी व्यवहार नहीं करते; परंतु देखादेखी गद्य और पद्य भाग में एक दूसरे का अनुकरण करके नाटक बनाते हैं। यह बात प्रसिद्ध है कि जिस राह को उर्दू नाटककारों ने पसन्द किया है, उस ही राह को हिन्दी भाषा वाले अपने नाटकों में डालते हैं कि जिससे नाटक की मौलिक सुन्दरताई बिल्कुल जाती रहती है। गद्य भाग के बदले जहां-तहां अनावश्यकीय तोड़ मोड़ कर मिलाये हुए संगीतों से अर्थ चमत्कृति की, पद लालित्य की, रस चातुर्य की या नाटक की गम्भीरता बिल्कुल ज्ञात नहीं होती है। उन नीरस राग-रागनियों से श्रेष्ठ नाटक भी फीका सा ज्ञात हुआ करता है। इस बात में आजकल बङ्गाल के नाटककार कहीं बढ़े चढ़े हुए हैं।'

—लाली : 'गोपीचन्द्र नाटक' (१८९६)

'प्रेमघन' कृत 'भारत सौभाग्य' से पद्यात्मक संवाद का एक उदाहरण इस प्रकार है:

अँगरेज़ दल—वी डू सेकण्ड हट् आल्, हू आर इन् दिस् हाल् ॥
हिन्दू दल—सहमत सु सबहिं हिकाव, उठि चलहु दै कर ताव ॥
पहिला—अब नहीं या खाने भर को जो जुरता।
दूसरा—नहिं सिर पर टोपी, नहीं बदन पर कुरता ॥
तीसरा—है कभी न इसमें आधा चावल चुरता।
चौथा—नहिं साग मिलै नहिं कन्द मूल का जुरता ॥

भेद है, जैसे, 'नीलदेवी' में मुसलमान पात्र उर्दू का प्रयोग करते हैं। राधाकृष्णदास कृत 'राणा प्रताप' में भी मुसलमान पात्र उर्दू का प्रयोग करते हैं। तोताराम वर्मा के 'विवाह विडम्बन' में खड़ीबोली और ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है। कृष्ण-सम्बन्धी नाटकों (जैसे 'नन्दोत्सव') में कृष्ण, बलदेव, आदि उच्च पात्र खड़ीबोली का और स्त्रियाँ, ग्वाले, आदि ब्रजभाषा का प्रयोग करते हैं। राम-सम्बन्धी नाटकों में अवधी का प्रयोग मिलता है। किन्तु सभी लेखकों ने इस निमम का पालन नहीं किया। प्राचीन नाट्य-शास्त्र में रङ्गमञ्च (प्रेक्षागृह) के लिए भी नियम बनाए गए और सुरुचि के लिए उनका पालन आवश्यक समझा गया। उस पर चुम्बन, वध, आलिंगन, स्नान, यात्रा, मृत्यु, युद्ध, आदि दृश्य दिखाना वर्जित है। आलोच्य काल में इस नियम की भी अवहेलना होने लगी थी, जैसे, किशोरीलाल गोस्वामी कृत 'मयङ्क मञ्जरी' में चुम्बन, वध, आदि का प्रदर्शन होता है, भारतेन्दु कृत 'नीलदेवी' में भी, जो नई प्रथा के अनुसार लिखी गई रचना है, वध का दृश्य दिखाया जाता है। चमत्कारपूर्ण और अद्भुत घटनाओं या घटना-वैचित्र्य की ओर भी लेखकों का ध्यान गया।

संस्कृत नाटक प्रधानतः आदर्शवादी, रस-प्रधान और काव्यात्मक होते हैं। उनमें सदा धर्म और अधर्म, पाप और पुण्य के संघर्ष के बीच सदप्रवृत्तियों की विजय दिखाकर वास्तविक जीवन के तथ्य का सत्यान्वेषण पाया जाता है। प्राचीन नाटकों का महत्व धार्मिक (व्यापक अर्थ में) अधिक है। उनमें कर्म और आवागमन का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। उनमें पाप की पराजय और पुण्य की जय प्रदर्शित करने में सदैव एक नैतिक सिद्धान्त निहित रहता है। इस उद्देश्य को सामने रख कर संस्कृत नाटककारों ने सर्वगुण-सम्पन्न, निर्दोष और आदर्श चरित्रों का निर्माण किया। पूर्णत्व लिए हुए होने के कारण उनके पात्रों में अन्तर्द्वन्द्व या मानसिक संघर्ष नहीं पाया जाता। पात्र नीचे से ऊपर नहीं चढ़ते, वरन् पहले से ही जीवन के सर्वोच्च शिखर पर बैठे हुए दिखाए जाते हैं। भारतीय नाट्य-शास्त्रियों का यह सिद्धान्त रहा है कि नाटकों का अन्त दुःखात्मक न होना चाहिए। नायक जब तक पापात्मा न हो तब तक उसकी पराजय हो कैसे सकती है। नायक की पराजय का अर्थ पाप और अधार्मिकता का प्रचार करना होगा। इसीलिए प्राचीन भारतीय नाट्य-साहित्य में दुःखान्त नाटकों का अभाव है।[1] हाँ,

[1] 'पद्मावती नाटक' (१८८६) के अनुवाद में रामकृष्ण वर्मा सूत्रधार के मुख से कहलाते हैं :

करुण रस और विप्रलम्भ के रूप में उनमें दुःख का समावेश पाया जाता है। आलोच्य काल में पाश्चात्य अर्थ में दुःखान्त नाटक भी लिखे गए, जैसे, 'रणधीर प्रेम-मोहिनी', 'लावण्यवती', 'जयन्त', आदि। प्राचीन नियमानुसार लिखे गए नाटकों में विषय प्राय: प्रेम-सम्बन्धी या पौराणिक या धार्मिक रहता था, पात्र दैवी या आदर्श रहते थे और कर्तव्य-पालन प्रधान धर्म समझा जाता था, और अलौकिक घटनाएँ रहती थीं। नवीन शैली के अनुसार नाटकों में हास्य, कौतुक, देश-हित, समाज-हित, धर्म-हित और इतिहास-सम्बन्धी विषय भी रहने लगे। पात्र मानवी होने लगे। ये ही पात्र बीसवीं शताब्दी में अन्तर्द्वन्द्व लेकर अवतरित हुए। 'नीलदेवी' और 'सती प्रताप' (राधाकृष्णदास कृत) जैसे गीति-रूपकों (नाट्य-गीतों) की रचना होने लगी। प्रहसनों का विषय और उद्देश्य भी प्राचीन नियम के विरुद्ध है। प्राचीन नियम के अनुसार देश-सुधार, समाज-सुधार, आदि उसमें नहीं रहना चाहिए। आलोच्य काल के प्रहसन तत्कालीन सुधारवादी आन्दोलनों के अंग हैं। उनकी कथावस्तु सामाजिक और ध्वनि व्यंग्यात्मक है। भारतेन्दु ने अपने 'नाटक' में प्राचीन नाट्य-शास्त्र के आशी : प्रभृति, नाट्यालङ्कार, प्रकरी, विलोभन, संफेट, पञ्चसन्धि, आदि तत्वों का उल्लेख किया है जिनकी तत्कालीन नाट्य-पद्धति में आवश्यकता न रह गई थी। वृत्तियों की ओर भी नाटककारों का ध्यान अधिक न गया। भरत-वाक्य सम्बन्धी नियम भी उपेक्षित होने लगा था।

वास्तव में नवविकसित हिन्दी नाट्य-धर्म के इस संक्षिप्त वर्णन से यही निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीन नियमों के प्रति श्रद्धा रखते हुए भी नाटककारों ने स्वच्छन्दता का परिचय दिया। उन्होंने प्राचीन सिद्धान्तों का अन्धानुकरण न किया। नवीन नाट्य-धर्म पुरातन को लिए हुए भी नवीन था। उसका अनुमान भारतेन्दु की रचनाओं और उनके 'नाटक' ग्रन्थ से लगाया जा सकता है। लाला श्रीनिवासदास, किशोरीलाल गोस्वामी, केशवराम भट्ट तथा अन्य अनेक नाटककार इस बात के साक्षी हैं।

'....उस दिन जो हम लोगों ने कृष्णाकुमारी नाटक खेला था सो इन महाशयों को बहुत ही पसंद आया...परंतु कितने ही लोगों को दुःखान्त नाटक से चित्त में खेद बना रहता है अतएव इन लोगों की भी यही रुचि है कि कोई ऐसा नाटक होता जिसमें वियोग के उपरान्त सम्मेल भी हो जावे जिससे चित्त में सुख का आनन्द छाया रहे।'

नाटककारों ने (उन्नीसवीं शताब्दी की) विशुद्ध-नवीन प्रणाली के अनुसार रचनाएँ प्रस्तुत कीं। उनमें प्राचीन नियमों के पालन का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु प्राचीन नाट्य-शास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार लिखे गए नाटकों में नवीन प्रणाली और तत्कालीन नाटकीय वातावरण का प्रभाव मिलता है। किसी न किसी रूप में नवीन प्रभाव से मुक्त शायद ही कोई रचना मिले। उदाहरणार्थ, भारतेन्दु कृत 'चन्द्रावली' यद्यपि प्राचीन नाट्य-शास्त्र के अनुसार लिखी गई नाटिका है, किन्तु उसमें रासलीला, और पारसी खेलों का प्रभाव मिलता है, यहाँ तक कि परोक्ष रूप से पाश्चात्य प्रणाली के अनुसार संकलनत्रयी (Three Unities) भी मिल जाती हैं। एक ही नाटककार ने प्राचीन और नवीन दोनों प्रकार के नियमों के अनुसार अलग-अलग रचनाएँ कीं। कुछ नाटककारों की रचनाओं में प्राचीन और नवीन का मिश्रण है, जैसे, राधाकृष्णदास कृत 'महारानी पद्मावती'। यह मिश्रण केवल बाह्य नाटकीय विधानों की दृष्टि से ही नहीं, विषय की दृष्टि से भी है। बाह्य विधान यदि प्राचीन है तो विषय नवीन है, जैसे, राधाकृष्णदास कृत 'महारानी पद्मावती' और 'महाराणा प्रताप' में विषय ऐतिहासिक है, और यदि विषय प्राचीन नियमानुसार है तो विधान नवीन हैं, जैसे, राधाकृष्णदास कृत 'सती प्रताप' जो गीति-रूपक है और जिसमें प्राचीन नियमों का पालन नहीं किया गया। किन्तु सभी प्रभाव एक ही नाटक में नहीं मिलते। अन्त में इस बात की ओर भी संकेत कर देना आवश्यक जान पड़ता है कि प्रधान रूप से प्राचीन नियमानुसार निर्मित नाटकों को छोड़ कर विशुद्ध नवीन या नवीन प्रभावान्तर्गत रचे गए नाटकों में बाह्य दृष्टि से नवीनता होते हुए भी आन्तरिक दृष्टि से रसात्मकता और आदर्शवादिता का किसी न किसी रूप में थोड़ा-बहुत अंश अवश्य मिलता है; उन्नीसवीं शताब्दी नाट्य-साहित्य की आत्मा अभी बहुत-कुछ प्राचीन थी। सच तो यह है कि आलोच्य काल में यदि प्राचीन बिल्कुल प्राचीन नहीं है तो नवीन भी बिल्कुल नवीन नहीं है।

दूसरे अध्याय में यह बताया जा चुका है कि सामाजिक और धार्मिक आन्दोलनों के फलस्वरूप प्राचीन भारतीय साहित्य का अध्ययन शुरू हो गया था। विदेशियों में पहले-पहल सर विलियम जोन्स ने संस्कृत का अध्ययन किया। तत्पश्चात् हॉज़सन, रॉथ, बोहत्लिंक (Bohtlingk), मैक्समूलर, प्रिंसेप, कनिंघम, मोनियर विलियम्स, आदि पाश्चात्य विद्वान् बड़ी तत्परता से संस्कृत काव्य, नाटक, इतिहास, धर्मशास्त्र, आदि का अनुशीलन करने लगे। शुरू में भारतवासियों ने इस ओर अधिक ध्यान न दिया। परन्तु

१८७५ में आर्यसमाज की स्थापना के बाद उनका ध्यान भी इस ओर आकृष्ट हुआ। इस आन्दोलन ने उनको देश के प्राचीन गौरव की याद दिलाई। वे समझने लगे कि हमारी भी अपनी सभ्यता और संस्कृति है, अपना साहित्य है जो विश्व-साहित्य में विशेष महत्वपूर्ण स्थान रखता है। एक स्वर से उन्होंने वैदिक धर्म की महत्ता स्वीकार की और वैदिक ग्रन्थ दुनिया के सबसे पुराने ग्रन्थ प्रमाणित हुए। विद्वानों ने संस्कृत ग्रन्थों का मंथन करना आरम्भ कर दिया और अनेकानेक ग्रन्थ प्रकाशित किए। बङ्ग देश में खोज का यह कार्य १८५७ से ही शुरू हो गया था। उस समय वहाँ पर सबसे पहले कालिदास कृत 'शकुन्तला' अभिनीत हुआ। १८५८ में 'रत्नावली' रंगमंच पर खेला गया। संस्कृत ग्रन्थों के अनेक बङ्गाली संस्करण प्रकाशित हुए। हिन्दी में वैसे तो १८६१ से भारत के प्राचीन साहित्य की महिमा का उद्घाटन-कार्य आरम्भ हो गया था, परन्तु १८६८ से हिन्दी के विद्वान् भी बड़ी सरगरमी के साथ कार्य करने लगे।

इस सम्बन्ध में राजा लक्ष्मणसिंह का नाम कभी नहीं भुलाया जा सकता। स्वयं विद्याव्यसनी और पण्डित होने के अतिरिक्त वे पाश्चात्य विद्वानों के सम्पर्क में भी आए थे। १८६१ में उन्होंने कालिदास कृत 'शकुन्तला' का हिन्दी में अनुवाद किया। कालिदास की इसी रचना ने यूरोप के विद्वानों की आँखें खोल दी थीं। उसे पढ़कर वे भारतीय साहित्य की श्रेष्ठता के कायल हुए थे। १८६१ में राजा लक्ष्मणसिंह ने उसमें काव्यात्मक अंश नहीं रक्खे थे। १८८६ मे उन्होंने उसमें काव्यात्मक अंश भी जोड़ दिए। राजा शिवप्रसाद ने अपने 'गुटका' में शामिल कर उनके अनुवाद का विशेष आदर किया। इसके बाद संस्कृत नाटकों का हिन्दी में अनुवाद करने वाले विद्वानों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : 'विद्या सुन्दर' (१८६८, बँगला से, संस्कृत में चौर कवि कृत), 'पाखण्डविडम्बन' (१८७२, कृष्ण मिश्र के 'प्रबोध-चन्द्रोदय' का तृतीय अङ्क), 'धनञ्जयविजय' (१८७३, कवि काञ्चन कृत), 'कर्पूरमञ्जरी' (१८७५, राजशेखर कृत), और 'मुद्राराक्षस' (१८७८, विशाखदत्त कृत) और लाला सीताराम, बी० ए०, उपनाम 'भूपकवि' (१८५८-१९३७) : 'महावीरचरित' (१८९७, भवभूति कृत[1]), 'उत्तररामचरित' (१८९७, भवभूति कृत), 'मालतीमाधव' (१८९८, भवभूति कृत), 'मालविकाग्निमित्र' (१८९८, कालिदास कृत), 'मृच्छ-

---

[1] अँगरेज़ी में लिखित पहली आवृत्ति की भूमिका के अनुसार इस नाटक का अनुवाद बारह वर्ष पहले हुआ था। परन्तु उस समय वह प्रकाशित न

कटिक' (१८६६, शूद्रक कृत), 'नागानन्द' (१६००, हर्षदेव कृत) के नाम महत्त्वपूर्ण हैं। इन अनुवादों का उद्देश्य कोई नाट्य-धर्म निर्धारित करना नहीं था। अनुवादक केवल संस्कृत साहित्य की अमूल्य निधियाँ हिन्दी-पाठकों के सामने रखना चाहते थे। वे या तो स्वतन्त्र अनुवाद हैं या अविकल अनुवाद। इन अनूदित ग्रन्थों ने अन्य लेखकों को भी इस ओर प्रोत्साहित किया। देवदत्त तिवारी : 'उत्तररामचरित' (१८७१), बिहार में सम्बलपुर के दुबे नन्दलाल विश्वनाथ (१८८२ र० का०): 'उत्तररामचरित' (१८८६) और 'शकुन्तला' (१८८८), रामेश्वर भट्ट : 'रत्नावली' (१८६५), बालमुकुन्द गुप्त : 'रत्नावली' (१८६८),[1] ज्वालाप्रसाद मिश्र (१८६२ र० का०) : 'वेणीसंहार नाटक' (१८६७ के लगभग), कृष्ण-बलदेव वर्मा : 'भर्तृहरि राजत्याग', और शीतलाप्रसाद : 'प्रबोधचन्द्रोदय नाटक' (१८७६), आदि ने संस्कृत की श्रेष्ठ रचनाओं का हिन्दी में अनुवाद किया। हिन्दी के विद्यारसिकों को संस्कृत नाट्य साहित्य से परिचित कराने के अतिरिक्त दुबे नन्दलाल विश्वनाथ का ध्येय संस्कृत छन्दों का हिन्दी साहित्य में प्रयोग कर उसकी श्रीवृद्धि करना भी था। उनके अनुवाद सुन्दर हुए हैं। १८७६ में शीतलाप्रसाद ने 'प्रबोधचन्द्रोदय नाटक' संस्कृत और भाषा में टीका तथा व्याख्या सहित प्रकाशित किया। 'मृच्छकटिक' (ह०) और 'रत्नावली' (१८६८) अज्ञात लेखकों द्वारा फिर अनूदित हुए। संस्कृत से

हो सका था। इस भूमिका की तिथि १८४४ है। उपर्युक्त तिथि हिन्दी भूमिका के अनुसार है। १८४७ के संस्करण में उनका कहना है :

'Unfortunately little has been done in the parent country to modernise these famous productions. Only two dramas have yet appeared in Hindi *viz.* 'Shakuntala' by Raja Lakshman Singh and 'Mudra Rakshasa' by Babu Harish Chandra. No apology is therefore needed for the publications of the present series.'

[1] 'पहले-पहल भारतेन्दु ने 'रत्नावली' का अनुवाद करना शुरू किया था। किन्तु एक स्थानीय थिएटर में उसके भद्दे अभिनय से खीज कर उन्होंने उसका अनुवाद करना बन्द कर दिया ('नाटक', पृ० ८१८-८१६)। असामयिक मृत्यु के कारण प्रतापनारायण मिश्र भी उसे पूर्ण न कर सके। अन्त में बाल-मुकुन्द गुप्त ने उसे हाथ में लिया।

अनूदित अनुवाद अविकल नहीं हैं। अनुवादकों ने मनमाने ढंग से नाटकीय विधानों आदि में परिवर्तन किए हैं।

भारतवर्ष में अँगरेज़ी शिक्षा के साथ शेक्सपियर का आगमन हुआ। स्कूलों और कॉलिजों में उनके नाटक पढ़ाए जाते थे। उनके और प्राचीन भारतीय नाटकों में बहुत-कुछ समानता होने के कारण शिक्षित लोगों में उनका प्रचार होते देर न लगी। १८७६ में तोताराम वर्मा ने जोसेफ़ ऐडीसन कृत 'केटो' (Cato) नामक सरस नाटक का 'केटो कृत्तान्त' के नाम से हिन्दी में अनुवाद किया। किसी भी विदेशी नाटक का हिन्दी में यह पहला अनुवाद है। इस नाटक में यह दिखाया गया है कि किस प्रकार रोम नगर निवासी केटो नामक धार्मिक पुरुष ने अपने स्वदेश-शत्रु सीज़र की शरण में जाना अनुचित समझ आत्महत्या की। जहाँ तक हो सका है अनुवादक ने मूल रचना का अविकल अनुवाद करने की चेष्टा की है। नाम इत्यादि भी नहीं बदले गए। उसमें विविध दृश्यों (गर्भांकों) सहित पाँच अंक हैं। भाषा ब्रज रूपों से मिश्रित खड़ीबोली है। बाबू तोताराम ने उसका अनुवाद संस्कृत नाटकों की रीति पर प्रस्तावना सहित अनेक छन्दों में भी किया था। उसमें पात्रादि के नाम भी बदल दिए गए थे। किन्तु सम्भवतः वह प्रकाशित न हो सका। शेक्सपियर के नाटकों में से सर्वप्रथम 'Commedy of Errors' और फिर 'Merchant of Venice' का अनुवाद हुआ। इटावानिवासी रत्नचन्द्र (१८४०-१६११) ने १८७६ में 'Commedy of Errors' का 'भ्रमजालक' नाम से स्वतन्त्र अनुवाद किया। १८८० में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'Merchant of Venice' का 'दुर्लभ बन्धु या वंशपुर का महाजन' के नाम से अनुवाद प्रकाशित किया। अनुवाद की दृष्टि से रत्नचन्द्र को भारतेन्दु की अपेक्षा अधिक सफलता मिली है। उन्होंने शेक्सपियर की नाटकीय कथावस्तु को अत्यन्त सुन्दर ढङ्ग से और सफलता-पूर्वक भारतीय आवरण दिया है। 'भ्रमजालक' में ईफ़ीसस (Ephesus) के स्थान पर चीन का पट्टन नगर घटना-स्थल रक्खा गया है। चरित्रों के नाम भारतीय है। पात्रों के नामों, आचार-विचारों और रीति-रस्मों में आवश्यक परिवर्तन कर दिए गए हैं। किन्तु जहाँ तक हो सका है अनुवादक ने कथानक ज्यों-का-त्यों रहने दिया है। युगल जुड़वाँ भाइयों के नाम छोटा हिंडोल, बड़ा हिंडोल और छोटा यज्ञदत्त, बड़ा यज्ञदत्त हैं तथा देवदत्त और पद्मावती छोटा यज्ञदत्त और बड़ा यज्ञदत्त के पिता और माता के नाम हैं। इन युगल जुड़वाँ भाइयों की कहानी का अत्यंत रोचक ढंग से हिन्दी में

रूपान्तर हुआ है । 'The Merchant of Venice' की कहानी भारतवर्ष में हमेशा से अँगरेज़ी शिक्षित जनता द्वारा पसंद की जाती रही है । 'दुर्लभ बन्धु' का कथानक तो ज्यों-का-त्यों है, किन्तु अनुवादक ने विदेशी नामों और स्थानों के बदले देशी नाम और स्थान रख दिए हैं, जैसे, ऐन्टोनिओ के स्थान पर अनन्त, पोर्शिया के स्थान पर पुरश्री, शाइलॉक के स्थान पर शैलाक्ष, ट्रिपोली के स्थान पर त्रिपुल, आदि । ईसाइयों और यहूदियों का स्थान आर्यों और जैनों ने ग्रहण कर लिया है । यहूदियों और जैनों की तुलना रुचिकर प्रतीत नहीं होती । भारतवर्ष में आर्यों और जैनों में इतना संघर्ष नहीं रहा जितना यूरोप में ईसाइयों और यहूदियों में था । इसके अतिरिक्त भाव, रीति-रस्म, आचार-विचार और घटनाएँ बहुत कुछ विदेशी रूप में रहने दी गई हैं । मूल के काव्यात्मक अंश गद्य में रक्खे गए हैं । भारतेन्दु की इस रचना में असामंजस्य और गड़बड़ी भी उपस्थित हो गई है, जैसे, 'उनका एक जहाज़ त्रिपुल को गया है, दूसरा हिन्दुस्तान को' । कथा के भारतीय आवरण में होने पर हिन्दुस्तान को जहाज़ जाना कुछ अजीब सा मालूम होता है । वास्तव में पूर्ण रूप से अविकल या पूर्ण रूप से स्वतन्त्र अनुवाद न करने से 'दुर्लभ बन्धु' में अनेक अस्वाभाविक और असंगत स्थल हैं । केवल व्यक्तियों और स्थानों के नामों में परिवर्तन कर देने से ही कथा भारतीय रूप धारण नहीं कर सकती । भारतीय रूप देने के लिए पश्चिम और पूर्व के भेद पर ध्यान रखना आवश्यक था । 'दुर्लभ बन्धु' के अभिनय के समय विज्ञ और चतुर दर्शक उसकी असङ्गत बातें तुरन्त पकड़ लेंगे । अच्छा होता यदि भारतेन्दु 'Merchant of Venice' का अविकल अनुवाद प्रकाशित कर हिन्दी-पाठकों को विदेशी सभ्यता और संस्कृति से परिचित कराते । इससे उसका ज्ञान-सम्बन्धी (Academic) महत्व बना रहता । राधाकृष्ण दास के कथनानुसार भारतेन्दु 'दुर्लभ बन्धु' का अनुवाद अपूर्ण छोड़ गए थे । सम्भव है बाद को जिस अनुवादक ने उसे पूर्ण किया उसने असावधानी से काम किया हो । भारतेन्दु उसे कितना अपूर्ण छोड़ गए थे, राधाकृष्णदास ने इस सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं दिया । अविकल अनुवाद जबलपुर की आर्या नामक महिला : 'वेनिस नगर का व्यापारी' (१८८८, 'Merchant of Venice') और जयपुर के पुरोहित गोपीनाथ, एम० ए०, : 'मनभावन' (१८९६, 'As you like it') और 'प्रेमलीला'[1] (१८९७,

[1] " 'मनभावन' के प्रगट होने पर कितने ही महाशयों ने यह आक्षेप किया था कि मुहावरा कहीं-कहीं अंगरेज़ी है, अतएव यह बतलाना आवश्यक है कि मैं

'Romeo and Juliet') ने किए जिनमें उन्हें पूरी सफलता मिली है। आर्या जबलपुर की रहने वाली और अँगरेज़ी की अच्छी ज्ञाता थीं। उनका ध्येय भारत में शेक्सपियर की रचनाओं का प्रचार करना था। उनके अनुवाद की भूमिका सर एड्विन आर्नल्ड, सी० एस० आई० ने लिखी है। आर्या ने पद्यांशों का अनुवाद पद्य ही में दिया है। ये पद्यात्मक अनुवाद बनारस कॉलेज के सूर्यप्रसाद मिश्र, साहित्योपाध्याय ने किए थे। पुरोहित गोपीनाथ ने पद्यात्मक अंशों का अनुवाद गद्य में किया है। जहाँ तक हो सका है दोनों ने मूल के अनुसार ही कवि के गम्भीराशयों को अत्यन्त सुन्दर रूप में रक्खा है। १८९३ में मिर्ज़ापुर के मथुराप्रसाद उपाध्याय शर्मा, बी० ए०, ने शेक्सपियर के 'Macbeth' का 'साहसेन्द्र साहस' के नाम से स्वतन्त्र अनुवाद किया। उन्होंने कथा को भारतीय आवरण दे दिया है। उसमें भारतेन्दु के 'दुर्लभ बन्धु' की-सी उलझन पैदा नहीं होने पाई।

बङ्गाल में सबसे पहले शिक्षा का प्रचार होने से वहाँ नाटक-क्षेत्र में विशेष उन्नति हो गई थी। वहाँ के देशी-विदेशी धनिक-वर्ग और विद्वानों ने इस कला को उच्च शिखर पर पहुँचा दिया था। हिन्दी में भारतेन्दु और श्रीनिवासदास की मृत्यु के बाद पारसी चाल पर लिखे गए नाटकों की भरमार थी। सुहृद और शिक्षित समाज उनको हीन रचनाएँ समझता था। ऐसी अप्रौढ़ रचनाओं ने विद्वानों और कलाविदों को चिन्तित बना दिया। उन्होंने उनकी अपेक्षा प्रौढ़ अनूदित रचनाएँ जनता के सामने रखना अधिक श्रेयस्कर समझा। इस उद्देश्य से प्रेरित होकर रामकृष्ण वर्मा (१८५६-१९०६) ने 'पद्मावती' (१८८८, राजकिशोर दे कृत), 'वीरनारी' (१८८८, द्वारिकानाथ गांगूली कृत) और 'कृष्णाकुमारी' (१८९९, मधुसूदन दत्त कृत) और ग़ाज़ीपुर के मुंशी उदितनारायणलाल वकील (१८८७ र० का०) ने 'सती नाटक' (१८८८, मनमोहन बसु कृत), 'दीपनिर्वाण' और 'अश्रुमती नाटक' (१८९५), बँगला से अनुवाद

केवल अनुवादक मात्र हूं। जहां तक संभव है कवि के अक्षरों और शब्दों और वाक्यों में ही कवि का आशय प्रगट करना अपना परम कर्त्तव्य मानता हूं। इसीलिए जहां तक चल सका है मैंने कवि के गम्भीराशय को कवि ही के अक्षरों, शब्दों, वाक्यों और मुहावरों में प्रगट करने का प्रयत्न किया है।'—पुरोहित गोपीनाथ : 'प्रेमलीला'

प्रकाशित किए[1]। परन्तु इस काल में बँगला से अनूदित नाट्य-ग्रन्थों का हिन्दी-नाटकों पर कोई विशेष प्रभाव पड़ा मालूम नहीं देता। १८८८ में पण्डित ब्रजनाथ ने माईकेल मधुसूदन दत्त कृत सामाजिक प्रहसन 'एकोकी बाले सभ्यता' का 'क्या इसी को सभ्यता कहते हैं?' के नाम से हिन्दी में अनुवाद किया। बाद को शोभा बाज़ार प्राइवेट थिएट्रीकल सोसायटी तथा टैगोर ट्रूप जैसी शौकिया कंपनियों ने स्वतन्त्र या आंगिक रूप में उसका अभिनय किया था। इसमें अँगरेज़ी शिक्षा का कुप्रभाव दिखाया है। १८७७ में केशवराम भट्ट (१८५४—लगभग १९१४) ने बँगला के 'शरत् और सरोजिनी' के आधार पर 'सज्जाद सुम्बुल' और १८८० में 'सुरेन्द्र विनोदिनी' के आशय पर 'शमशाद सौसन' नामक सुन्दर नाटकों की रचना की। इन दोनों नाटकों का कथानक आधुनिक और प्रेमपूर्ण है। नायक और नायिकाएँ सभ्य, सुसंस्कृत और कुलीन मुसलमान वंशोद्भव हैं। उनकी सीधी और सरल लखनवी उर्दू अत्यन्त प्यारी मालूम देती है। सामाजिक और शिक्षा-सम्बन्धी विषयों पर उनमें प्रगतिशील दृष्टिकोण से विचार किया गया है। वे स्वतन्त्रता की भावना से ओतप्रोत हैं। 'सज्जाद सुम्बुल' में सज्जाद नायक और सुम्बुल नायिका है। अम्बेर (बिहार) का ज़मींदार सज्जाद अँगरेज़ी शिक्षित था। देश की पतित अवस्था पर उसे दुःख था। सुम्बुल का पिता मीरदाद का ज़मींदार था। जिस समय उसकी मृत्यु हुई उस पर काफ़ी ऋण था जिसे सज्जाद ने चुकाया। सुम्बुल की मा उसे सज्जाद के आश्रय में छोड़ कर मर गई। सुम्बुल और सज्जाद की बहन

---

[1] 'वीरनारी' और 'कृष्णाकुमारी' ऐतिहासिक हैं। 'दीपनिर्वाण' में मुसलमानी आक्रमण द्वारा भारतीय स्वतंत्रता का दीप बुझ जाता है। 'पद्मावती' पाँच अंकों में श्रृंगार रस पूर्ण नाटक है। नारद ने कुबेर की स्त्री मुरजा और रति में से अधिक सुन्दर को इनाक फल देने का वचन दिया। झगड़ा होने पर विद्भंनगर के राजा इन्द्रनील ने रति के पक्ष में फैसला कर फल उसे दे दिया। मुरजा ने उससे बदला लेने और रति ने उसकी सहायता करने की प्रतिज्ञा की। इन्द्रनील और महेश्वरपुरी के राजा यज्ञसेन की पुत्री पद्मावती में स्वप्न-दर्शन द्वारा प्रेम उत्पन्न होता है। मुरजा यह नहीं जानती कि पद्मावती पूर्व जन्म में उसी की पुत्री और पार्वती के शापवश पृथ्वी पर अवतरित हुई थी। वह तरह तरह के विघ्न डालती है। अंत में रति की सहायता से दोनों का सम्मिलन और विवाह होता है।

गुलशन दोनों शिक्षिता हैं और पर्दा नहीं करतीं। उसके बाद एक ओर तो खानशाह (बिहार) का ज़मींदार शमशेर बहादुर सज्जाद को परेशान करता है, उधर दूसरी ओर सज्जाद के एहसान का बोझ न सह सकने के कारण सुम्बुल घर छोड़ कर चली जाती है। सज्जाद उसे ढूँढ़ने निकल पड़ता है। दोनों को अनेक विपत्तियों का सामना करना पड़ता है। सज्जाद को कुछ क्रान्तिकारी दल के लोग मिलते हैं जो अँगरेज़ी राज्य को मिटा देना चाहते हैं। वह आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से तथा सामाजिक और धार्मिक अन्धविश्वासों को दूर करने के लिए अँगरेज़ी राज्य ज़रूरी समझ कर 'आनंद मठ' वाली भावना का परिचय देता है। अन्त में सब मिल जाते हैं और सज्जाद और सुम्बुल, और अब्बास और गुलशन का विवाह हो जाता है। नाटक में प्रस्तावना नहीं है। कथानक अनेक झाँकियों (दृश्यों) सहित छः अंकों में विभाजित है। मुसलमान पात्र उर्दू और बंगाली क्रान्तिकारी संस्कृत शब्दों से मिश्रित टूटी-फूटी हिन्दी बोलते हैं। 'शमशाद सौसन' में रो ज्वाइन्ट मजिस्ट्रेट जैसा बदमिज़ाज सिविलियन भारत में ब्रिटिश नौकरशाही का अच्छा नमूना है जो अपने को विजयी देश का बता कर भारत को घृणा की दृष्टि से देखता है और न्याय-अन्याय का भेदभाव न कर मनमानी करने में नहीं हिचकता। शमशाद भी एक वीर, शिक्षित, राष्ट्रप्रेमी और निर्भीक युवक की भाँति उसका मुक़ाबला करता है। उससे तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक जागृति का अच्छा परिचय मिलता है। वास्तव में केशवराम भट्ट, और पण्डित ब्रजनाथ की कृतियों में मौलिकता, प्रौढ़ता और रचना-सौन्दर्य नामक गुण हैं जो हमें नए आदर्श की ओर खींच ले जाते हैं। वे दोनों अपनी रचनाओं में कृतकार्य हुए हैं।

भारतेन्दु कृत 'नाटक' में लिखा है कि हिन्दी का सबसे पहला नाटक जो १८६८ में बनारस थिएटर में खेला गया 'जानकी मङ्गल' था। रामायण की कथा निकाल कर यह नाटक पं० शीतलाप्रसाद त्रिपाठी ने बनाया था। १८७७ में एक बङ्गाली थिएटर 'विद्यान्त नाट्यशाला' के नाम से लखनऊ में थी। उसमें स्वयं रामगोपाल विद्यान्त द्वारा बँगला से अनूदित पाँच अंकों का 'रामाभिषेक नाटक' खेला गया था। उक्त नाटक में अधिवास से लेकर बनवास तक की कथा है। प्रस्तावना, विदूषक और दर्शकों के मनोरञ्जन के लिए सङ्गीत की अवतारणा की गई है। फिर बनारस के नैशनल थिएटर में भारतेन्दु कृत 'अन्धेर नगरी' और प्रयाग और कानपुर में क्रमशः 'रणधीर प्रेममोहिनी' और 'सत्य हरिश्चन्द्र' खेले गए

थे। विक्टोरिया की जुबिली के अवसर पर सम्बलपुर के मैरिस हाईस्कूल के विद्यार्थियों ने दुबे नन्दलाल विश्वनाथ कृत 'शकुन्तला' के द्वितीय अङ्क का अभिनय किया था। जो उड़िया और हिन्दी-भाषियों दोनों को बहुत अच्छा लगा। उस समय पश्चिमोत्तर प्रदेश में कोई शिष्ट रङ्गमञ्च और नाटक-समाज नहीं था। वास्तव में बम्बई के सस्ते ढंग के पारसी थिएटरों के कारण हिन्दी रङ्गमञ्च की सम्यक् उन्नति को बड़ा भारी धक्का पहुँचा। सुहृद समाज इन पारसी थिएटरों को निकृष्ट और दुराचार के अड्डे समझता था।

पहले यह बताया जा चुका है कि मुग़लकालीन भारत में नाट्य-कला का ह्रास हो गया था। और उसका जो रूप मिलता था वह रासलीला, रामलीला और स्वाँग के रूप में था। वह भी अत्यन्त शोचनीय अवस्था में था। लीला-मण्डलियाँ घूम-घूम कर धार्मिक एवं पौराणिक लीलाएँ दिखाती फिरती थीं। उनके अभिनय में नाच, गाने, चेहरा, चमकीली वेशभूषा, मज़ाकिया पार्ट, असाधारण घटना के लिए trap door (ट्रैप डोर), आदि की प्रधानता रहती थी। पुरुषों को ही स्त्रियों का रूप धारण करना पड़ता था। उनका कोई नियम नहीं था और न बनाया ही जा सकता था। 'गोपी चंद', 'पूरन भगत', 'हक़ीक़त राय', आदि[1] स्वाँगों में परम्परागत नाच-गानों का विशेष स्थान था। आधुनिक प्रेक्षागृहों की उत्पत्ति से पहले देशी रङ्गमञ्च का यही रूप था। और हिन्दी नाटकों के अभिनय के लिए जो रङ्गमञ्च अपनाया गया उसका वेशभूषा, trap door (ट्रैप डोर) और विषयों की दृष्टि से उससे सम्बन्ध ज़रूर था, परन्तु उसकी उत्पत्ति कहीं और हुई थी। उसके पर्दे, दृश्य, व्यवस्थापना, प्रबन्ध, आदि में पारसी रङ्गमञ्च के माध्यम द्वारा अँगरेज़ी रङ्गमञ्च का प्रभाव स्पष्ट लक्षित है।[2] यहाँ पर इस बात का संकेत कर देना भी आवश्यक है कि हिन्दी-शिक्षित समाज पारसी रङ्गमञ्च को नहीं वरन् उस पर दिखाई गईं अश्लील बातों और अकलात्मक प्रदर्शन को दूषित समझता था।

१८५७ के प्लासी-युद्ध से पहले कलकत्ते में अँगरेज़ी रङ्गमञ्च की स्थापना हो चुकी थी। अँगरेज़ अपने मनोरञ्जन के लिए विभिन्न नाटकों का

---

[1] अन्य अनेक स्वाँग लिखे गए, जैसे, ज्ञानसागर प्रेस, मेरठ द्वारा प्रकाशित 'स्वाँग व नाटक सुदामा जी का', प्रतापनारायण मिश्र कृत 'सांगीत शकुन्तला' (६०)। मुरादाबाद के पं० झब्बीलाल मिश्र ने भी कई स्वाँग लिखे।

[2] दे०, डॉ० रा० के० याज्ञिक: 'दि इंडियन थियटर'

अभिनय किया करते थे। गिरीशचन्द्र घोष के समय तक बंगाली रङ्गमञ्च भी स्थापित हो चुका था जिसके अभिनयों में लोग शौकिया भाग लेते थे। अँगरेज़ी रङ्गमञ्च से उन्होंने अनेक बातें अपनाईं। बम्बई में भी अँगरेज़ी रङ्गमञ्च था। १७७० में 'बौम्बे ग्रीन' (एल्फिन्सटन सर्किल) के पुराने मैदान में सरकार की ओर से मिली हुई ज़मीन पर बम्बई का सब से पहला थिएटर चन्दे से बना। यूरोपियन लोग प्रहसनों, नाट्य-गीतों, मूक अभिनयों और कभी-कभी शेक्सपियर कृत तथा अन्य गंभीर रचनाओं के अभिनयों में शौकिया भाग लेते थे। पारसियों और हिन्दुओं का ध्यान इन नवीन अभिनयों की ओर आकृष्ट हुए बिना न रह सका। १८४२ में जगन्नाथ शंकरनाथ ने अपना निजी (प्राइवेट) थिएटर स्थापित भी कर दिया था। यही फिर मराठी रंग-मञ्च में विकसित हुआ। किन्तु बंगाल से विपरीत बम्बई का रङ्गमञ्च शीघ्र ही पारसियों की वणिक वृत्ति का शिकार बन गया। उन्होंने उसे धनोपार्जन का साधन बनाया और बम्बई से लेकर उत्तर भारत तक अपने रङ्गमञ्च पर अनेक नाटकों के अभिनय किए। बड़े-बड़े शहरों में स्थायी रूप से निर्मित अभिनयशालाओं के अतिरिक्त वे अस्थायी अभिनयशालाएँ बना-बना कर एक शहर से दूसरे शहर घूमने लगे। उत्तर भारत में वे अपनी भाषा का प्रयोग तो कर नहीं सकते थे, इसलिए उन्होंने हिन्दी-उर्दू का ऐसा मिश्रित रूप ग्रहण किया जिसमें उर्दूपन प्रधान था, या कहना चाहिए उन्होने उर्दू ग्रहण की। पारसियों में अभिनय-कला की प्रतिभा थी और वे बम्बई के रङ्ग-मञ्च का प्रचार करनेवालों में अग्रगण्य थे। उर्दू या पारसी रङ्गमञ्च के प्रति-ष्ठापक सेठ पेस्टनजी माने जाते हैं जिन्होंने १८७० के लगभग ऑरिजिनल थिएट्रीकल कंपनी खोली। तत्पश्चात् अन्य कई पारसी कंपनियाँ स्थापित हुईं। पारसी कंपनियों का रङ्गमञ्च बम्बई में स्थापित अँगरेज़ी रंगमंच का, जो शेक्सपियर कालीन रङ्गमञ्च के आधार पर था, अनुकरण किया। पारसियों ने उसमें आवश्यक परिवर्तन कर लिए थे। प्रत्येक कंपनी का अपना लेखक होता था जो अभिनय के लिए नाटकों की रचना करता था। ये लेखक अभिनय में भी भाग लेते थे और इसलिए रङ्गमञ्च का व्यावहारिक अनुभव रखते थे।

अस्तु, हिन्दी-प्रदेश में पारसी रङ्गमञ्च का प्रचार होने से पूर्व बंगाल और महाराष्ट्र में रङ्गमञ्च की बहुत उन्नति हो गई थी। कहा जाता है कि पारसी रंगमञ्च पर उर्दू का सबसे पहला नाट ऑपेरा अमानत कृत 'इन्दरसभा' (१८५३) बम्बई में खेला गया था। अमानत प्रसिद्ध कवि नासिख

के शिष्य और वाजिदअली शाह के दरबारी थे। अपने आश्रयदाता के कहने से उन्होंने 'इन्दर-सभा' की रचना की थी। क़ैसरबाग़, लखनऊ में उसका अभिनय हुआ और स्वयं वाजिद अलीशाह ने उसमें भाग लिया। यह खेल इतना मशहूर हुआ कि न केवल अमानत की 'इन्दर सभा' ही नागराक्षरों में प्रकाशित हुई, वरन् मदारीलाल कृत और दर्यायी 'इन्दरसभा' भी १८८० में हिन्दी में प्रकाशित हुई। 'दर्यायी इन्दर सभा' में सब्ज़परी और शाहज़ादे में प्रेम है। इन्दर नहीं चाहता कि वह किसी मानव से प्रेम करे। वह काले देव द्वारा शहज़ादे के गुलाफ़ाम को पकड़वा लेता और कुएँ में क़ैद करा देता है। सब्ज़परी योगिन के वेष में इन्दर सभा में आती है और अपने गानों से उसे खुश कर लेती है। वरदान के रूप में गुलफ़ाम छूट जाता है और सब्ज़परी और शहज़ादे का विवाह हो जाता है। अमानत कृत 'इन्दर सभा' की रचना के एक वर्ष बाद ही हिन्दी में 'नाटक छैलबटाऊ मोहना रानी का' (१८५४), 'मुछन्दर सभा', आदि ऑपेरा अमानत की रचना की शैली पर लिखे गए। 'नाटक छैल बटाऊ' .... में दिल्ली के राजा छैल बटाऊ और उम्दा नगर (गुजरात) की मोहना रानी की सुखान्त गीतपूर्ण प्रेम कहानी है। 'मुछन्दर सभा' का कथानक 'इन्दर सभा' की भाँति है, केवल इन्दर, गुलफ़ाम और सब्ज़ परी के स्थान पर मुछन्दर, शहज़ादा और शरारत परी के नाम रख दिए गए हैं। उसमें छः अंक और तड़क-भड़क वाले अनेक दृश्य हैं। इन रचनाओं की भाषा हिन्दी-उर्दू-मिश्रित है। हाफ़िज़ मुहम्मद अब्दुल्ला और मिर्ज़ा नज़ीर बेग उर्दू के प्रसिद्ध नाटककार और अभिनेता थे। उन्होंने पारसी कंपनियों के अनुकरण पर इंडियन इम्पीरियल थिएट्रीकल कंपनी, इंडिया ऑपेरा थिएट्रीकल कंपनी, लाइटनिंग थिएट्रीकल कंपनी, पारसी जुबिली थिएटर कंपनी ऑव बाम्बे तथा नवाब मुहम्मद वज़ीर जान ने दि मून ऑव इंडिया कंपनी, आदि नाटक कंपनियाँ खोल रक्खी थीं या धौलपुर में पीटर्न (Petern) कंपनी थी। बाँस बरेली के रईस अमीनउद्दीन खाँ ने भी दि हर मैजेस्टी विक्टोरिया ड्रामैटिक थिएट्रीकल कंपनी खोली थी। हाफ़िज़ मुहम्मद अब्दुल्ला चितौरा, ज़िला फ़तेहपुर, के मुंशी शेख इलाही बख्श के लड़के थे। १८८१ में उनके 'ज़ोहरा बहराम नाटक' की पाँचवीं आवृत्ति प्रकाशित हुई। १८८५ में उनका 'शकुन्तला' नामक पौराणिक नाटक प्रकाशित हुआ। कहा जाता है उसमें उर्दू ड्रामा के बीज निहित हैं। ये रचनाएँ लेखक की इंडियन इपीरियल थिएट्रीकल कंपनी और धौलपुर की पीटर्न कंपनी में खेले जाने के लिए निर्मित हुई थीं।

मिर्ज़ा नज़ीर बेग उर्फ़ नज़ीर अकबराबादी आगरे के मिर्ज़ा अशरफ़ बेग के लड़के और हाफ़िज़ मुहम्मद अब्दुल्ला के शिष्य थे। पहले वे इंडियन इंपीरियल थिएट्रीकल कंपनी के प्रधान अभिनेता थे। बाद को वे इंडिया ऑपेरा थियेट्रीकल कंपनी, लखनऊ, लाइटनिंग ऑव इंडिया थिएट्रीकल कंपनी और बाँस बरेली के रईस अमीनउद्दीन ख़ाँ की दि हर मैजेस्टी विक्टोरिया ड्रामैटिक थिएट्रीकल कंपनी के मेनेजिंग डाइरेक्टर और पारसी जुबिली थिएटर कंपनी ऑव बौम्बे के डाइरेक्टर थे। १८६० में उन्होंने 'नाटक मार्के लंका मारूफ़बे रामलीला नाटक' और १८६३ में 'नाटक चमन नौ बहार मारूफ़बे राजा सखी कृष्ण औतार' की रचना की। तत्पश्चात् अपनी कंपनियों के लिए हाफ़िज़ मुहम्मह अब्दुल्ला और नज़ीर बेग ने 'हीर राँझा' (न०), 'लैल-ओ-मजनूँ' (हा०), 'बहारे इश्क़' (न०), 'फ़िसाने अजायब' (१८८८, न०), 'फ़साने गमग़ीं मारुफ़बे इश्क़ फ़रहाद व शीरीं' (१८८१, हा०), 'इश्क़ जानि आलम' (१८८८, न०) 'तमाशा गर्दिश तक़दीर मारूफ़बे सत हरिश्चन्द्र नाटक' (१८६०-६१, न०), 'आशिक़ की वफ़ा माशूक़ की जफ़ा मारुफ़बे क़िस्सा माहीगीर व दिलवर लक़ा' (१८६३, न०), 'गुलज़ार आशिक़ी मारुफ़बे चित्राबकावली' (१८६४, न०), 'गुलशन पाकदामिनी मारूफ़बे नई चन्द्रावली लासानी' (१८६६, न०), आदि अनेक ऑपेरा नाटक लिखे। प्रचार की आवश्यकतानुसार उनके नागरी रूपान्तर तथा 'अलीबाबा', 'पूरन भगत', आदि भी प्रकाशित हुए।

इनमें से कुछ नाटकों के कथानकों से शेष रचनाओं के कथानकों का अनुमान लगाया जा सकता है। उनमें इश्क़ खास चीज़ है। शीरीं और फ़रहाद, लैला और मजनूँ हीर-राँझा के क़िस्से तो प्रसिद्ध ही हैं। 'क़िस्सा माहीगीर व दिलवर लक़ा' क़िस्सा नौ रतन से लिया गया है। मुल्क यमन के बादशाह दिलवर शाह ने जाँबाज़ माहीगीर को हर रोज़ माही का दिल लाने की आज्ञा दी। यदि किसी दिन दिल न मिला तो फ़ाँसी की सज़ा। वह रोज़ दिल पहुँचाने लगा। इसी बीच में उसका दिलवर लक़ा शहज़ादी से प्रेम हो गया। एक दिन वे दोनों प्रेम में ऐसे मदहोश हुए कि माहीगीर दिल लाना भूल गया। अब तो वह फ़ाँसी के डर से बहुत घबड़ाया। शहज़ादी ने कहा घबड़ा मत। मुल्क तातार का सौदागर जाँफ़िदा उस पर मोहित हो वहीं पड़ा था। दिलवर लक़ा ने उससे उसका दिल माँगा, उसने चीर कर दे दिया। दिल जब शाह के बावर्चीख़ाने में पहुँचा तो बोलने लगा। यह देख कर बावर्ची घबड़ाया। शाह ने सुन कर शेख़सादी नामक एक इल्मी शख़्स

को इसकी तहक़ीक़ात के लिए नियत किया। पता लगने पर शाह माहीगीर से बहुत बिगड़ा और उसे जाँबाज़ तीरों से छिदवा दिया। उसने शहज़ादी से दिल सौदागर के बदन में रखवाया और दोनों का विवाह कराया। इस नाटक में अनेक दृश्यों सहित दो अंक हैं और चड्डागुलखेरू, चूरन वाला, आदि हास्य रस के पात्र हैं। 'चित्राबकावली' का क़िस्सा गुलबकावली से लिया गया है। ताजुलमल्क नामक मनुष्य से प्रेम करने पर राजा इन्द्र ने बकावली परी को एक देवी की मूर्ति के रूप में एक मन्दिर में क़ैद कर दिया। सिंहल द्वीप के राजा चित्रसेन की लड़की चित्रा भी ताज से प्रेम करती थी। किन्तु ताज बकावली के पीछे पागल था। इश्क़ की तकलीफ़ों और शिकायतों के बाद वे दोनों बकावली की आज्ञा लेने उसके पास गए। बकावली की आज्ञा से दोनों ने शादी कर ली। इस नाटक में अनेक दृश्यों सहित तीन अंक हैं। 'नई चन्द्रावली लासानी' की रचना पारसी जुबिली कंपनी की चीफ़ ऐक्ट्रेस बी शीरीं जान की फ़र्मायश से हुई थी। चन्द्रनगर के राजा और रानी चन्द्रसेन और चन्द्रबदन की राजकुमारी चन्द्रावली जोबन नगर के राजा जोबनसिंह से प्रेम करती थी। हिमाक़त सिंह, जालम बटमार, ज़बरदस्त ख़ाँ, आदि की बदमाशियों के बाद भी वह अपने प्रेमी से विवाह करने में सफल हुई। अनेक दृश्यों सहित चार अंकों में कथानक समाप्त हुआ है। इन नाटकों में गानों की बहरें अरबी, हिन्दी और अँगरेज़ी की हैं। स्टेज के मुताबिक़ पर्दे लगाए जाते थे। अल्फ़्रेड कंपनी के या बम्बई के सेठ दादा कृष्ण जी के अलाउद्दीन, अलीबाबा, आदि नाटकों में जो तर्ज़ें रहती थीं वही तर्ज़ें इन नाटकों में भी रक्खी गईं। नाटककार लेखक होने के साथ-साथ अभिनेता, डायरेक्टर, आदि भी होते थे। 'ज़ोहरा बहराम' की कहानी 'बहार दानिश' से ली गई और उसमें बहराम और ज़ोहरा के प्रेम तथा अन्त में विवाह का वर्णन किया गया है।

इस शैली पर हिन्दी में भी अनेक नाटकों की रचना हुई। १८८६ में मथुरा के चुन्नीलाल ने 'हरिश्चन्द्र नाटक' लिखा और सज्जन सभा की अध्यक्षता में गोविन्दगञ्ज, होली दरवाज़े पर ठाकुर लक्ष्मणसिंह के अहाते में वह अभिनीत भी हुआ। उसमें मंगलाचरण है और नाट्यकार तथा सूत्रधार में सम्भाषण होता है। उसका सूत्रधार पारसी कंपनी के मैनेजर के रूप में है। कथानक सात अंकों में विभाजित है। उसमें दृश्य नहीं रक्खे गए। पारसी कंपनियों की चाल पर उसमें कथनोपकथन पद्य में कराए गए हैं। भाषा में ब्रज और खड़ीबोली का मिश्रण है। १८६० से पहले महताबराय कायस्थ ने इसी

ढंग के 'हरिश्चन्द्र' और 'रामलीला' नाटक लिखे। उनका 'रामलीला' नाटक देख कर ही नज़ीर बेग ने अपने 'रामलीला' नाटक की रचना की। १८६२ में राय साहब मथुरादास ने 'चन्द्रावती' नामक नाटक की रचना की। इसी समय के लगभग इटावा के मौलवी खुदाबख्श के लड़के बख्श इलाही उपनाम नामी की 'नागर सभा', 'नामीसभा', 'आशिक़ सभा', आदि तथा 'क़त्ल हक़ीक़त राय', 'अञ्जाम बदी' नाटक जैसी अन्य रचनाएँ प्रकाशित हुईं। उनकी देखादेखी अनेक ऐसे नाटकों की हिन्दी में रचना हुई। इन सब की रचना पारसी खेलों के अनुकरण पर हुई है। उनमें पात्र मौक़े-बेमौक़े गाया ही करते हैं और पद्यों में बातचीत करते हैं। बड़े-बड़े राजा-महाराजा तक अपना गौरव भूल कर गाने और नाचने लग जाते हैं। ग़ज़ल, ठुमरी, दादरा, दोहा, छप्पय, हरिगीतिका, आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है। उसमें जितना ध्यान अत्यधिक हाव-भाव-प्रदर्शन और गानों पर दिया गया है उतना चरित्र-चित्रण पर नहीं दिया गया।

१८८३ में 'नाटक' की रचना के समय पारसी कंपनियों का काफ़ी प्रचार हो चुका था। उनमें जो नाटक खेले जाते थे उनकी बुरी दशा थी। वहाँ भारतेन्दु ने 'पतली कमर बल खाय' गाते और एक हाथ कमर के नीचे और दूसरा अपने सिर पर रक्खे हुए गँवार स्त्रियों की तरह नाचते हुए शकुन्तला देखी थी। पारसी चाल के नाटकों के नायक-नायिकाएँ दिलफेंक मर्द-औरतों की तरह बात करते पाए जाते हैं। नज़ीर के 'रामलीला' नाटक में राम और सीता आपस में बात करते समय 'कटारी', 'जानी', 'दिलजानी', 'जोबन उभारना' या

'परमेश्वर ने क्या सूरत है ये सँवारी,
सीता ने जिगर पै नैन कटारी मारी।
अलबेली बाँकी तिरछी बिरछी चितवन।
चलते में लचके कमर हिचकती कामन॥'

आदि का प्रयोग करते हैं। ऐसे और अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। वास्तव में इन नाटकों में भद्दे गीत, ऊटपटाँग और अश्लील हाव-भाव-प्रदर्शन और कुढंगे नाचों के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता था। भारतेन्दु ने तभी तो इन नाटकों और नाटकघरों की निन्दा की है। उन्होंने जनता की रुचि परिमार्जित करने का भरसक प्रयत्न किया। परन्तु हिन्दी-रङ्गमञ्च की पूर्ण प्रतिष्ठा करने के लिए वे अधिक काल तक जीवित न रह सके।

अस्तु, उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के नाट्य-साहित्य का प्रधान उद्देश्य धार्मिक और सामाजिक सुधार एवं देशप्रेम था। लोग नाच-गानों के लोभ से पारसी कंपनियों की ओर अधिक आकृष्ट होते थे। उन्हें इन्द्रसभा, गुलबकावली जैसे नाटक ही रुचते थे। हिन्दी नाटककारों ने सोचा कि नाटक ऐसे होने चाहिए जिनसे मनुष्य के हृदय में बुराई से घृणा और भलाई से प्रीति उत्पन्न हो अथवा जिससे देश में प्रचलित बुराई दूर और भलाई का प्रचार हो। जनता की रुचि की परितुष्टि के लिये उन्होंने अपने नाटकों में गाना-बजाना आदि तो पारसी खेलों के समान परन्तु उद्देश्य देशोपकारी और धर्मरक्षक रक्खा। अतः अधिकांश में यह नाट्य-साहित्य प्रचारात्मक है। भारत की श्रद्धालु जनता ने उसी को अपनाया। उधर लीलाओं में 'मोरध्वज', 'हरिश्चन्द्र', 'ध्रुव', 'गोपीचन्द', 'द्रौपदी', 'शकुन्तला', 'सीता-बनवास', 'कंस', 'एकादशी', आदि का जनता में अत्यधिक प्रचार था। ये लीलाएँ भी बड़े ठाठ-बाट के साथ रङ्गमञ्च पर दिखाई जाने लगीं। रङ्गमञ्च पर प्रदर्शित युद्ध, रावण या कंस-वध, दुष्ट-दमन, पातिव्रत धर्म, भक्तों की कठिन परीक्षा, प्रेम-लीला, दुःख, वेदना, आदि बातों से जनता अत्यधिक प्रभावित होती थी, यद्यपि उनमें कलात्मक अंश का प्रायः अभाव रहता था। धार्मिक और सामाजिक, कुछ हद तक ऐतिहासिक, नाटकों और प्रहसनों से जनता का मनोरञ्जन हुआ। किन्तु लीलाओं और पारसी खेलों के प्रभावान्तर्गत हिन्दी में उच्च कोटि के नाट्य-साहित्य की अधिक सृष्टि न हो सकी।

भाषा के सम्बन्ध में इतना कहना ही काफ़ी होगा कि उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में हिन्दी भाषा में व्याकरण के नियमों का उल्लंघन और उसका

७

कविता

अब तक हम गद्य की चर्चा करते आ रहे थे, क्योंकि नवयुग का साहित्य गद्य का साहित्य है। लेकिन हमारी साहित्यिक सम्पत्ति कविता ही थी। जहाँ तक कविता से सम्बन्ध है, अभी तक हमारे कवियों का ध्यान यथार्थ जगत् की ओर न होकर भाव-जगत् की ओर ही अधिक था। वे परिपाटीविहित और रूढ़िग्रस्त राधा-कृष्ण की लीलाओं और नायक-नायिकाओं के कल्पित ऐश्वर्य और विलास में डूबे हुए थे। इन भावों की अभिव्यक्ति के लिए कवियों के पास उपयुक्त साधन थे और कविता के आदर्शों में अभी परिवर्तन नहीं हुआ था। परन्तु इस काल में पश्चिमी दुनिया के सम्पर्क में आने से हमारे कवियों का ध्यान प्राचीन काव्य-परम्परा के निर्वाह के अतिरिक्त नवीन भावों और विचारों और अपने चारों तरफ़ की दुनिया की ओर भी जाने लगा। कई शताब्दियों बाद पहली बार हिन्दी-कवि अपनी पुरानी सम्पदा छोड़ कर आगे बढ़ा। यहीं से हिन्दी कविता में आधुनिक युग की विचारधारा का सूत्रपात होता है, और इसी में हमारे कवियों का महत्त्व है।

पश्चिमी दुनिया के सम्बन्ध से भारतीय राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में जो परिवर्तन हुए उनका दिग्दर्शन कराया जा चुका है (दूसरा अध्याय)। उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में बङ्गाल इन आन्दोलनों को जन्म दे चुका था। लॉर्ड बैंटिंक के समय में सामाजिक और धार्मिक आन्दोलनों ने और भी प्रगति की। आलोच्य काल में हिन्दी-प्रदेश भी नवीन विचारों से आन्दोलित हो उठा।। चारों तरफ़ सुधार और प्रगति की आवाज़ सुनाई देने लगी। उसकी प्रतिध्वनि हमें हिन्दी साहित्य में मिलती है। ये आन्दोलन आपस में एक दूसरे से इतने गुँथे हुए हैं कि उनके बीच कोई विभाजन-रेखा खींचना दुस्तर कार्य है। परन्तु इतना निश्चित है कि पाश्चात्य विचारधारा से प्रभावित होने और अँगरेज़ी साहित्य के अध्ययन के फलस्वरूप शिक्षित और सुहृद समाज को ब्रजभाषा साहित्य का (शृङ्गारपूर्ण) आदर्श खटकने लगा था। पण्डित यज्ञदत्त तिवारी का कहना है :

'विषयारत भारत की [कुदशा न निहारत रोज बरोज ही की।
कहाँ बिक्रम बिक्रम के समै सों कथामात्र है भोज के भोज ही ,की ॥
रजधानो बिलानी सुदेश मैं सारी कहाँ वह श्रौज कनौज ही की।
भवसिंधु गोबिन्द तू पार भयो जौं इनोंज है मौज मनोज ही की ॥२८'[1]

पण्डित मदनमोहन मालवीय 'मकरन्दलाञ्छन' कहते हैं :

'भारत चारहुं श्रोर दुखी दुख भोगत बीतिगे वर्ष हजारन।
ध्यान रतीक दियो चहिये दुख कौन उपाय सों होय निवारन ॥
सो सब दूरि रहै मकरन्द समैं इन बातन में किहि कारन।
होय सो होय इहां नहि भूलिनो "राधिका रानी" कदम्ब की डारन॥३'[2]

इस नवयुगीन श्रान्दोलन के प्रवर्त्तन में उन लोगों का हाथ था जिन्होंने अँगरेज़ी शिक्षा पाई तो थी परन्तु जिन्हें भारतीयता और भारत की दुरवस्था का ध्यान सदैव बना रहता था। उन्होंने देखा कि समाज में रूढ़िप्रिय लोगों, पाश्चात्य सभ्यता के ग़ुलामों, पुलीस और अदालती लोगों की लूट-खसोट, देश के स्वार्थी श्रमीरों, सर्वत्र धार्मिक मिथ्याचार, अनाचार, छल और कपट, भारत की निर्धनता, आदि से देश की सामूहिक भलाई की कोई आशा नहीं थी। उनमें विचार-स्वातन्त्र्य था और वे भारत की स्वाधीनता के स्वप्न देखने लगे थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एक ऐसे ही आदर्श देशभक्त थे। उन्होंने देशभक्ति, लोकहित, समाज-सुधार, मातृभाषोद्धार, स्वतन्त्रता, आदि की वाणी सुनाई। अन्य कवियों ने उनके स्वर में स्वर मिलाया। बालमुकुन्द गुप्त पराधीन भारत के कवियों को कवि और कविता को कविता कहने के लिए तैयार नहीं थे। उनका कहना है:

'भारत में अब कवि भी नहीं हैं कविता भी नहीं है। कारण यह कि कविता देश और जाति की स्वाधीनता से सम्बन्ध रखती है। जब यह देश, देश था और यहाँ के लोग स्वाधीन थे, तब यहाँ कविता भी होती थी। उस समय की जो कुछ बची-खुची कविता अब तक मिलती है वह आदर की वस्तु है और उसका आदर होता है। कविता के लिये अपने देश की बातें, अपने देश के भाव और अपने मन की मौज दरकार है। हम पराधीनों में यह सब बातें कहाँ ? फिर हमारी कविता

[1]साहबप्रसाद सिंह (संपा०): 'काव्य कला', प्रथम किरण (१८८४), पृ० १००

[2]वही, पृ० ४४

क्या और उसका गुरुत्व क्या ? इससे इसे तुकबन्दी ही कहना ठीक है। पराधीन लोगों की तुकबन्दी में कुछ तो अपने दुःख का रोना होता है और कुछ अपनी गिरी दशा पर पराई हंसी आती है…'

आर्य समाज आन्दोलन के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द ने भी समय की गति पहिचान कर भारतीय जागरण की शङ्ख-ध्वनि की। आलोच्य-कालीन हिन्दी साहित्य को नवीन आन्दोलनों के कारण विविध विषय-सम्बन्धी सामग्री और उपादान मिले। आन्दोलन के फलस्वरूप उत्पन्न वातावरण में पालित-पोषित होकर अनेक ऐसे व्यक्तियों ने भी प्रगति का स्वर उच्च किया जिन्होंने न तो अँगरेज़ी शिक्षा प्राप्त की थी और न पाश्चात्य विचार-धारा के सम्पर्क में आए थे। वास्तव में प्रत्येक आन्दोलन का जन्म शिक्षित लोगों के सीमित समुदाय में हुआ, किन्तु धीरे-धीरे उन्होंने जन-आन्दोलनों का रूप ग्रहण कर लिया। व्यक्तिगत रूप से संगठित अनेक छोटी-छोटी सभा-संस्थाओं के अतिरिक्त सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में आर्य समाज और राजनीतिक क्षेत्र में काँग्रेस आन्दोलनों ने शीघ्र ही व्यापक रूप धारण कर देश के मानसिक जीवन को प्रभावित करना शुरू कर दिया। प्रारम्भ में काँग्रेस भी धार्मिक और सामाजिक सुधारों में दिलचस्पी लेती थी, किन्तु आगे चल कर उसका क्षेत्र राजनीति तक ही सीमित रह गया। आर्य समाज आन्दोलन में भी देश-प्रेम और भक्ति के बीज निहित थे। उसके अनुगामियों ने सहर्ष काँग्रेस के राष्ट्रीय आन्दोलन में पूर्ण भाग लिया।

देश और समाज में जो परिवर्तन हो रहे थे उनसे साहित्य अलग न रह सका। उपन्यास और नाट्य-साहित्य की भाँति कविता ने भी नवीन आन्दोलनों का अनुसरण किया। ऐसी रचनाओं में प्रचारात्मकता और सामयिकता आ जाना अनिवार्य था। साथ ही अँगरेज़ी साहित्य के अध्ययन के फलस्वरूप हिन्दी साहित्य की 'स्पिरिट' बदलने लगी और विषयों की अनेक-रूपता की सृष्टि होने लगी थी। श्रीधर पाठक जैसे कवियों ने अँगरेज़ी काव्यगत भाव और शैली की महत्ता स्वीकार कर हिन्दी में भी उसी कोटि की रचनाएँ कर मनस्तुष्टि करनी चाही। हमारे साहित्यिकों का प्रधान कार्य जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जनसमाज को शिक्षित कर प्रगति की ओर ले जाना था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने चित्तौड़ आदि इतिहास-प्रसिद्ध विषयों तथा अन्य अनेक नए-नए विषयों पर काव्य-रचना कर हिन्दी कविता में नवीन युग उपस्थित कर दिया। पुरानी लीक छोड़ कर कविता ने अपना नया रास्ता बनाया और वह गतिशील हुई। तत्कालीन परिस्थिति के साथ भावों और

विचारों का सामञ्जस्य हुए बिना समाज के हितसाधन की कोई आशा नहीं थी।

हिन्दी काव्य के इस नवीन रूप के साथ-साथ ब्रजभाषा और उसके साहित्य का प्रचार बराबर बना रहा, यद्यपि उनका आसन हिल चुका था। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा हिन्दी के प्रायः अन्य सभी बड़े-बड़े कवि काव्य की पुरानी परम्परा के अनुयायी बने रहे। भारतेन्दु पक्के वैष्णव थे और पुराने वातावरण में पले थे। उनके चारों ओर का समाज अवनति और पतन के कर्दम में लिप्त पड़ा था। अतएव भूतकाल का बन्धन एकदम टूटने वाला नहीं था। परन्तु इतने पर भी प्रगतिशील पिता के पुत्र होने के कारण उन्होंने कविता को नई विचारधारा की ओर प्रवृत्त किया। वास्तव में भारतेन्दु प्राचीन और नवीन के बीच एक सुनहरी कड़ी हैं। उनके नाटकों में देश की अधोगति और उसके प्राचीन गौरव की मार्मिक व्यञ्जना हुई है। उन्होंने सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आदि विषयों पर अनेक कविताओं की रचना कर नवीन चेतना का परिचय दिया। दुर्भाग्यवश १८८५ में इंडियन नैशनल काँग्रेस की स्थापना के समय वे अपने लगाए हुए राष्ट्रीयता के वृक्ष को पुष्पित-पल्लवित होते न देख सके। काँग्रेस की स्थापना के बाद देश की मनोवृत्ति में निश्चित रूप से परिवर्तन हुआ है। १८६१ में भारतेन्दु ने 'स्वर्गवासी श्री अलवरत वर्णन अन्तर्लापिका' शीर्षक नए विषय की कविता लिखी। अतः इस कविता को हम हिन्दी काव्य के नवीन रूप की अग्रगामिनी और १८६१ को आधुनिक हिन्दी काव्य का वपन-काल मान सकते हैं। उस समय भारतेन्दु ग्यारह वर्ष के थे। तदनन्तर उन्होंने अन्य अनेक रचनाएँ प्रकाशित कीं।[1]

कविता की नई धारा में मोटे तौर पर कुछ खास-खास बातें पाई जाती हैं जिनका जन्म नवोदित आन्दोलनों और जीवन की नई परिस्थितियों के आविर्भाव के कारण हुआ था। उनसे प्रकट होता है कि किस प्रकार हिन्दी कवि नवीन वातावरण से प्रभावित होकर गतिशील होने के लिए छटपटा उठे थे और प्राचीन साहित्य के निर्धारित मार्ग से अलग हट रहे थे। उनकी रचनाओं में सब प्रकार से पीड़ित भारतीय जनता की पुकार पाई जाती है। देश-भक्ति और सामाजिक सुधार का स्वर सबसे ऊँचा था।

---

[1] दे०, नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'भारतेन्दु-ग्रन्थावली' (१९२७), दूसरा खण्ड।

आलोच्य-कालीन नवीन कविता पर विचार करते समय सबसे पहले १८५७ के विद्रोह की ओर ध्यान जाना बहुत-कुछ स्वाभाविक है। देश के राजनीतिक क्षेत्र में वह एक महान् ऐतिहासिक घटना थी। उसने देश की राजनीतिक कायापलट ही नहीं की, वरन् उसके फलस्वरूप जीवन की परिवर्तित परिस्थितियों के प्रभावान्तर्गत हिन्दी प्रदेश में नवीन साहित्यिक चेतना का भी जन्म हुआ। इस नवीन चेतना का नेतृत्व समाज के एक विशेष वर्ग के हाथ में था। विद्रोह के कारणों पर भारतीय और विदेशी विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से विचार किया है। किन्तु वास्तव में विद्रोह का कोई एक कारण नहीं था। उसके पीछे इँगलैण्ड और भारत के आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध का लगभग एक शताब्दी का इतिहास है (दे०, अध्याय दूसरा)। देशी राज्यों के प्रति सरकारी नीति और अन्त में अवध की समस्या के फलस्वरूप अन्तिम विस्फोट हुआ। विद्रोह की आग भड़क उठी और जगह-जगह अँगरेज़ों की शक्ति उखाड़ फेंकने की चेष्टाएँ हुईं। शुरू में विद्रोहियों को कुछ सफलताएँ मिलीं भी, किन्तु अँगरेज़ों की संगठित सैनिक शक्ति और वैज्ञानिक साधनों के सामने वे अधिक दिन तक न ठहर सके।

विद्रोह का हिन्दी-प्रदेश से घनिष्ठ सम्बन्ध है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तो उसकी छाया में पल कर ही बड़े हुए थे। इसलिए यह देखना आवश्यक है कि इस महान् ऐतिहासिक घटना ने साधारण हिन्दी-भाषियों और हिन्दी कवियों तथा लेखकों को कहाँ तक और किस प्रकार प्रभावित किया। भारतेन्दु ने विद्रोह के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा। एक स्थान पर उन्होंने थोड़ा-सा संकेत दिया है जिसका उल्लेख आगे किया जायगा। उनका यह मौन आश्चर्यजनक है। किन्तु इसका उत्तर आपको स्वयं उनके कथन में ही मिल जायगा। भारतेन्दु के बाद भी केवल इने-गिने कवियों ने ही विद्रोह के सम्बन्ध में लिखा है। उन्होंने भी जो कुछ लिखा है वह विद्रोह जैसी महान् ऐतिहासिक घटना के देखते हुए बहुत कम है।

सर्व प्रथम हमें सेवक कवि कृत 'वाग्विलास' में विद्रोह-सम्बन्धी उल्लेख मिलता है। सेवक की रचना का निर्माण-काल अज्ञात है। किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस ग्रन्थ की रचना विद्रोह के बाद ही हुई थी। कई स्थानों पर विक्टोरिया का नाम मिलता है। अपने आश्रयदाता राजा हरिशंकर सिंह और गौरीशंकर सिंह के सम्बन्ध में लिखते हुए कवि का कहना है :

'गुनगन के हरिया उभे दान मान के रूप।
पैरषाह अँगरेज़ के मन मन सोहित रूप॥
वौनइस सै तेरा प्रगट सम्मत हो छिति कंत।
बलवा में हाकिमन की करी सहाय अनंत॥
हाकिमान को गाढ़ लष मदत दई बहुत भांति।
बागिन को मारत भये लै क्रिपान रिसमाति॥
परसन मे हित हित समुझि जब भये गुरंड अडोल।
कइय पारचे की षिलति मिलिक दई अनमोल॥'

हरिशंकर सिंह ने बलवाइयों से डट कर मोर्चा लिया। सेवक ने उनकी इस वीरता का वर्णन किया है। इसलिए :

सुनतहि या विधि को समर षुसी भये अंगरेज़।
षिलत सारटीफिकट हू दीन्ह्यौ सहित मजेज॥

तत्पश्चात् कवि ने दो छन्दों में खिलअ़त का वर्णन हिन्दी की परम्पराविहित शैली में किया है। कवि सेवक के उल्लेख से इस ऐतिहासिक तथ्य पर प्रकाश पड़ता है कि अनेक छोटे-छोटे राजाओं और ज़मींदारों ने जिन्हें अँगरेज़ी सत्ता से लाभ पहुँचा था अँगरेज़ों को सहायता दी थी।

एक अन्य प्रसिद्ध कवि रसराज बाबू बिहारी सिंह ने विद्रोह के बाद अँगरेज़ी राज्य की नियामतों पर ध्यान दौड़ाते हुए कहा है :

'ग़दर ग़नीम गुबार उठ्यो संतावन में सिगरे जग जानी।
केते अनीति अनीति कियो सब हिंद प्रजा हिय में भय मानी॥
त्योंही बिहारी लियो कर सासन मेटी प्रजा दुख बेगि सयानी।
जेहिं ऐसो बिचार असीसैं सबै चिरजीवो सदा विक्टोरिया रानी॥'[1]

इस छन्द में कवि ने इस तथ्य की ओर संकेत अवश्य दिया है कि कंपनी के राज्यान्तर्गत प्रजा पीड़ित थी, किन्तु ग़दर के सम्बन्ध में उन्होंने अपना रुख हमें नहीं बताया। प्रसिद्ध कवि प्रतापनारायण मिश्र का रुख अधिक स्पष्ट है :

सन सत्तावन माहिं जबहिं कछु सेना बिगरी।
तब राजा दिशि ही रही सुदृढ़ ह्वै परजा सिगरी॥

---

[1] 'भारतेश्वरी भूषण' (१८८७), पृ० २

दुष्ट समुझि अपने भाइन कहं साथ न दीन्हो।
भोजन बिन विद्रोहिन कर दल निरबल कीन्हो॥
ठौर ठौर निज घर लुटवाये अरु फुंकवाये।
प्रान खोय बहु ब्रिटिश वर्ग के प्रान बचाये॥'[१]

इसी प्रकार उपाध्याय बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने भी निम्नलिखित रूप में अपने भाव प्रकट किए हैं :

'दियो त्रस्त करि पूरब डरे मानवन के मन।
समझयो जिन ये चाहत नासन जाति, धर्म, धन॥
देसी मूढ़ सिपाह कछुक लै कुटिल प्रजा सँग।
कियो अमित उत्पात, रच्यों निज नासन को ढँग॥
बढ़्यो देस में दुख, बनि गई प्रजा अति कातर।
फेर्यो तब तुम दया दीठ भारत के ऊपर॥'[२]

इन पंक्तियों के अतिरिक्त उन्नीसवीं शताब्दी उतरार्द्ध की हिन्दी-कविता में विद्रोह के बारे में और अभी तक कुछ नहीं मिला।

इससे यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के बहुत कम हिन्दी कवियों ने विद्रोह के सम्बन्ध में लिखा है। जिन्होंने कुछ लिखा भी है वे विद्रोह को कुछ बहके हुए भारतीयों की नाजायज़ हरकत बताकर चुप हो जाते हैं। उन्होंने उसे भयावह दृष्टि से देखा है। नाटककार भी इस घटना के प्रति उदासीन रहे। अन्य साहित्यिक रूपों में विद्रोह के सम्बन्ध में किसी प्रकार का निर्देश नहीं मिलता। केवल राधाकृष्णदास ने अपने उपन्यास में एक स्थान पर बलवे का ज़िक्र किया है।

किन्तु इतिहास-प्रसिद्ध साहित्यिकों को छोड़कर साधारण और अज्ञात कवियों तथा जनसमुदाय की तरफ़ आने से हमें ज्ञात होता है कि उन्होंने विद्रोह के प्रति अपनी भावनाएँ व्यक्त करने में सङ्कोच से काम नहीं लिया। उनमें हमें विद्रोहियों के प्रति सद्भावनाएँ मिलती हैं, उनके शौर्यपूर्ण कृत्यों का उल्लेख मिलता है और कभी-कभी तो उनका निजी हार्दिक उल्लास और उत्साह घटनाओं के साथ गुँथा हुआ मिलता है। कला की

---

[१] 'ब्रैडला स्वागत' (१८८३), पृ० १०

[२] 'हार्दिक हर्षादर्श' (१९००), पृ० ११

दृष्टि से भी उनकी रचनाएँ हीन कोटि की नहीं कही जा सकतीं। भाषा और भावों की पृष्ठभूमि में सुन्दर काव्य की जन्मदात्री सच्ची अनुभूति उनमें है। ऊपर उद्धृत पंक्तियों में प्रकट भावनाओं से भिन्न भावनाएँ हमें इन रचनाओं में मिलती हैं। वास्तव में अवध, मेरठ, आदि प्रदेशों में यदि प्रयत्न किया जाय तो सम्भव है ऐसी और भी रचनाओं का संग्रह किया जा सके।

बैसवाड़े में शंकरपुर के राना बेनीमाधव सिंह ने डट कर अँगरेज़ों से मुकाबला किया था।। वैसे भी अवध में विद्रोह बड़े ज़ोरों से हुआ था, क्योंकि यह वह प्रदेश था जिसे अँगरेज़ों ने बहुत दिनों तक और काफ़ी चूँस लिया था, और थोड़े ही दिन पहले जहाँ ताल्लुक़ेदारों की रियासतें छीनली गईं थीं। इसी प्रदेश के एक दुलारे नामक कवि का राना के सम्बन्ध में एक छन्द मिलता है। दुलारे कवि संगीत के विशेषज्ञ और विद्रोह के समय विद्यमान थे। उनका छन्द इस प्रकार है:

'अवध मां राना है मरदाना
पहिल लड़ाई भै बक्सर मां सेमरी के मैदाना।
उहाँ का कूच भयो पुरवा को तबै लाट घबराना
नक्की मिले मानसिंह मिलिगे मिले सुदर्शन काना
छत्रीवंश एक ना मिलिहै करिहै कौन बहाना
भाय भतीज सबै बुलवायो हमरो लेउ सला ना
तुम तो जाय अँगरेजन मिलिहौ हम हू का भगवाना
शंकरपुर के बड़े लड़ैया घोड़ा चढ़े मनमाना
कहै दुलारे सुनि पिय प्यारे उत्तर किहो पयाना।'

रायबरेली ज़िले के हमीर गाँव के निवासी बजरंग ब्रह्मभट्ट भी विद्रोह के समय उपस्थित थे। उनका भी एक छंद राना के सम्बन्ध में मिलता है:

'हिम्मत को हाकिम हजारन में देखि आयो,
खेदिकै हटायो अँगरेज हू सकाना है।
जाको तेज तीखन तपत महिमण्डल में,
हटिगे उलूक से न लागत ठिकाना है।
कहै बजरंग बैसवंश अवतंश भयो
कंपनी बिलाइत सकल बिललाना है।
नेक न डेराना छीन लीन्ह्यो तोपखाना,
वीर बाँधे वीर बाना बैस राना बिरम्दाना है॥'

एक और कवि, छत्रपति सिंह, रायबरेली ज़िले में मनिहारगढ़ी के रहने वाले थे और सम्भवतः राना बेनीमाधव सिंह के भतीजे थे। ग़दर के बाद इसी-लिए इनका इलाका ज़ब्त हो गया बतलाते हैं। इनका कहना है :

'जीवत ही मरिते नृपति छिति-मण्डल के,
कोऊ न करी है नाम जस मरदाने को।
साजि-साजि डाली सबै माली से मिले हैं जाय,
हिम्मत को हारि धरि दई बीरबाने को।
सुनि कै अवाई अँगरेज की अनी को दिल,
लवासे लुकाने मानो निरखि सयाने को।
'छत्रपती' दीपन दिसानन मै हेरि हार्‌यो,
जीवन बिलोक्यो बेनीमाधो बक्स राने को॥'

ज्वालाराय भी विद्रोह के समय उपस्थित थे और उन्होंने भी राना बेनीमाधव बक्स सिंह पर कुछ पद्य लिखे हैं। एक छन्द में उन्होंने कहा है :

'चण्डिका के चेले बैस लड़त है अकेले फौजैं,
आया लीना घेरि गोला खूबही बजायो है।
मारे जरनैल और कंडैनल को कैद कीन्ह्यो,
मारे कपतान गोरा भेंट ही चढ़ायो है।
राजन में राजा महाराजा बेनी माधो बक्स,
लड़ी है लड़ाई अँगरेज चढ़ि आयो है।
कहत कवि ज्वालाराय राजन को काम कीन्ह्यो,
बिना अन्नपानी गोला खूब ही बजायो है॥'

एक दूसरे छन्द में उनका कथन है :

'मारा करनाटकी तूरा कासमीर चाटक कोट,
कांगड़े को हाटक लौं बांधी जाय सत्ता है।
दिल्ली अरु बिल्ली करौली बादसाहिन में,
थरथरौवा पर्‌यो सहर कौंपत कलकत्ता है।
कद्दूर और कलहूर हजूर के रिसालदार,
रंजक उड़ानी कहुँ लागत न पत्ता है।
साँचो वीरबाना सबै देसन भय माना,
संग लिहे तोपखाना बैस राना अलबत्ता है।'

इन कुछ अज्ञात कवियों के छंदों के अतिरिक्त हमें कुछ लोक-प्रचलित गीतों के उदाहरण भी मिलते हैं जिनसे विद्रोह के प्रति साधारण जनता के दृष्टिकोण का परिचय प्राप्त होता है और जिसे व्यक्त करने में उसने संकोच से काम नहीं लिया। कुछ उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं :

सहारनपुर की एक गूजर स्त्री अपने पति के भोलेपन को लक्षित करते हुए कहती है :

'लोगों ने लूटे शाल दुशाले, मेरे प्यारे ने लूटे रूमाल।
मेरठ का सदर बाज़ार है, मेरे सैयाँ लूट न जानैं।
लोगों ने लूटे प्याली कटोरे, मेरे प्यारे ने लूटे गिलास।
मेरठ का···, मेरे सैयाँ····

लोगों ने लूटे गोले छुहारे, मेरे प्यारे ने लूटे बदाम।
मेरठ का... , मेरे सैयाँ....

लोगों ने लूटे मुहर अशर्फ़ी, मेरे प्यारे ने लूटे छदाम।
मेरठ का···, मेरे सैयाँ ···'

उनानी, ज़िला फ़ैज़ाबाद का एक लोक कवि सम्भवतः राना बेनी माधो बक्स सिंह की ओर संकेत करता हुआ कहता है :

'राना बहादुर सिपाही अवध में, धूम मचाई, मोरे राम रे।
लिख लिख चिठिया, लाट ने भेजी, आन मिलो, राना भाई रे।
जंगी खिलत लंदन से मँगा दूँ, अवध में सूबा बनाई रे।
जवाब सवाल लिखा राना ने हमसे न करो चतुराई रे।
जब तक प्रान रहैं तन भीतर, तुम कन खोद बहाई रे।
ज़मींदार सब मिल गये गुलखान, मिल मिल के कपाई रे।
एक तो बिन सब कट कट जाई, दूसरे गढी खुदवाई रे।'

सँडीले का एक लोक गीत है :

"राजा गुलाबसिंह, रहिया तोरी हेरूँ; एक बार दरस दिखावा रे।
अपनी गद्दी से यह बोले गुलाबसिंह सुनः रे साहब मेरी बात रे।
पैदल भी मारे, सवार भी मारे, मारी फौज बेहिसाब रे।"
"बाँके गुलाबसिंह, रहिया तोरी हेरूँ; एक बार दरस दिखावा रे।
"पहली लड़ाई लखमनागढ़ जीतेः दूसरी लड़ाई रहीमाबाद रे।

तीसरी लड़ाई सँदीलवा में जीते : जामू में कीना मुकाम रे।
"राजा गुलाबसिंह, रहिया तोरी हेरूँ; एक बार दरस दिखावा रे।"

कोशरा, ज़िला इटावा में बुन्देले हर बोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी, खूब लड़ी मरदानी वह तो झाँसी वाली रानी थी' का लोक-प्रचलित रूप इस प्रकार मिला है :

'खूब लड़ी मरदानी; अरे झाँसी वाली रानी।
बुरजन बुरजन तोपें लगाइ दई, गोला चलाए आस्मानी।
अरे झाँसी वाली रानी, खूब लड़ी मरदानी।
सगरे सिपाहियाँ को पेड़ा जलेबी, आपने चबाई गुड़धानी।
अरे झाँसी वाली रानी, खूब लड़ी मरदानी।
छोड़ मोर्चा, लश्कर को भागी ; ढूँढेहू मिलै नहिं पानी।
अरे झाँसी वाली रानी, खूब लड़ी मरदानी।'

इसी प्रकार कुछ और उदाहरण मिल जाते हैं; जैसे, 'चारों तरफ़ से बाँध मोर्चा, लड़े खूब जंगी गोरा' आदि। अब भी कभी-कभी ऐसे गीतों की भनक कानों में पड़ जाती है। इन उदाहरणों से कुछ बातें स्पष्ट रूप से हमारे सामने आती हैं। कवियों के दो वर्ग थे : राजाओं और ज़मींदारों व ताल्लुक़ेदारों के आश्रित रहने वाले कवि, और स्वतंत्र रूप से साहित्यिक रचना करने वाले कवि। राजाओं और ज़मींदारों व ताल्लुक़ेदारों के आश्रित रहने वाले कवियों में भी दो तरह के कवि थे : जिनके आश्रयदाताओं ने अँगरेज़ों का पक्ष लिया और जिनके आश्रयदाता अँगरेज़ों के विपक्ष में थे। दोनों ने अपने-अपने आश्रयदाताओं की स्थिति के अनुसार विद्रोह का उल्लेख किया है। स्वतन्त्र रूप से साहित्यिक रचना करने वाले कवियों ने निश्चित रूप से विद्रोह की निन्दा की या वे चुप रहे। इन कवियों का सम्बन्ध अँगरेज़ी राज्य के अन्तर्गत नवजात मध्यम वर्ग से था। लोक गीतों में दोनों पक्षों में से किसी एक पक्ष के शौर्य-गुण को स्थान मिला है।

यहाँ पर यह याद रखना चाहिए कि हिन्दी के इतिहास-प्रसिद्ध कवि और लेखक ख़ुशामदी नहीं थे। उन्होंने अँगरेज़ी राज्य की अनेक अनीतिपूर्ण बातों—प्रधानतः आर्थिक शोषण—का विरोध किया और प्राचीन भारतीय गौरव का गान गाकर स्वतन्त्रता की आवाज़ बुलन्द की—यद्यपि उनका विरोध His Majesty's Opposition वाला विरोध था और स्वतंत्रता से उनका तात्पर्य ग्रेट ब्रिटेन के साथ राजनीतिक सम्बन्ध-विच्छेद से नहीं था।

वे चाहते थे कि भारत का अँगरेज़ सम्राट् उन्हें उसी दृष्टि से देखे, उसी प्रकार भारतीय प्रजा के साथ व्यवहार करे, जिस प्रकार भारतीय सम्राट् किया करते थे, अथवा जैसा व्यवहार वह स्वयं ब्रिटेन-निवासियों के साथ करता था। इसी में उनकी स्वतन्त्रता की भावना निहित थी। सामाजिक एवं आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना उनका मुख्य ध्येय था। भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्णदास, बालमुकुन्द गुप्त, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', श्रीधर पाठक, आदि ऐसे प्रमुख कवि और लेखक थे जो भारत की राजनीतिक घटनाओं और प्रगति को बड़ी उत्कण्ठा के साथ देखा और परखा करते थे। किन्तु वे सन् ५७ की घटना के बारे में चुप हैं। कहने का यह तात्पर्य नहीं कि वे विद्रोहियों के गीत गाते या अँगरेज़ों का यश बखानते। कम से कम उन्हें एक ऐसी घटना को, जिसने देश की राजनीजिक और आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन उपस्थित करने के साथ जनसाधारण को प्रभावित किया, साहित्य में किसी न किसी रूप में स्थान देना था। किन्तु ऊपर की पंक्तियों के अतिरिक्त उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के प्रसिद्ध कवियों और लेखकों द्वारा लिखित इस घटना के विषय में अभी तक और कुछ नहीं मिलता।

वास्तव में हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों और लेखकों की इस उदासीनता के कई कारण थे। पहला कारण तो यह था कि अँगरेज़ों की संगठित सैनिक शक्ति का देश में ऐसा आतंक छा गया था कि फिर किसी को विद्रोह करने का तो क्या विद्रोह के बारे में कुछ कहने-सुनने का साहस न रह गया था। इस राजनीतिक भय की ओर ही संकेत करते हुए स्वयं भारतेन्दु जी ने कहा है :

> 'कठिन सिपाही-द्रोह-अनल जा जल-बल नासी।
> जिन भय सिर न हिलाइ सकत कहुँ भारतवासी॥'

अथवा, उनका कहना है :

> 'भाजे से फिरत शत्रु, इत उत दौरि दौरि;
> दबत जमानी जाको जोहत जलूस है।
> ब्रह्म अस्त्र ऐसी तोपैं तोपैं एकै बार फौज,
> विमल बन्दूक गोली दारू कारतूस है।
> ऐसो कौन जग में बिलोकि सकै जौन इन्हैं,
> देखि बल बैरी-दल रहत मसूस है।

प्रबल प्रताप भारतेश्वरी तिहारैं क्रोध,
ज्वाल काल आगे रोम मोम रूस फूस है।'

अथवा,

'गलै दाल नहिं शत्रु की तुव सनमुख गुनधाम ॥'

दूसरे, उन्नीसवीं शताब्दी के आर्थिक सङ्गठन के अध्ययन करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अँगरेज़ी राज्य की स्थापना से एक मध्यवर्ग उत्पन्न हुआ था और जो प्रधानतः हिन्दुओं में ही था। अँगरेज़ी राज्य की व्यवस्था से समाज के उच्चवर्ग और मध्यवर्ग की उच्च श्रेणी को अत्यन्त लाभ पहुँचा था। मध्यवर्ग की निम्नश्रेणी उसी समय बेकारी से पीड़ित हो चुकी थी। इसके अतिरिक्त व्यापारिकवर्ग के लिए तो अँगरेज़ी राज्य नियामत था। उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के अधिकांश हिन्दी कवि और लेखक मध्यवर्ग या व्यापारिक वर्ग के थे। वे किसी ऐसी बात का समर्थन करना नहीं चाहते थे जिससे उन्हें आर्थिक हानि उठानी पड़े। क्योंकि इन वर्गों के लिए तो शान्ति ही सब कुछ थी। पिछले सौ-डेढ़ सौ वर्षों की निरन्तर राजनीतिक कलह से व्यापारिक-वर्ग तो वैसे भी काफ़ी क्षति उठा चुका था। अब थोड़ी शान्ति और धनोपार्जन का अवसर पाकर वह फिर से कोई विनाशकारी एवं अपने स्वार्थ के लिए घातक आन्दोलन देखना नहीं चाहता था। नवजात मध्य-वर्ग का तो अस्तित्व ही अँगरेज़ी-राज्य पर स्थित था। फिर भला इस वर्ग के कवि क्यों अँगरेज़ों के खिलाफ़ आवाज़ उठाते या विद्रोह को अच्छी आँखों देखते। राधाकृष्णदास ने इस आर्थिक आधार की ओर इस प्रकार संकेत किया है :

'बलवे में बेबात लड़कर सर्कार को अपनी तरफ़ से ऐसा शंकित किया कि चटपट सब शस्त्र छीन लेने की आज्ञा हो गई। अब अपने बचाव के लिए भी शस्त्र न रह गया, टैक्स लगाया कि जिससे सारी प्रजा दुःखित हो रही है। भला ऐसे मूर्खों ही को छोड़ दें तो किससे लें।

इसमें टैक्स की बात ध्यान देने योग्य है। राधाकृष्णदास के इसी कथन में तीसरा कारण भी मिल जाता है। उनका यह कथन उस समय का है जब कि एक बार हिन्दू-मुस्लिम दंगे की आशंका थी और विद्रोह के कारण हथियार छिन जाने से हिन्दू निस्सहायावस्था में थे—यद्यपि हथियार मुसलमानों के भी छिन गए थे। किन्तु हिन्दू अपने बचाव के लिए हथियार चाहते थे जिनके न होने से ही राधाकृष्णदास ने अपनी झुँझलाहट प्रदर्शित की है। वास्तव में बात यह थी कि विद्रोह में मुसलमानों ने प्रमुख रूप से भाग लिया

था। सर वैलेन्टाइन का यह कथन बहुत-कुछ सत्य है कि बलवे के पीछे दिमाग़ हिन्दुओं का था और काम मुसलमानों ने किया था। मुसलमानों का बिगड़ना ठीक भी था। राजनीतिक एवं आर्थिक दृष्टि से मुसलमानों को ही अँगरेज़ी राज्य से सबसे अधिक नुक़सान हुआ था। उनका समस्त सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन छिन्न-भिन्न हो गया था। स्वयं वाहबी आन्दोलन के मूल में राजनीतिक और आर्थिक ह्रास दो प्रधान कारण थे। वाहबियों ने विद्रोह में सबसे अधिक भाग लिया था जिसके फलस्वरूप अँगरेज़ों ने उनका इतने ज़ोरों से दमन किया कि १८६० में एक भी वाहबी का अस्तित्व न रह गया था। अस्तु, इतना निश्चित है कि विद्रोह में मुसलमानों ने भी प्रमुख भाग लिया था। विद्रोह के बहुत दिनों बाद तक इसीलिए मुसलमान अँगरेज़ सरकार के क्रोध-भाजन बने रहे—यहाँ तक कि उन्नीसवीं शताब्दी में सरकारी दफ़्तरों में मुसलमानी त्यौहारों की छुटियाँ भी नहीं होती थीं। काँग्रेस की बढ़ती हुई शक्ति देखकर १९०६ में मुस्लिम लीग की स्थापना के माध्यम द्वारा अँगरेज़ मुसलमानों से खुश हुए। इसके अतिरिक्त इतना भी निश्चित है कि हिन्दू पुनरुत्थान-काल का प्रथम चरण ऐतिहासिक और राजनीतिक दृष्टि से कुछ मुस्लिम विरोधी रुख लिए हुए था। मुसलमानों के धार्मिक विद्वेष और अत्याचार को हिन्दू भूले नहीं थे। बनारस और मथुरा की मस्जिदें देखकर हिन्दू आहें भरते थे। अँगरेज़ी शिक्षित हिन्दू अँगरेज़ी राज्य को भारतीय प्रजातंत्र का रूप समझ कर भारत और ग्रेट ब्रिटेन के समस्त हित-साधनों में सामञ्जस्य स्थापित करने लगे थे। इसलिए हिन्दुओं का एक विशेष दृष्टिकोण था—अँगरेज़ों से राजनीतिक सम्बन्ध रखते हुए मुस्लिम-विरोधी, और उस समय जब कि अँगरेज़ भी मुसलमानों से नाराज़ थे। यह दृष्टिकोण भारतेन्दु तथा अन्य सभी बड़े-बड़े कवियों और लेखकों में मिलता है। 'आनन्द मठ' वाली भावना सर्वत्र व्याप्त थी। यह विरोध स्वयं इस्लाम धर्म या पैग़म्बरों से नहीं था। इन सब कारणों से मध्यम-वर्ग की राजनीतिक बुद्धिमत्ता और आर्थिक स्वार्थ ने उसे अँगरेज़ों का पक्ष लेने के लिए प्रेरित किया तो कोई आश्चर्य नहीं। इसीलिए अपनी नीति के विरुद्ध काम करने वालों को उन्होंने 'दुष्ट', 'मूढ़' और 'कुटिल' कहा।

विद्रोह के बाद हिंदी कवियों की नवचेतना जिन विविध रूपों में प्रस्फुटित हुई उनमें से नवशिक्षा के फलस्वरूप उत्पन्न विचार-स्वातंत्र्य और ऐतिहासिक अध्ययन के कारण भारत के प्राचीन गौरव और फिर

विदेशी आक्रमणकारियों के घातक प्रभाव, पराधीनता और अधोगति की ओर दृष्टि जाना स्वाभाविक और अनिवार्य था। साथ ही वे भारत के प्राचीन और मध्ययुगीन वीरों और उनके वीरतापूर्ण कृत्यों और भीषण युद्धों के उदाहरणों में अपनी नवोदित राष्ट्रीयता का प्रतिबिम्ब देखे बिना न रह सके। उस समय उनका काव्यमय भावोच्छ्वास और राष्ट्रीय गान जग उठता था। भारतेंदु ने भारत के प्राचीन गौरव और वीर कृत्यों के सम्बन्ध में लिखा है :

'धन धन भारत के सब छत्री जिनकी सुजस-धुजा फहराय।
मारि मारि कै सत्रु दिए हैं लाखन बेर भगाय॥
महानंद की फौज सुनत ही डरे सिकंदर राय।
राजा चंद्रगुप्त ले आए बेटी सिल्यूकस की जाय॥
मारि बलूचिन बिक्रम रहे शकारी पदवी पाय।
बापा कासिम-तनय मुहम्मद जीत्यौ सिन्धु दियौ उतराय॥
आयो मामूँ चढ़ि हिंदुन पै चौबिस बेरा सैन सजाय।
खुम्मानराय तेहिं बाप-सार लखि सब बिध दियो हराय॥
लाहौर-राज जयपाल गयो चढ़ि खुरासान पर धाय।
दीनो प्रान अनंदपाल पर छाँड्यौ देस धरम नहिं जाय॥'[1]

'भारत के भुज-बल जग रच्छित। भारत विद्या लहि जग सिच्छित॥
भारत तेज जगत विस्तारा। भारत भय कंपत संसारा॥
जाके तनकहिं भौंह हिलाए। थर थर कंपत नृप डरपाए॥
जाके जय की उज्जल गाथा। गावत सब महि मंगल साथा॥
भारत किरिन जगत उँजियारा। भारत जीव जिअत संसारा॥
भारत वेद कथा इतिहासा। भारत वेद प्रथा परकासा॥
फिनिक मिसिर सीरीय युनाना। भे पंडित लहि भारत दाना॥
रह्यो रुधिर जब आरज-सीसा। ज्वलित अनल समान अवनीसा॥
साहस बल इन सम कोउ नाहीं। तबै रह्यौ महिमंडल माहीं॥'[2]

अथवा,

'जय जयति सदा स्वाधीन, हिन्द
जय जयति जयति प्राचीन, हिन्द

[1] 'वर्षाविनोद' (१८८०), भारतेंदु-ग्रंथावली, दूसरा खंड, नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी, (सं० १९९१), २१, पृ० ५०६.

[2] 'भारत दुर्दशा' (१८८०), भा० ना० (इंडियन प्रेस), पृ० ४२६ तथा विजयिनी विजय-पताका वा वैजयंती' (१८८२), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, ४८-५२, पृ० ८०४-८०५

हिन्दू अनूपम अगम वन, प्रेम-बेल-रस-पुंज
श्रीधर-मन-मधुकर फिरत गुंजत नित नव कुंज'[1]

उसी सभ्यता और संस्कृति के सर्वोच्च शिखर पर आसीन, ज्ञान-गरिमा से मंडित और वीर-कृत्यों के कारण सर्वपूज्य और जगत्वंद्य भारतवर्ष की कैसी क्षोभपूर्ण अवस्था हो गई थी, उसकी कितनी दुर्दशा हो गई थी, वह भारतेंदु की निम्नलिखित पंक्तियों से प्रकट होता है :

'रोवहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥ ध्रुव॥
...अब सब के पीछे सोई परत लखाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥
...तहँ रही मूढ़ता कलह अविद्या राती॥
अब जहँ देखहु तहँ दुःखहि दुःख दिखाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥'[2]

'सोई भारत भूमि भई सब भाँति दुखारी।
रह्यौ न एकहु बीर सहस्रन कोस मँझारी॥
होत सिंह को नाद जौन भारत-बन माहीं।
तहँ अब ससक सियार स्वान खर आदि लखाहीं॥
जहँ झूसी उज्जैन अवध कन्नौज रहे वर।
तहँ अब रोवत सिवा चहूँ दिसि लखियत खँडहर॥
धन विद्या बल मान वीरता कीरत छाई।
रही जहाँ तित केवल अब दीनता लखाई॥'[3]

इसी प्रकार 'तृप्यन्ताम्' (१८९१) में प्रतापनारायण मिश्र ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भारत की अधःपतित अवस्था का दिग्दर्शन कराया है। उनकी वाणी तीव्र व्यंग्य से भरी हुई है।

भारत की इस अधोगति का आखिर कारण क्या था? भारतवासी मनुष्य होकर गुलाम कैसे हुए? स्वयं भारतेन्दु के शब्दों में :

---

[1] श्रीधर पाठक : 'हिन्द-वन्दना' (१८८९), पृ० ४८

[2] 'भारत दुर्दशा' (१८८०), भा० ना० (इंडियन प्रेस), पृ० ५१७-८

[3] 'विजयिनी-विजय-पताका या वैजयंती' (१८८२), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, ५५-५८, पृ० ८०५

'बैर फूट ही सों भयो सब भारत को नास ।
तबहुँ न छाँड़त याहि सब बँधे मोह के फाँस ॥'[1]

तथा अन्य अनेक कवियों की भाँति बालमुकुंद गुप्त का कथन है :

'तहां टिकै क्यों बाहुबल जिन घर मेवा फूट ।
बल बपुरो कैसे रहे जाय बाहु जब टूट ॥
जहां लरैं सुत बाप संग और भ्रात सों भ्रात ।
तिनके मस्तक सों हटै कैसे पर की लात ॥
लरि-लरि अपुनो बाहुबल खोयो कृपानिधान ।
आप मिटे तौहू नहीं मिटी लरन की बान ॥'[2]

श्रीधर पाठक 'मनोविनोद' में कहते हैं :

'पृथ्वीराज जैचन्द जब से गये हैं
उसी काल से इसके दिन फिर गये हैं
परस्पर के विद्वेष की चंड ज्वाला
बढ़ी देश में भीम रूपा कराला
किया नष्ट उसने प्रजा भारती को
बिगाड़ा सभों की विशुद्धा मती को
हुआ म्लेच्छ-आवास सब देश भर में
अविद्या गयी छाय प्रत्येक घर में
कहाये सभी आर्य "हिन्दू" औ "काफ़िर"
पताका विमल देश की गयी गिर ॥'[3]

'बादशाह-दर्पण' (१९१७ में खड्गविलास प्रेस से प्रकाशित द्वितीय संस्करण) में भारतीय इतिहास सम्बन्धी अपने विचार प्रकट करते हुए भारतेंदु उक्त ग्रंथ की भूमिका में जो कुछ लिखते हैं उससे उनके मुसलमानों के प्रति रुख और ऐतिहासिक अध्ययन पर प्रकाश पड़ता है। वे लिखते हैं:

'जब से यहाँ का स्वाधीनता सूर्य अस्त हुआ उसके पूर्व समय का उत्तम शृंखलाबद्ध कोई इतिहास नहीं है। मुसलमान लेखकों ने जो

---

[1] 'हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान' (१८७७), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, ८७-८८, पृ० ७१८

[2] 'श्रीराम स्तोत्र' (१८९९)

[3] १९१७ का संस्करण, पृ० १७७

इतिहास लिखे भी हैं उनमें आर्य-कीर्ति को लोप कर दिया है। आशा है कि कोई माई का लाल ऐसा भी होगा जो बहुत सा परिश्रम स्वीकार करके एक बेर अपने 'बाप-दादों' का पूरा इतिहास लिख कर उनकी कीर्ति चिरस्थायी करेगा। इस ग्रंथ में तो केवल उन्हीं लोगों का चरित्र है जिन्हों ने लोगों को गुलाम बनाना आरम्भ किया। इन में उन मस्त हाथियों के छोटे-छोटे चित्र हैं जिन्होंने भारत के लहलहाते हुए कमल-बन को उजाड़ कर पैर से कुचल कर छिन्न-भिन्न कर दिया। मुहम्मद, महमूद, अलाउद्दीन, अकबर और औरंगजेब आदि इनमें मुख्य हैं।'

विदेशी आक्रमणकारियों के घातक प्रभाव के अतिरिक्त भारत के अधःपतन के कारण स्वयं देश में विद्यमान थे। पारस्परिक कलह और धार्मिक संप्रदायों के विद्वेष का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। साथ ही उन्होंने ब्राह्मणों को भी दोषी ठहराया है :

'रचि बहु बिधि के वाक्य पुरातन माँहि घुसाए।
शैव शाक्त वैष्णव अनेक मत प्रगटि चलाए॥
जाति अनेकन करी नीच अरु ऊँच बनायो।
खान पान संबंध सबन सों बरजि छुड़ायो॥'[1]
'अपरस सोल्हा छूत रचि, भोजन-प्रीति छुड़ाय।
किए तीन तेरह सबै, चौका चौका लाय॥
रचि कै मत वेदांत को, सब को ब्रह्म बनाय।
हिंदुन पुरुषोत्तम कियो, तोरि हाथ अरु पाय॥

'वेदांत ने बड़ा ही उपकार किया। सब हिंदू ब्रह्म हो गए। ज्ञान बन कर ईश्वर से विमुख हुए, रुक्ष हुए, अभिमानी हुए और इसी से स्नेहशून्य हो गए। जब स्नेह ही नहीं तब देशोद्धार का प्रयत्न कहाँ! बस, जय शंकर की।'[2]

यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में भारतेन्दु अथवा अन्य किसी कवि ने मुसलमानों के सम्बन्ध जो में कुछ कहा है वह राजनीतिक अस्तव्यस्तता और तज्जनित देश की पीड़ित अवस्था और धार्मिक अत्याचार की दृष्टि से कहा है। सतीत्व-रक्षा, गो-रक्षा, मूर्ति-रक्षा, आदि की पुकार मुसलमानी राज्य से चली आ रही पुकार के रूप हैं।

---

[1] 'भारतदुर्दशा' (१८८०), भा० ना०, इं० प्रे०, पृ० ६०४

[2] वही, पृ० ६०५-६०६

यह पुकार स्वयं इस्लाम धर्म या उसके पैगंबरों के विरुद्ध नहीं थी। 'पंच पवित्रात्मा' लिख कर भारतेंदु ने स्वयं इस बात का प्रमाण दिया है। भारत वर्ष जैसे देश से धार्मिक असहिष्णुता की आशा करना वैसे भी न्याय-संगत नहीं। जिस समय अँगरेज़ भारतवर्ष आए उस समय हिंदू जनता मुसलमानी धार्मिक विद्वेष से प्रेरित अत्याचारों के कारण पीड़ित थी। इतिहास के अध्ययन ने उसे यही बताया था और अभी उन अत्याचारों की स्मृति भी सजीव थी। मुसलमानों की अभारतीयता भी हिन्दू-मुस्लिम सौहार्द में बाधक बनी हुई थी। साथ ही निरन्तर युद्ध-विग्रह और कलह से भी वह ऊब उठी थी। अँगरेज़ी राज्य में उसे धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त हुई, विविध अत्याचारों से रक्षा हुई और दिन-रात की कलह और अशांति से छुटकारा मिल कर प्रत्यक्षतः सुख और शान्ति का अनुभव हुआ।

भारत की पददलित अवस्था का स्मरण होते ही कवियों का ध्यान विदेशी धर्मावलम्बियों, विशेषतः मुसलमानों, की ओर अवश्य आकृष्ट हो जाता था।[1] अँगरेज़ों के प्रति आकर्षण अधिकांश में ऐतिहासिक और राजनीतिक दृष्टि से था। उनके नेतृत्व में अफ़ग़ानिस्तान या मिश्र में भारतीय सेना का वीरत्व-प्रदर्शन इसलिए और भी महत्त्व रखता था क्योंकि उसने भारतीय (हिन्दू) होने के नाते मुस्लिम देशों पर विजय प्राप्त की। अँगरेज़ों की राजनीतिक छाया में यह विचार हिन्दुओं के लिए बहुत कुछ स्वाभाविक था। किन्तु हिन्दी की आधुनिक राष्ट्रीयता में हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धी विचारों में बिलकुल परिवर्तन हो गया है, यह बात ध्यान देने योग्य है।

अँगरेज़ी राज्य में भारतवासियों को मुसलमानी अत्याचार और दिन-रात की कलह और अशांति से पहले-पहल रक्षा मिली। इसलिए उन्होंने मुसलमानी राज्य की अपेक्षा अँगरेज़ी शासन कहीं अधिक श्रेयस्कर समझा। प्रत्यक्षतः सुख-शांति के साथ पाश्चात्य सभ्यता द्वारा प्रदत्त विविध वैज्ञानिक साधनों के सुखोपभोग, वैध शासन, सुंदर न्याय-पद्धति, नव शिक्षा, आदि के कारण उन्होंने अँगरेज़ी राज्य के गुणगान किए, 'रूल ब्रिटानिया' के नारे लगाए। भारतेन्दु ने अँगरेज़ी राज्य के सम्बन्ध में इस प्रकार अपने भाव प्रकट किए हैं :

---

[1] 'भारतदुर्दशा' (१८८०) में भारतदुर्दैव के परिच्छद का वर्णन इस प्रकार किया गया है—"क्रूर, आधा किरस्तानी आधा मुसलमानी वेष, हाथ में नंगी तलवार लिए।" पृ० ६०२

'बृटिश सुशासित भूमि मैं आनँद उमगे जात।'[1]

प्रतापनारायण मिश्र ने 'ब्रैडला-स्वागत' (१८८६) में उलाहना प्रकट करते हुए भी नवीन शासन-प्रणाली की अच्छी-अच्छी बातें भुला नहीं दीं। बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' तो स्पष्ट शब्दों में कहते हैं :

'धन्य तिहारो राज, अरी मेरी महरानी।
सिंह, अजा सँग पियत जहाँ एकहि थल पानी।
जहँ दिन दुपहर परत रहे डाके नगरन मैं।
तहँ रच्छक निरखियत पथिक जन के हित बन मैं॥
जहाँ काफ़िले लुटत रहे सौ यतन किये हूँ।
जिन दुरगम थल माहिँ गयो कोऊ नहिं कबहूँ॥
रेल यान परभाय अँधेरी रातहुँ निधरक।
अंध, पंगु, निसहाय जात अबला बाला तक॥
माल करोरन को बिन मालिक पहुँचत निज थल।
अन्य दीपहूँ पहुँचावत धूआँकस चलि जल॥
डाक तार को जो प्रबन्ध तेहि जगत सराहत।
लाखन रोगिन रोज डाक्टर लोग जियावत॥
जिहि बन केहरि हेरत मत्त मतंगहि डोलत।
तहाँ बन्यो नव नगर सुखी नर-नारि कलोलत॥
पर्वत अधित्यका जे रहीं कबहुँ कण्टक मय।
तहाँ शस्य लहरात बालकहु बिहरत निर्भय॥
जल बिहीन थल बीच नहर बनि गईं अनेकन।
सड़क हजारन कढीँ छाँह को बृच्छ करोरन॥
तड़ित, गेस परकास राजपथ रजनि सुहाए।
महा महा नद माहिँ सेतु सुन्दर बँधवाए॥
बने विश्व विद्यालय, विद्यालय, पाठालय।
पावत प्रजा अलभ्य लाभ जिनतें बिन संशय॥
यों बहु भाँतिन कर भारत उन्नति मन भावनि।
तव उन्नति अपनी कीनी, तुम हिय हरषावनि॥'[2]

---

[1] 'भारत भिक्षा' (१८७५), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, २, पृ० ७०१, 'भारत-वीरत्व' (१८७१, वही, २, पृ० ७६१, और 'विजयिनी-विजय-पताका तथा वैजयन्ती' (१८८२), वही, ८, पृ० ८००

[2] 'हार्दिक हर्षादर्श' (१८६७), पृ० १२-१४

एक और स्थल पर उनका कहना है :

'महारानी विक्टोरिया, लण्डन जासु निवासु।
रिपु चकचौंधी देत रण, युद्ध प्रभाकर जासु ॥ ४ ॥
जासु राजश्री साज लखि, सुरपति हू सरमात।
धर्मराज से जात ठगि, देखि अदालत बात ॥ ५ ॥
पीनल कोडरु पुलिस पुनि, मैजिस्ट्रेटी देखि।
निज करतब गुनि वृथा यम, सम अमल न अवरेखि ॥ ६ ॥
धूआँकस तोपैं घड़ी, रेल तार सुविसेखि।
विसुकर्मा बौरे भये, किलन पुलंन अवरेखि ॥ ७ ॥
शोक व्याधि से ग्रसित मे, धन्वन्तर ऋषिराज।
लखि महौषधालयन महं, डाकतरन के काज ॥ ८ ॥
शारद शुक्र गजाननहु, सेसहु सभय विसेखि।
कालिज यूनिवरसिटियन, इस्कूलन अवरेखि ॥ ९ ॥
लोट करेन्सी प्रमसिरी, टिकट स्टाम्प ढेर।
पेखि चरित्र रु देख यह, सोंचत खरे कुबेर ॥ १० ॥
अत्यागमन जहाज को, सिन्धु माँह लखि नित्त।
त्याग भवन भजिवो चहत, वरुण सशंकित चित्त ॥ ११ ॥

× × ×

जिन मार्यो सब दुष्ट जन, भली भाँति दै दण्ड।
जयति कुइन विक्टोरिया, परम प्रताप प्रचण्ड ॥ १४ ॥
न्याय चन्द पंकज यमन, नासि शत्रु हिम पाहि।
भारत कुमुद विकासि निज, राज यामिनी माहिं ॥ १५ ॥
जासु राज में सब प्रजा, सोवत निर्भय होय।
जासु राज में दुष्ट जन, काटत जीवन रोय ॥ १६ ॥
जासु राज में यमन सब, बोलत सीधो बैन।
जे नित छूरी टेवते, अब ग्रीवा उभरै न ॥ १७ ॥
जे नित लाखन जीव को, हतत हते बिन काज।
सीधो भूषण धारिते, निसि दिन पढ़त निवाज ॥ १८ ॥
जे ह्यां की युवती लखत, लेत ऐंठ कर मूंछ।
ते अब नजर बचावते, जात दबाये पूंछ ॥ १९ ॥
देवालय विच घुस करत, जौन विविध उतपात।
ते उत तनिक बिलोकतहि, कोड़न धक्के खात ॥ २० ॥

अग्नि माँहि जरि जाइबो, ई जंह इतो निबाह।
तंह विधवा युवतीन के, होते पुनर विवाह ॥ २१ ॥
जेहि भय बस भारत सुता, जन्मत तुरत मरात।
ते निसंक अब पढ़न हित, इस्कूलन मैं जात ॥ २२ ॥
कहं लग बरनन कीजिये, कीरति अमल अपार।
गावत ही थकिहैं गुरू, पै नहिं पैहैं पार ॥ २३ ॥
तासु पुत्र आगमन मै, मंगल मै चहुँ ओर।
करब सभै सत्कार बहु, दै दै धनहि अथोर ॥ २४ ॥"[1]

अँगरेज़ों के आने से भारत की आर्थिक और सांस्कृतिक अवस्था को बड़ा भारी धक्का पहुँचा, यह ठीक है। परन्तु संसार में कोई चीज़ बिल्कुल ही बुरी या बिल्कुल ही अच्छी नहीं कही जा सकती। पिछली शताब्दी में भारतीय जीवन की व्यवस्था ढीली और अनुशासनहीन हो चली थी। इसलिए अँगरेज़ों ने राजनीति, शासन-प्रणाली और शिक्षा सम्बन्धी क्षेत्रों में पाश्चात्य ढंग पर जो सुधार किये उनको भारतवासियों ने बहुत पसन्द किया। प्रगति की इच्छा से प्रेरित होकर उन्होंने उन सुधारों के साथ आगे क़दम बढ़ाया। उन्हीं की वजह से उनको अँगरेज़ों की नीयत में भरोसा हो गया था। एक बात यह भी है कि बहुत दिनों की अवरुद्ध गति के बाद अवसर पाकर वे मानसिक और भौतिक उन्नति की ओर बढ़ रहे थे। देश में पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से नये-नये भावों और विचारों की उद्भावना और राष्ट्रीय एवं सामाजिक जागृति होने लगी थी। ब्रिटिश साम्राज्य को वे प्रजातन्त्र का रूप देना चाहते थे। इसी सिद्धान्त के आधार पर उन्होंने काले-गोरे का भेदभाव और भारतवासियों को उच्च सरकारी पद न मिलना आदि अनीतियों का घोर विरोध किया। वे देश को राजनीतिक क्षेत्र में आगे बढ़ते हुए देखना चाहते थे। भारत की इन महत्त्वपूर्ण आकांक्षाओं से सहानुभूति रखने वाले चार्ल्स ब्रैडला जैसे अँगरेज़ लोगों को श्रद्धा के पात्र बन गये थे। अँगरेज़ी सरकार के किसी भी प्रगतिशील राजनीतिक विधान पर कविगण अपना हार्दिक हर्ष प्रकट किये बिना न रहते थे। फिर रेल, तार, डाक आदि विभागों और वैज्ञानिक नवीनताओं की व्यवस्था से अनेक सुविधाएँ हुईं और देश में आश्चर्यजनक उन्नति हुई और जीवन कुछ सुखमय हुआ। कवियों ने उसका स्वागत किया। परन्तु अँगरेज़ी राज्य

[1] 'भारतोपायन' (१८०६), पृ० २-३

के इन समस्त ऐश्वर्य और सुखों के रहते हुए भी भारतेन्दु, बालमुकुन्द गुप्त और प्रतापनारायण मिश्र जैसे कवियों का दृष्टिकोण बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' जैसे कवियों के दृष्टिकोण से कुछ भिन्न था। 'प्रेमघन' की दृष्टि देश की राजनीतिक परिस्थिति पर लगी रहती थी। वे हर बात बड़ी उत्कंठा और लगन के साथ परखा करते थे। वे भी भारतेन्दु तथा अन्य कवियों की भाँति भारत की 'स्वतन्त्रता' के हामी थे। परन्तु उनमें उदार और सुधारवादी प्रवृत्ति और कवियों की अपेक्षा विशेष रूप से अधिक पाई जाती है। उन्होंने 'मानसोपायन' (१८७६), 'मंगलाशा या हार्दिक धन्यवाद' (१८६२), 'हार्दिक हर्षादर्श' (१८६७), 'प्रजा शिषोपायन' आदि ग्रन्थों में अँगरेज़ी राज्य के अन्तर्गत वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा प्रदत्त सुविधाएँ और देश की उन्नति, शासन-प्रणाली की सुव्यवस्था, शिक्षा, सामाजिक सुधार, मुसलमानों के अत्याचार से रक्षा आदि लाभों पर आनन्द प्रकट किया है। परन्तु उनकी इस उदार नीति के कारण हम उन्हें खुशामदी नहीं कह सकते। जुबिली तथा अन्य अवसरों पर हर्ष प्रकट करते हुए भी उन्होंने 'अब तो ह्यां धन रह्यो नाहि' कह कर तथा शासन सम्बन्धी अन्य अनीतिपूर्ण बातों की ओर निर्देश कर देश की दशा तथा अन्य बुराइयों पर दुःख प्रकट किया है। आधुनिक परिभाषा में हम कह सकते हैं कि भारतेन्दु, बालमुकुन्द गुप्त, और प्रताप-नारायण मिश्र, और 'प्रेमघन' में गरम और नरम का भेद है। दोनों वर्गों के कवियों की गरमी और नरमी समयानुकूल थी, यह अवश्य मानना पड़ेगा।

प्राचीन भारत में 'राजा कृष्ण समान'[१] वाली भावना का विशेष स्थान था। शासन-सूत्र व्यक्तिगत रूप से राजा के हाथ में रहता था। न्याय अथवा किसी अन्य प्रार्थना के लिए जनता की राजा तक पहुँच थी। पाश्चात्य ढंग के प्रतिनिधि शासन का उस समय प्रचार नहीं था। अतः प्राचीन भारतीय राजनीति में राजा के व्यक्तित्व के साथ प्रजा का विशेष संबंध था। उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में अँगरेज़ी राज्य की नियामतों के साथ-साथ 'नराणां च नराधिपः' वाली भावना भी काम कर रही थी। इसीलिए भारतेन्दु ने इंगलैंड के राजकुमार आदि के भारत में शुभागमन के अवसरों पर इसी प्राचीन भारतीय भावना से प्रेरित हो कर अपने विचार व्यक्त किए।

---

[१] 'मनोमुकुल-माला' (१८७७) भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स० ५, पृ० ७७५

१८७१ में प्रिंस ऑव वेल्स की अवस्था विषम ज्वर के कारण कष्ट-साध्य हो गई थी। उक्त अवसर पर भगवान् से प्रार्थना करते हुए भारतेन्दु कहते हैं :

....हम हैं भारत की प्रजा, सब बिधि हीन मलीन।....
....जिनकी माता सब प्रजा-गन की जीवन प्रान।....[1]

साथ ही

होई भारताधीस्वरी आरज-स्वामिन आज।
तुम ह्वै आरज जाति कहँ मिलयो धन यह राज॥[2]

कह कर हिन्दुओं और अँगरेज़ों में 'एक जातित्व' स्थापित कर इँगलैंड के राजकुमार, विक्टोरिया महारानी आदि को आर्येश्वर, आर्येश्वरी, माता, अम्ब, देवी आदि नामों से सम्बोधित किया, शुभ अवसरों पर हर्षोत्सव मनाए, उनका गुणगान एवं यश-वर्णन किया, और उनकी 'रघुवर', 'शमी-रामा' आदि पौराणिक चरित्रों से तुलना की। यही उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के हिन्दी कवियों की राजभक्ति की नींव है। इसी सम्बन्ध द्वारा वे भारत और ग्रेट ब्रिटेन के समस्त हित-साधनों में सामंजस्य स्थापित करने लगते थे। और इसी सम्बन्ध एवं आर्यत्व और प्राचीन भारत के वीरत्व की भावना से प्रेरित होकर वे अँगरेज़ों के अधीन भारतीय सेना के किसी सुदूर देश में विजय प्राप्त करने पर अपनी राज्यभक्ति (या भारतीयता के नाते से कहिए देशभक्ति) से प्रेरित होकर विजय-गान गा उठते थे, और प्राचीन भारत की शक्तिवाहिनी चतुरंगिणी सेना के वीरों और उनके वीर कृत्यों को स्मरण कर पुलकित हो उठते थे।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि उस समय देश का नेतृत्व मध्यम वर्गीय शिक्षित समुदाय के हाथ में था। इस वर्ग ने आर्थिक, राजनीतिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी क्षेत्रों में विशेष उन्नति कर ली थी। किन्तु साधारणतया निम्न मध्यम-वर्ग और किसानों तथा अन्य निम्न श्रेणी के लोगों की दशा अच्छी न थी। समाज के मध्यमवर्गीय उन्नत समुदाय ने देश में चारों ओर अज्ञान, अविद्या, निर्धनता और नैतिक दुर्दशा का राज्य और जनता में कुप्रवृत्तियों और कुप्रथाओं का प्रचार देखा। उधर दूसरी ओर, जैसा कि

[1] भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, ४, ८, पृ० १११

[2] 'मनोमुकुल-माला' (१८७७), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, ७, पृ० ७४५

पहले कहा जा चुका है, राज्य में छोटे-छोटे अँगरेज़ कर्मचारियों का जातीय पक्षपात, काले-गोरे का भेद, भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार, सरकारी पद पर भारतवासियों का नियुक्त न होना, गवर्नर-जनरल और गवर्नर की कौंसिलों में उनका सदस्य नियुक्त न होना, भारत की निर्धनता और आर्थिक दुरवस्था आदि विषय नेताओं का ध्यान आकृष्ट किए हुए थे। वे सम्राट् की छत्रछाया में ही औपनिवेशिक प्रतिनिधि-शासन प्राप्त करना चाहते थे। देश को उन्नति के मार्ग पर अग्रसर करने के लिए मैज़िनी का आदर्श उनके सामने था। किन्तु मैज़िनी के क्रांतिकारी साधनों के वे हिमायती नहीं थे। क्योंकि एक तो उस समय देश किसी भी प्रकार के क्रांतिकारी साधन का उपयोग करने या सरकार से खुल्लमखुल्ला मोर्चा लेने के अयोग्य था, दूसरे उनका राजनीतिक ध्येय उन्हें उः राजनीतिक आन्दोलन को जन्म देने से रोकता था, और, तीसरे, अँगरेज़ों की सैनिक शक्ति का आतंक छाया हुआ था।

इसलिए एक ओर तो वे अवसर मिलने पर राजनीतिक दृष्टि से जनता की भलाई की माँगें सरकार के सामने पेश करते थे; दूसरी ओर वे जनता को सुधारने और उसको उन्नति-पथ पर अग्रसर करने के लिए सदा प्रयत्नशील रहते थे। जुबिली, राजकुमारागमन, राजकुमारजन्मोत्सव, युद्ध-विजय, दरबारों आदि के अवसरों पर वे राजभक्ति तो प्रकट करते ही थे, साथ ही भारत की दीन-हीन दशा का चित्र खींच अपनी आर्थिक और राजनीतिक अथवा शासन-सम्बन्धी माँगें पूरी करने की सरकार से अपील करते थे। राजकुमारागमन, जुबिली, दरबार, आदि शुभ अवसरों और हर्षोत्सवों पर जनता का अपनी प्रार्थनाओं और माँगों की पूर्ति की ओर सरकार का ध्यान आकृष्ट करना भारतीय पद्धति के अनुसार तो था ही, किन्तु साथ ही :

> 'विचारे छोटे पद के अँगरेज़ों को हमारे चित्त की क्या खबर है, ये अपनी ही तीन छटाँक पकाने जानते हैं। अतएव दोनों प्रजा एक-रस नहीं हो जाती; आप दूर बसे, हमारा जी कोई देखने वाला नहीं, बस छुट्टी हुई।'[1]

इसलिए—

> 'जब आपसे कुछ भी कहने की इच्छा करते हैं तो चित्त में कैसे विविध भाव उत्पन्न होते हैं। कभी भारतवर्ष के पुरावृत्त के प्रारम्भ

[1] भारतेन्दु : 'मानसोपायन' (१८७७), भूमिका-भाग, भा० ग्रं० द्वि०, ना० प्र० स०, पृ०-७२१-७२२

काल से आज तक जो बड़े-बड़े दृश्य यहाँ बीते हैं और जो महायुद्ध, महा शोभा और महा दुर्दशा भारतवर्ष की हुई है, उनके चित्र नेत्र के सामने लिख जाते हैं। कभी हिन्दुओं की दशा पर करुणा उत्पन्न होती है, कभी स्नेह कहता है कि हाँ यही अवसर है, खूब जी खोलकर जो कुछ हृदय में बहुत काल से भाव और उद्‌गार संचित हैं, उनको प्रकाश करो।'[1]

किन्तु—

'साथ ही राजभक्ति और आपका प्रताप कहता है कि खबरदार, हद से आगे न बढ़ना, जो कुछ बिनती करना बड़ी नम्रता और प्रमाण के साथ।'[2]

अस्तु, इस मानसिक पीठिका के साथ कविगण देश की दुरवस्था का चित्र खींच राजनीतिक और शासन-सम्बन्धी अनीतियों को दूर करने की माँगें सरकार के सामने रखते थे। यह सदैव याद रखना चाहिए कि ये माँगें प्रायः आर्थिक या आर्थिक आधार को लिए हुए होती थीं। कुछ प्रारम्भिक राजनीतिक तथा अन्य सुधारों के कारण भारतवासियों को भारत में इँगलैंड के मिशन पर बहुत-कुछ भरोसा हो चला था। पाश्चात्य विचारों से प्रभावित तथा यात्रा-सम्बन्धी सुगमताओं के फलस्वरूप उत्पन्न हुई ऐक्य-भावना से प्रेरित होकर उन्हें इँगलैंड से और भी आशाएँ बँध गई थीं। सरकार से आशा रखने के साथ-साथ वे अपनी त्रुटियाँ दूर करने पर भी ज़ोर देते थे।

राज्य-भक्ति की ओर संकेत करते हुए भारतेन्दु कहते हैं :

"'डिसलायल' हिंदुन कहत कहाँ मूढ़ ते लोग।
दृग भर निरखहिं आज ते राजभक्ति-संजोग ॥
निरभय पग आगेहिं परत मुख तें भाखत मार।
चले वीर सब लरन हित पच्छिम दिसि इक बार ॥"....[3]

जिन तत्कालीन प्रमुख समस्याओं के सुलझाने में शिक्षित वर्ग दत्तचित्त था उनसे हिन्दू नेताओं की राजनीति और उसके आर्थिक आधार का

---

[1] वही, पृ० ७२१

[2] वही, पृ० ७२१

[3] 'भारत-वीरत्व' (१८७८), भा० ग्रं० द्वि०, ना० प्र० स०, १८-१९, पृ० ७६९

परिचय भी प्राप्त होता है। अफ़ग़ान-युद्ध में सरकार ने अत्यधिक व्यय किया था। भारतेन्दु कहते हैं :

'कहा तुम्हैं नहिं खबर खबर जय की इत आई।
जीति देस गन्धार सत्रु सब दिये भगाई ॥....
ताही कौ उत्साह बढ़्यौ यह चहुँ दिसि भारी।
जय जय बोलत मुदित फिरत इत उत नर नारी ॥
नहिं नहिं यह कारन नहीं अहै और ही बात।
जो भारतवासी सबै प्रमुदित अतिहिं लखात ॥
काबुल सों इनको कहा हिये हरख की आस।
ये तो निज धन-नास सों रन सों और उदास ॥
ये तो समुझत व्यर्थ सब यह रोटी उतपात।
भारत कोष बिनास कों हिय अति ही अकुलात ॥
ईति भीति दुष्काल सों पीड़ित कर को सोग।
ताहू पै धन-नास को यह बिनु काज कुयोग ॥
स्ट्रेची डिज़रैली लिटन चितय नीति के जाल।
फँसि भारत जरजर भयो काबुल-युद्ध अकाल ॥
सबहिं भाँति नृप-भक्त जे भारतवासी-लोक।
शस्त्र और मुद्रण बिषय करी तिनहुँ को लोक ॥
सुजस मिलै अङ्गरेज कों होय रूस की रोक।
बढ़ै बृटिश बाणिज्य पै हम कों केवल सोक ॥
भारत राज मँझार जौ कहुँ काबुल मिलि जाइ।
जज्ज कलक्टर होइहैं हिन्दू नहिं तित धाइ ॥
ये तो केवल मरन हित द्रव्य देन हित हीन।
तासों काबुल-युद्ध सों ये जिय सदा मलीन ॥'[1]

'भारत राज मँझार....' आदि पंक्तियों से आर्थिक लाभ के अतिरिक्त बड़े-बड़े सरकारी पद ग्रहण कर मुसलमानों पर शासन करने की ध्वनि भी निकलती है। इसी के आगे वे कहते हैं :

'इनके जिय के हरख को औरहि कारन कोय।
जो ये सब दुख भूलि कै रहे अनन्दित होय ॥

---

[1] 'विजय-वल्लरी' (१८८१), भा० ग्रं० द्वि०, ना० प्र० स०, ७, ३३-३२, पृ० क्रमशः ७६३, ७६४

अब जानी हम बात जौन अति आनँदकारी।
जासों प्रमुदित भये सबै भारत नर-नारी ॥
नृप रहमान अयूब दोऊ मिलि कलह मचाई।
अन्त प्रबल ह्वै लिय अयूब गन्धार छड़ाई ॥
आदि बंस नव बंस दोऊ काबुल अधिकारी।
जाहि जातिगत चहैं करैं निज नृप बलधारी ॥
यामें हमरो कहा कउन उन सों मम नाता।
भार पड़ैं मिलि लड़ैं भिड़ैं झगड़ैं सब भ्राता ॥
दृढ़ करि भारत सीम बसैं अँगरेज सुखारे।
भारत असु बसु हरित करहि सब आर्य्य दुखारे ॥
सत्रु सत्रु लड़वाइ दूर रहि लखिय तमासा।
प्रबल देखिए जाहि ताहि मिलि दीजै आसा ॥
लिबरल दल बुधि मौन शान्ति प्रिय अति उदार चित।
पिछली चूक सुधारि अबै करिहै भारत-हित ॥
खुलिहै "लोन" न युद्ध बिना लगिहै नहिं टिकस।
रहिहै प्रजा अनन्द सहित बढ़िहै मंत्री-जस।
यहै सोचि अनन्द भरे भारतबासी जन।
प्रमुदित इत उत फिरहिं आज रञ्छित लखि निज धन ॥'[1]

ये ही बातें सरकार के सामने माँगों का रूप धारण कर लेती थीं। राष्ट्रीय हित का ध्यान रखते हुए उन्होंने कहीं भी बरती गई अहितकारी सरकारी नीतियों की कड़ी आलोचना की। कहना न होगा कि सरकार की ऐसी नीतियों में उसकी आर्थिक नीति ही प्रमुख थी :

'भीतर भीतर सब रस चूसै। हँसि हँसि कै तन मन धन मूसै ॥
जाहिर बातन में अति तेज। क्यों सखि सज्जन नहिं अँगरेज ॥'[2]

'अँगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन बिदेस चलि जात इहै अति ख्वारी ॥
ताहू पै महँगी काल रोग बिस्तारी।
दिन दिन दूने दुख ईस देत हा हा री ॥

---

[1] वही, ३३-४२, पृ० ७६५-७६६

[2] 'नए ज़माने की मुकरी' (१८८४), भा० ग्रं० हि, बा० प्र० स०, ८, पृ० ८११

सब के ऊपर टिक्कस की आफत आई।
हा हा! भारतदुर्दशा न देखी जाई॥'[१]

देश के आर्थिक शोषण और निर्धनता पर बालमुकुन्द गुप्त ने व्यंग से भरे अत्यन्त चुभते हुए वाक्य कहे हैं। निम्नलिखित पंक्तियाँ उनकी क्षुब्ध भावनाओं पर बड़ा अच्छा प्रकाश डालती हैं:

'का दै जननी पूजा करैं तुम्हार।
पेटहु कै निस दिन है हाहाकार॥
उदर भरन हित अन्न, रह्यो घर मांह जो।
दानव-दल मा आय काढ़, मुख तैं लयो॥
मन ही गयो बिलाय कछू अब रह्यो न बाकी।
उदर हेत हम बेच चुके मा चूल्हे चाकी।'[२]

× × ×

'भारत घोर मसान है, तू आप मसानी।
भारतवासी प्रेत से डोलहिं कल्यानी।
हाड़मांस नर रक्त है भूतन की सेवा।
यहां कहां मा पाइये चन्दन वी मेवा?'[३]
'पेट भरनहित फिरें हाय कूकर से दर दर।
चाटहि ताके पैर लपकि मारहिं जो ठोकर॥
तुम्हीं बताओ राम तुम्हें हम कैसे जानैं।
कैसे तुम्हरी महिमा कलुषित हिय महं आनैं॥'[४]
'हरे राम केहि पाप ते भारत भूमि मझार।
हाड़न की चक्की चलैं हाड़न को व्यापार॥'[५]

१८८५ में काँग्रेस की स्थापना का मुस्लिम वर्ग ने अत्यन्त विरोध किया। इस वर्ग के नेताओं का कहना था कि अगर सरकार काँग्रेस की जनसत्तात्मक माँगें स्वीकार कर लेगी तो उन्हें बहुसंख्यक हिन्दुओं के अधीन होकर रहना

---

[१] 'भारतदुर्दशा' (१८८०), भा० ना०, इं० प्रे०, पृ० ५१८
[२] 'देवी-स्तुति : आगमनी' (१८९५), पृ० २१
[३] 'आवहु माय' (१८९८) पृ० ३२, ४१
[४] 'राम भरोसा' (१८९८), पृ० १
[५] 'हे म' (१९००), पृ० १०

पड़ेगा जिससे उनकी सभ्यता और संस्कृति के खतरे में पड़ जाने का डर था। भारत में मुसलमानी राज्य नष्ट हो चुका था। सर सैयद अहमद खाँ चाहते थे कि शासन-सम्बन्धी मामलों में मुसलमान विशेषाधिकार प्राप्त कर अँगरेज़ों के साथ मिलकर फिर से भारतवर्ष पर राज्य करें। इसी आधार पर उन्होंने काँग्रेस की माँगों पर विशेष आपत्ति की। सभी देशभक्त और प्रगतिशील व्यक्तियों ने मुसलमानों का यह रुख राष्ट्र के लिए अहितकर समझा। बालमुकुन्द गुप्त प्रजातन्त्रवादी और उग्र विचारों के थे। उन्होंने 'सर सैयद का बुढ़ापा' (१८९०) शीर्षक कविता में सर सैयद के राष्ट्रीय हितों के घातक विचारों की तीव्र आलोचना की है। उनके सामने हिन्दू-मुसलमान का प्रश्न नहीं था। वे भारत की दरिद्र जनता के साथ थे। उनकी रचनाओं में देश की पीड़ित और व्याकुल आत्मा फूटी पड़ती है। उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ विशेष रूप से हमारा ध्यान आकृष्ट करती हैं:

'हे धनियो क्या दीन जनों की नहिं सुनते हो हाहाकार।
जिसका मरे पड़ोसी भूखा उसके भोजन को धिक्कार॥
भूखों की सुध उसके जी में कहिये किस पथ से आवे।
जिसका पेट मिष्ट भोजन से ठीक नाक तक भर जावे॥

× × ×

'हे बाबा! जो यह बेचारे भूखों प्राण गवावेंगे।
तब कहिये क्या धनी गलाकर अशर्फ़ियाँ पी जावेंगे।'[१]

अँगरेज़ों की आर्थिक नीति के कारण भारत का धन विदेश जाने लगा था। किसानों की दशा तो इतनी बिगड़ गई थी कि अकाल पड़ने या भूकम्प आने पर वे अपना पालन-पोषण भी न कर सकते थे और लाखों मनुष्य भूखों मर जाते थे। प्रतापनारायण मिश्र ने खिन्न होकर क्षोभपूर्ण शब्दों में देशवासियों का इस गम्भीर समस्या की ओर ध्यान दिलाया है और स्वतन्त्रता' की आवाज़ उठाई है:

'सर्बसु लिए जात अँगरेज,
हम केवल 'ल्यकचर' के तेज।
श्रम बिन बातें का करती हैं।
'कहुं टेंटकन गाजैं टरती हैं॥१८

---

[१] 'सर सैयद का बुढ़ापा' (१८९०) पृ० ४८, ९२

अपनो काम आपने ही हाथ भल होई।
परदेशिन परधर्मिन ते आशा नहिं कोई॥
धन धरती जिन हरी सुकरिहैं कौन भलाई।
"जोगी काके मीत कलंकर केहि के भाई॥"१६॥

सब तजि गहौ स्वतन्त्रता नहिं चुप लातैं खाव।
"राजा करै सो न्याव है पासा परै सो दाव॥"२०॥'[1]

'स्वतन्त्रता' की पुकार लगाने वाले इन राष्ट्रीय कवियों के अतिरिक्त ऐसे कवियों का भी अभाव नहीं था जिन्होंने उदार नीति का अवलम्बन लिया। 'प्रेमघन' जैसे कवियों ने हमेशा बड़े आदर और भक्ति के साथ सरकार के सामने अपनी माँगें रक्खीं। वे भी चाहते थे कि भारत की निर्धनता दूर हो, भारी-भारी टैक्स हटा दिये जायँ और भारत में उद्योग-धंधों का प्रसार हो। परन्तु वे भारतेन्दु की भाँति निर्भीक स्पष्टवक्ता, और बालमुकुन्द गुप्त और प्रतापनारायण मिश्र की भाँति कड़क कर आवाज़ उठाने वाले नहीं थे। 'धन बिदेस चलि जात' का भारतेन्दु कारण बताते हैं:

'कल के कल बल छलन सों छले इते के लोग।
नित नित धन सों घटत हैं बाढ़त है दुख सोग॥
मारकीन मलमल बिना चलत कछू नहिं काम।
परदेसी जुलहान के मानहु भये गुलाम॥
वस्त्र काँच कागज कलम चित्र खिलौने आदि।
आवत सब परदेस सों नितहि जहाजन लादि॥
इत की रुई सींग अरु चरमहि तित लै जाय।
ताकि स्वच्छ करि वस्तु बहु भेजत इतहि बनाय॥
तिनही को हम पाइ कै साजत निज आमोद।
तिन बिन छिन तन सकल सुख, स्वाद विनोद प्रमोद॥
कछु तो वेतन में गयो कछुक राज-कर माँहिं।
बाकी सब व्योहार में गयो रह्यो कछु नाहिं॥
निरधन दिन दिन होत है भारत भुव सब भाँति।
ताहि बचाइ न कोउ सकत निज भुज बुधि-बल कांति॥

---

[1] 'लोकोक्ति शतक' (१८८८), पृ० ३

यह सब कला अधीन है तामै इतै न ग्रन्थ।
तासों सूझत नाहिं कछु द्रव्य बचावन पन्थ ॥'[1]

इसलिए वे कहते थे :

'बनै वस्तु कल की इतै मिटै दीनता खेद ॥'[2]
'राजनीति समझैं सकल पावहिं तत्व विचार।'[3]

टैक्स, महँगी आदि भारतीय निर्धनता के अन्य कारणों पर भी उन्होंने विचार किया है, यद्यपि ऐतिहासिक की भाँति वे समस्त कारण ध्यान में न रख सके। स्वदेशी-प्रचार और भारत की औद्योगिक उन्नति उन्हें कितनी प्रिय थी, यह भी इन पंक्तियों से प्रकट होता है। किन्तु सरकारी निरंकुशता के आगे उनकी आकांक्षाएँ अपूर्ण रह जाती थीं। लॉर्ड लिटन के अनुदार शासन से प्रजा असंतुष्ट थी। इसके विपरीत यदि रिपन जैसा कोई उदार शासक हुआ तब तो उनकी राज-भक्ति और गुणगान का स्रोत फूट पड़ता था। रिपन की लोकप्रियता अँगरेजी शासन के इतिहास में अमर रहेगी। भारतेन्दु तथा अन्य कवियों ने उन्हें 'उदार', 'भारत-हितकारी', 'जन-शोक-बिदारा', 'सत्यपथ पथिक', 'मुद्रा-स्वाधीन-करन', 'भृत्य-वृत्ति-प्रद' 'प्रजा-राज्य स्थापन-करन', 'हरन दीन भारत-विपद', 'भारत बासिहि देन नव-महान्यायपति प्रथम पद', 'हिंदू-उन्नति-पथ अवरोध-मुक्त-कर', 'कर-बंधन मंथन-कर', 'जन-सिच्छन-हेत समिति-सिच्छा-संस्थापक', 'सेतासेत बरन सम संमत मापक', भारत-शिल्पोन्नति-करन', 'प्रजावत्सल', 'सत्य-प्रिय', 'भारत-नव-उदित रिपन-चन्द्रमा' आदि कह कर उनका जयगान किया है। वास्तव में जैसा कि सर सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने कहा है कि ब्रिटिश साम्राज्य की छत्रछाया में रहने का ध्येय सामने रख कर ही अँगरेजी नीति का समर्थन या विरोध—वह भी सविनय—करना ही तत्कालीन भारतीय नेताओं का सिद्धांत था। वे उदार नीति का पालन करते थे क्योंकि उग्रनीति को वे निष्फल और भयावह परिणामों से परिपूर्ण समझते थे। वे अपने को ब्रिटिश साम्राज्य की संतान कहलाने में गर्व की बात समझते थे। ऐसी दशा में वैध आंदोलन में उनका विश्वास होना स्वा-

[1] 'हिंदी की उन्नति पर व्याख्यान' (१८७७), भा० ग्रं० द्वि०, ना० प्रा० स०, ५७-६४, पृ० ७१५-७१६

[2] वही, ६६, पृ० ७१६

[3] वही, ७०, पृ० ७१६

भाविक था। वे प्रतिनिधि शासन चाहते थे जिसमें भारतवासियों (विशेषतः हिन्दुओं) का प्रधान भाग हो। जो भारत-सचिव या वाइसराय उनकी इन आकांक्षाओं से सहानुभूति रखता था उसे लोकप्रिय होने में देर न लगती थी। रिपन से पहिले बेंटिक इसी प्रकार के गवर्नर-जनरल थे। उस समय भारत-सचिव या वाइसराय की भारत की आकांक्षाओं के प्रति सहानुभूति या उदासीनता अथवा वैपरीत्य के अनुकूल ही भारतीय राजनीतिक विचारों में ज्वार-भाटा आया करते थे। हिन्दी के कवि इसके कोई अपवाद न थे।

अन्त में विदेशी धर्मावलंबी मुसलमान और अँगरेज़ शासकों की तुलना करते हुए उन्होंने जो कुछ लिखा है उसका उल्लेख कर देना भी आवश्यक है। इससे उनकी विचारधारा पर स्पष्ट रूप से प्रकाश पड़ता है :

'यद्यपि उस उर्दू शैर के अनुसार 'बाग़बां आया गुलिस्तां में कि सैयाद आया। जो कोई आया मेरी जान को जल्लाद आया।' क्या मुसलमान क्या अङ्गरेज़ भारतवर्ष को सभी ने जीता, किन्तु इनमें उनमें तब भी बड़ा प्रभेद है। मुसलमानों के काल में शत सहस्र बड़े बड़े दोष थे किन्तु दो गुण थे। प्रथम तो यह है कि उन सबों ने अपना घर यहीं बनाया था इससे यहाँ की लक्ष्मी यहीं रहती थी। दूसरे बीच-बीच में जब कोई आग्रही मुसलमान बादशाह उत्पन्न होते थे तो हिंदुओं का रक्त भी उष्ण हो जाता था इससे वीरता का संस्कार शेष चला आता था। किसी ने सच कहा है कि मुसलमानी राज्य हैजे का रोग है और अंगरेज़ी राज्य क्षयी का। इनकी शासनप्रणाली में हम लोगों का धन और वीरता निःशेष होती जाती है। बीच में जाति पक्षपात, मुसलमानों पर विशेष दृष्टि[1] आदि देखकर लोगों का जी और भी उदास होता है। यद्यपि लिबरल दल से हम लोगों ने बहुत सी आशा बांध रक्खी है पर वह आशा ऐसी है जैसे रोग असाध्य हो जाने पर विषवटी की आशा। जो कुछ हो, मुसलमानों की भांति इन्होंने हमारी आंख के सामने हमारी देवमूर्तियाँ नहीं तोड़ीं और स्त्रियों को बलात्कार से छीन

---

[1] १८५७ से पूर्व अँगरेज़ों की मुसलमानों पर विशेष कृपादृष्टि थी। किंतु इसके बाद पलड़ा पलटा और विद्रोह के कुछ वर्ष बाद हिंदू उनके कृपापात्र बने। विद्रोह के कुछ वर्ष बाद तक पुरानी व्यवस्था का बना रहना अनिवार्य था।

नहीं लिया, न घास की भांति सिर काटे गए और न ज़बरदस्ती मुँह में थूक कर मुसलमान किए गए। अभागे भारत को यही बहुत है। विशेषकर अंगरेज़ों से हम लोगों को जैसी शुभ शिक्षा मिली है उसके हम उनके ऋणी हैं। भारत कृतघ्नी नहीं है। यह सदा मुक्तकंठ से स्वीकार करेगा कि अंगरेज़ों ने मुसलमानों के कठिन दंड से हमको छुड़ाया और यद्यपि अनेक प्रकार से हमारा धन ले गए किन्तु पेट भरने को भीख मांगने की विद्या भी सिखा गए।[1]

उनकी आपत्तियों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। वास्तव में आर्थिक पक्ष को छोड़ कर मुसलमानी और अँगरेज़ी राज्यों के प्रति आलोच्यकालीन साहित्य में 'आनन्दमठ' वाली भावना सर्वत्र व्याप्त है।

अस्तु, एक ओर तो वे सरकार के सामने अपनी माँगें पेश करते थे, जो प्रायः राजनीतिक हुआ करती थीं, और मुख्यतः सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में, वे जनता को सुधारने और उसको उन्नति के मार्ग की ओर अग्रसर करने के लिए सदा प्रयत्न करते रहते थे। शुरू में तो इन विविध सुधारवादी आंदोलनों को सार्वजनिक जीवन में इतना महत्व दिया जाता था कि राजनीतिक सभाओं के साथ-साथ सुधारवादी सभाएँ भी हुआ करती थी। प्रायः नेतागण दोनों प्रकार की सभाओं में भाग लिया करते थे। कुछ लोगों का विचार था कि राजनीतिक कार्यक्रम की अपेक्षा सामाजिक एवं धार्मिक कार्यक्रम को अधिक महत्व मिलना चाहिए क्योंकि जनता का इस से सीधा और घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस के विपक्षी दल का विचार था कि राजनीतिक शासन की बागडोर अपने हाथ में लिए बिना सामाजिक और धार्मिक आंदोलनों में समय और शक्ति लगाना व्यर्थ है। विजय अन्त में राजनीतिक पक्षवालों की हुई। किन्तु यह बहुत बाद की बात है। जब तक भारतेन्दु जीवित रहे तब तक राजनीतिक और सामजिक आंदोलनों का आपस में गठबंधन रहा, वे एक दूसरे के साथ चलते थे। पिछले पृष्ठों में इन बातों की ओर संकेत किया जा चुका है कि अँगरेज़ों के आने से लाभ होने के अतिरिक्त भारत के आर्थिक एवं सांस्कृतिक जीवन को भारी धक्का पहुँचा था। किन्तु उससे लाभ भी अनेक हुए। अधःपतन और विनाश ने समाज के अङ्ग-अङ्ग में प्रवेश कर लिया था। देश में प्रमाद, आलस्य और मिथ्याचार ने घर कर लिया था। सभ्यता और

[1] 'बादशाह-दर्पण' (सर्वप्रथम १८८४ मे मेडिकल हाल प्रेस, बनारस से मुद्रित), १९१७ खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर, द्वितीय संस्करण, भूमिका भाग

संस्कृति के घातक चिन्ह प्रगट हो गए थे। नवीन धारा के कवि अपने देश को इन दुर्बलताओं और बुराइयों से अनभिज्ञ नहीं थे। अँगरेज़ी राज्य के सुखों की सराहना करने के साथ-साथ देश की पतितावस्था भी प्रमुख रूप से उनके सामने आ खड़ी होती थी। और जिस समय भारतवर्ष अन्धकार के गर्त में डूबा हुआ था, सौभाग्य से उस समय पश्चिम की एक जीवित जाति के साथ उसका सम्पर्क स्थापित हुआ। फलतः देश में स्फूर्ति और उत्तेजना उत्पन्न होना अवश्यंभावी था। अँगरेज़ों के सम्पर्क से जिन नवीन और उन्नत विचारों का जन्म हुआ उनके प्रकाश में भारतीय जीवन का फिर से संस्कार करने की बात सोचना स्वाभाविक ही था और कुछ हद तक इसके लिए भारतवर्ष में अँगरेज़ों की उपस्थिति आवश्यक और ईश्वर द्वारा प्रेरित समझी गई। अँगरेज़ी राज्य में भी देशवासियों की निरुद्यमता और उनके आलस्य पतनोन्मुख संतोष आदि की ओर लक्ष्य करते हुए भारतेन्दु कहते हैं :

'अँगरेजहु को राज पाइकै रहे कूढ़ के कूढ़।
स्वारथ-पर विभिन्न-मति-भूले हिन्दू सब ह्वै मूढ़॥
जग के देश बढ़त बदि बदि के सब बाजी जेहि काल।
ताहू समय रात इनको है ऐसे ये बेहाल॥'

इस सम्बन्ध में कवियों ने तत्कालीन भारत में प्रचलित निर्धनता, बुभुक्षा, अकाल, महँगी, रोग, बैर, कलह, आलस्य, सन्तोष, खुशामद, कायरता, टैक्स, अनैक्य यवनों द्वारा देश की दुर्दशा, धार्मिक मतमतांतर, छुआछूत, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, जन्मपत्र से विधि मिलाकर विवाह करना, बहु-विवाह, विधवा-विवाह-निषेध और उससे उत्पन्न व्यभिचार, अशिक्षा और अज्ञानता, रूढ़िप्रियता, समुद्र-यात्रा-प्रतिबन्ध अर्थात् विलायत-गमन-निषेध और फलतः कूपमण्डूक बने रहना, वाह्य संसार से विमुखता, ईश्वर को भूल कर देवी-देवता, भूत-प्रेतादि की पूजा में चित्त देना, धार्मिक कर्मकांड और पाखण्ड, धर्म की आड़ में धर्म-वञ्चकता और व्यभिचार, राजा-महा-राजाओं की बुद्धि-बल-हीनता, नारी-विहार, व्यभिचार आदि, अपव्यय, अदालती बुराइयाँ, पुलिस के अत्याचार, फ़ैशन, सिफ़ारिश, घूँस, शिक्षितों की बेकारी, पुलीस के कारनामों, सुरा-सेवन, मांस-भक्षण (यहाँ तक कि बीफ़ भी) आदि धार्मिक और सामाजिक प्रवृत्तियों एवं कुप्रथाओं, आचार-विचार-हीनता और नैतिक पतन का अपनी विविध रचनाओं में उल्लेख किया है। पारस्परिक कलह के सम्बन्ध में प्रतापनारायण मिश्र कहते हैं :

"भाय २ आपस में लरैं,
परदेसिन के पायन परैं ।
यहै द्वेष भारत शशि राहु
'घर का भेदिया लङ्का दाहु' ॥१५॥
भायप तनक परस्पर नहिं जहँ,
सरल सनेह न हरि चरनन महँ ।
जगत दास कस होहिं न आरज,
'निबर की जुइया सबकै सरहज' ॥१६॥
प्रीति परस्पर राखहु मीत ।
जइहैं सब दुख सहजहि बीत ।
नहिं एकता सरिस बल कोय,
'एक २ मिल ग्यारह होय' ॥१७॥"[1]

अँगरेज़ी शिक्षित नवयुवकों की ओर सङ्केत करके कवि कहता है :

"तन मन सों उद्योग न करहीं,
बाबू बनिवे के हित मरहीं ।
परदेसिन सेवत अनुरागे,
'सब फल खाय धतूरन लागे' ॥५७॥
दुरबल के नित होहु सहाय,
हरि तूटै जग जस ह्वै जाय ।
ताहि सताए श्रमहु अकाथ,
'बकुला मारे पखना हाथ' ॥५८॥"[2]

अन्य कवियों ने धर्म की ग्लानि पर क्षोभ प्रकट करते हुए समाज की 'निजता' बचाने की चेष्टा की । वे किसी का अनुकरण न कर अपने में ही समयानुकूल सुधार करना चाहते थे । राधाकृष्णदास कहते हैं :

'प्रभु हो पुनि भूतल पर अवतरिए ।
अपुने या प्यारे भारत के पुनि दुख दारिद हरिए ॥
धरमगिलानि होति जब ही जब तब तब तुम वपु धारत ।
दुष्टनि हरि साधुन निर्भय करि तबही धरम उबारत ॥

---

[1] प्रतापनारायण मिश्र : 'लोकोक्ति शतक' (१८८८), पृ० १-३

[2] वही, पृ० ७

महा अविद्या राच्छस ने या देसहिं बहुत सतायो ।
साहस पुरुषारथ, उद्यम, धन, सबही निघिन गँवायो ॥'

बालमुकुन्द गुप्त भी अपनी ज़ोरदार शैली में कहते हैं :

'पै हमरे नहिं धर्म्म कर्म्म कुल कानि बड़ाई ।
हम प्रभु लाज समाज आज सब धोय बहाई ॥
मेटे वेद पुरान न्यायनिष्ठा सब खोई ।
हिन्दू कुल-मरजाद आज हम सबहिं डुबाई ॥'[1]
'तन्त्र पुराण मन्त्र षट दर्शन वेद लवेद सिधारे ।
गीता में लग गया पलीता, कर्म धर्म झकमारे ॥
रहे डारविन, मिल, शैली, लड़कों की रही पढ़ाई ।
और रही लड़की की शादी, जोरू सङ्ग लगाई ॥
रही सड़ी दुर्गन्ध ड्रेन की और दूध में पानी ।
चेचक हैजा ज्वर मलेरिया और पलेग निशानी ॥'[2]

विशुद्धानन्द सरस्वती के शिष्य कवि शङ्कर प्रसाद दीक्षित ने 'विज्ञान बोध' में सनातन धर्म का पक्ष लेकर आर्य समाज की कठोर आलोचना की है। वे अपने को अद्वैत मत का मानने वाला बताते हैं और आर्य समाजियों के प्रचार और शास्त्रार्थ करने के तरीक़ों को बिल्कुल नापसन्द करते हैं। उन्होंने यहाँ तक कहा कि आर्य समाजियों को गो-रक्षा, विधवा-विवाह आदि के सम्बन्ध में बढ़-बढ़ कर बातें बनाने के बजाय अपनी आदतें सुधारनी और याज्ञवल्क्य, शङ्कराचार्य आदि के बताये मार्गों का अनुसरण करना चाहिए। उन्होंने दयानन्द को कलियुगाचार्य और 'सत्यार्थप्रकाश' को 'मिथ्यार्थप्रकाश' कहा है। अयोध्यासिंह उपाध्याय भी ब्राह्म समाज, आर्य समाज आदि विभिन्न मतों को भारत की उन्नति के लिए घातक माना है। वे सनातन धर्म की दुहाई देते और आर्य समाज को हिन्दू देव-स्थानों और तीर्थों का विनाशक बताते हैं। उनका कहना है :

'ब्रह्मो समाज आरज समाज मतवाले ।
कहने ही को बनते हैं भारत वाले ॥
दुनिया भर से हैं इनके ढङ्ग निराले ।

---

[1] 'राम भरोसा', पृ० ११

[2] 'सब आब', पृ० १२४-१२५

इन लोगों ने अपने ही घर हैं घाले ॥
यह निज मनमानी सदा किया चहते हैं ।
हिन्दू रह कर ही भारत के रहते हैं ॥ ४ ॥
है बड़ी जाति जितनी जग बीच लखाती ।
उन सबको हैं जातीय वस्तु दिखलाती ॥
पर इनको हैं जातीय वस्तु नहिं भाती ।
सुनकर के उनका नाम लाज है आती ॥
ये यूरप की बातों ही पर ढहते हैं ।
हिन्दू रह कर ही भारत के रहते हैं ॥ ५ ॥

इनका जी श्री गंगे सुनकर जलता है ।
काशी प्रयाग पर क्रोध सब निकलता है ॥
दसमी दीवाली को आसन टलता है ।
श्री रामकृष्ण गुनगान बहुत खलता है ॥
सुनकर पुरान को ये नहीं उमहते हैं ।
हिन्दू रहकर ही भारत के रहते हैं ॥ ६ ॥
ये नाहक बिखरस बीच घोल जाते हैं ।
ये मिले हुओं को बरबस बिलगाते हैं ॥
ये कलह फूट जन-जन में फैलाते हैं ।
ये रही सही जातीयता नसाते हैं ॥
ये इन बातों में महामोद लहते हैं ।
हिन्दू रहकर ही भारत के रहते हैं ॥ ७ ॥
अब भी जै श्री गंगे की धुनि अति प्यारी ।
उमगा देती है बीस कोटि नर नारी ॥
देते सुनकर मन्दिर मूरत को गारी ।
है बीस कोटि तन ते कढ़ती चिनगारी ॥
जल भुन कर ये इन बातों को सहते हैं ।

हिन्दू रह कर ही भारत के रहते हैं ॥ ८ ॥
ऐ भारत का मुख उज्जल करने वालो ।
सोचो समझो अपना घर देखो भालो ॥
घबरा के पग इधर-उधर मत डालो ।
अपनी मरजादा को धीरज से पालो ॥

हरिऔध धरम बल से सभी निबहते हैं।
हिन्दू रहकर कर ही भारत के रहते हैं ॥ ६ ॥ ३ ॥'[१]

सामाजिक तथा धार्मिक जीवन की विडम्बनाओं और ब्राह्मणों के पतन, अभारतीय आचार-विचार, खानपान सम्बन्धी निषेध की शिथिलता आदि की ओर लक्ष्य कर कवि कहते हैं :

'सेल गई बरछी गई गये तीर तलवार।
घड़ी छड़ी चसमा भये छत्रिन के हथियार ॥[२]

× × ×

'झूठि मलेच्छन की हहा ! खात सराहि सराहि।
और कहा चाहो सुन्यो त्राहि त्राहि प्रभु त्राहि ॥[3]

× × ×

'बाम्हन बने शहीद ईद में यवन जनेऊदार बने रे।
धन्य धन्य ! सब मिल भये आरज उन्नति पर तैयार बने रे ॥[४]

× × ×

'खड़ा खड़ा जो मारे धार, सोई करे देश उद्धार।
यह देखा कलियुग के खेल, तागड़ दिन्ना नागर बेल ॥'[५]

× × ×

'कलिजुग ही कलिजुग छाय रह्यो दिशि चारो।
अब कस न कल्कि अवतार बेगि प्रभु धारो ॥
द्विजबर कुलीन कारज कुलीन के करहीं।
पढ़िबो तजि परदेसिन के पायन परहीं ॥
राकसन हेत गैयाँ अगनित नित मरहीं।
रिषि वंशज लखि २ लाज न कछु उर धरहीं ॥

---

[१]'काव्योपवन', पृ० १६८-१६९
[२]बालमुकुन्द गुप्त : 'राम स्तोत्र', पृ० ६
[३] " : 'राम स्तुति', पृ० ८
[४] " : 'देशोद्धार की ताब', पृ० १२५
[५] " : वही, पृ० १२६

ब्रह्मण्य देव गोपाल जो नाम तिहारो।
अब कस न कल्कि अवतार बेगि प्रभु धारो ॥ १ ॥

धन गयो बिलायत बाल ब्याह बल खोयो।
प्रगटे मत कुमत अनेक प्रेम पथ गोयो ॥
सब विधि निजता तजि जन समाज सुख सोयो।
मूरख न सुनहिं बुध वृन्द बहुत दुख रोयो ॥
हे पतित उधारण! भारत पतित उधारो।
अब कस न० ॥ २ ॥

कोउ निज नारिन को भार मानसिक मारै।
कोउ नर कहाय आचरण तियन के धारै ॥
कोउ मन के धन हित धरमहिं बेंचे डारै।
कोउ हिन्दू ह्वै तुरकी पर तनमन वारै ॥
करलै तिच्छन तरवारि मलिच्छन मारो।
अब कस न० ॥ ३ ॥

रिषि नाहिंन जे सुख दायक पन्थ चलैहैं।
नहिं रहे बीर जो धर्म हेत कटि जैहैं ॥
कहँ बचे धनिक जो दुख दरिद्र हरि लैहैं।
अब तो पापी पेटहि के दास सबै हैं ॥
परतापहि केवल तवपद पदुम सहारा।
अब कस न कल्कि अवतार बेगि प्रभु धारो ॥ ४ ॥ २० ॥'[1]

× × ×

'या सताब्दी माँहि अहै द्विजगन गति जैसी।
हम जानत जग माँहि आन गति अहै न तैसी ॥
सेवा करत लजात भीख माँगे नहिं पावत।
खेती में श्रम होत बनिज में ढंग न आवत ॥
पूज्य बनन की चाह पै न कछु बरता राखत।
मान चहत मन माँहि पै सदा सबसों माखत ॥
अहै कौन सो समय कहा करनो कब चाहै।
इनको या को ढंग भूलि दीनो विधिना है ॥

[1] प्रतापनारायण मिश्र : 'मन की लहर' (१८८५), पृ० २६-३०

कछु लिखि पढ़ि जहँ जात हीं कछु ऐसी ठानत ।
जाते देखत ही अरुचि सबै निज मन आनत ॥'[१]

× × ×

'नशे की बिमारी ने उखारी जड़ मतन की,
जटाधारी निराकारी नशे मार डारे हैं ॥
दादू पंथी रामानन्दी मारे हैं कबीर पंथी,
नशे कालवीर से गुलाबदासी हारे हैं ॥
मारे हैं सन्यासी मार जंगम उदासी मारे,
निर्मल गरीबदासी नशे के जो प्यारे हैं ॥
योगी मारे भोगी मारे रोगी मारे सोगी मारे,
नशाबीर जान नशाबाजों की निकारे हैं ॥ १ ॥'[२]

× × ×

'मात तुम्हारी है गऊ इसको बचाना चाहिये ।
दरदो ग़म रञ्जो अलम सबसे छुड़ाना चाहिये ॥
यह तुम्हें दूधों दही मक्खन खिवाती और मही ।
इसके एवज़ न गला इसका कटाना चाहिये ॥
शीर के बदले भी सपने में नहीं पाओगे छांछ ।
सोच कर इस काम में अब चित्त लगाना चाहिये ॥'[३]

× × ×

'अँगरेज़ों संग खाना खाते यह एक बड़ी खुटाई है ।
प्रथम चरण महाराज राज कलयुग की सेना आई है ॥
खेलन लागे जुवा बहुत जन पास न जिनके पाई है ।
प्रभू प्रसाद का नेंम न राखे मींज तमाखू खाई है ॥
हरें पराया धन धन बनके यह नई रीति दिखाई है ।
विप्रन से बंदगी करावें निबल को दीन निचाई है ॥
चोर करें चौकीदारी पानी में पड़े मलाई है ।
उवारी तो जौहरी बन गये चुगलन की चुगलाई है ॥'[४]

---

[१]स्वामी आत्माराम सागर सन्यासी : 'नशा खण्डन चालीसी' (१८९६), पृ० १२-१३

[२]महाराज नित्यानंद चौबे माथुर : 'कविराज कथा' (१८८१), पृ० २

[३]वही, पृ० ६

[४]अयोध्यासिंह उपाध्याय : 'अध्योपवन', पृ० १५२

स्त्रियों में नीलदेवी उनका आदर्श थी। स्त्री-शिक्षा और उन्नति के अतिरिक्त आलोच्य-कालीन कवि बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह आदि के विरुद्ध और इस सम्बन्ध में सुधार के पक्षपाती थे। विधवा-विवाह के सम्बन्ध में कुछ मत-भेद था। ये तथा कुछ अन्य समस्याएँ जैसे, विवाह में अपव्यय करना, पंडों-पुरोहितों का महत्व, भूत-प्रेत और मसान-सेवा, शिक्षा का अभाव, कूप-मण्डूकता, कर्म-काण्ड की प्रधानता आदि, जो समाजियों और असमाजियों दोनों का ध्यान आकृष्ट किए हुए थीं। उदाहरणार्थ, पटना के बाबू महेश नारायण ने अपनी 'स्वप्न'[1] (१८८१) नामक कविता में एक ऐसी विवाह-योग्य लड़की का वर्णन किया है जिसका पिता धन के लोभ से उसका विवाह उसके प्रेमी युवक से न कर एक बुड्ढे के साथ कर देता है। कविता का अन्त है:

'हाय शादी हुई थी
बेहोश मैं जब थी
मैं सोलह बरस की
वह अस्सी बरस के
देख इनको मैं रोती
देख हमको वह हँसते

क्या करो मुझे प्यार करो माता ने बनाया है तुमको हमारी
मैं हूँ अमीर मर जाऊँगा जब तब दौलत होगी हमारी तुम्हारी
मर ही गये वह बिचारे उसी दिन हो गई विधवा पर कुमारी
माता मेरी संतुष्ट हुई और घर लाई वह दौलत सारी

बाद इसके वह ज़िन्दगी मेरी
गमगीर दिल प' एक पहाड़ हुई
पास मेरे नहीं थी मौत आती
वह बेचारी थी हमसे शर्माती
एक बरस ग़म का यों ही बीत गया
पर नहीं दिल हुआ ज़रा हल्का
एक दिन बैठे यह ख्याल आया
ख्याल क्या आया एक ज़वाल आया

---

[1] मुज़फ़्फ़रपुर के अयोध्या प्रसाद खत्री द्वारा संगठित और फ्रेडेरिक पिन्कौट द्वारा सम्पादित 'खड़ी बोली का पद्य' (लन्दन, १८८८) यह कविता १२ अक्तूबर, १८८१ के 'बिहार बन्धु' में प्रकाशित हुई था।

कि योगिन बन के विभूत रमा और कहके मैं 'हा!'
पित गृहि से निकली....'

इनमें से कुछ बातें तो पहले से चली आ रही थीं और कुछ उस समय पैदा हो गई थीं। इनसे भारत का सर्वनाश हो रहा था और चारों ओर अंधकार ही अंधकार दिखाई देता था। अँगरेज़ी शिक्षितों में पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान से लाभ उठा कर देश-सेवा में तत्पर होने के स्थान पर वहाँ के आचार-विचारों का अंधानुकरण अत्यधिक प्रचलित हो गया था। वे ऐसी बहुत-सी बातें करते थे जिनसे कट्टर भारतवासियों को ही नहीं वरन् देशभक्त, नवशिक्षित, उन्नत और उदार एवं प्रगतिशील व्यक्तियों तक को मर्मांतक पीड़ा होती थी। उन्होंने भाषा, धर्म, अपने आचार-विचार व्यवहार, खाना-पीना, रहन-सहन आदि को योजन दूर अलग रख दिया था। वे 'बाबू बनिवे के हित' तो मरते थे, किंतु देश-सेवा के नाम से उनके प्राण निकलते थे। अपनी देशी जनता को भी वे घृणा की दृष्टि से देखते थे। भारतेंदु तथा उनके सहयोगियों ने मद्यपान, मांस-भक्षण आदि के विरुद्ध केवल नैतिक भावना से प्रेरित होकर आवाज़ उठाई हो सो बात नहीं। इन तथा अन्य नवोदित बुराइयों से अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो रही थीं और राष्ट्रीय जीवन का ह्रास हो रहा था। बंगाल के हिंदू कॉलेज के अँगरेज़ी शिक्षितों के उत्पात को कौन नहीं जानता? अपनी 'प्रगतिशीलता' की झोंक में वे मांस तथा अन्य अभक्ष्य पदार्थ कट्टर हिन्दुओं के घरों में फेंक देते थे। इससे शान्ति भंग होने की बराबर आशंका बनी रहती थी। भारतीय स्वभावत: सहिष्णु होते हैं। वे चाहते थे कि अँगरेज़ी-शिक्षित अपने चाहे कुछ करें स्वयं उनके जीवन में किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचाई जानी चाहिए। किन्तु अँगरेज़ी शिक्षितों के व्यवहार से सब समझदार व्यक्तियों को दुःख पहुँचता था। मद्यपान का उस समय इतना प्रचार बढ़ गया था कि शिक्षित लोग शराब न पीने वालों को असभ्य समझते थे। उस समय की सभ्यता का वह 'मूलसूत्र' समझी जाती थी। नशे में चूर होकर वे समाज के लिए संकट पैदा कर देते थे। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, सुरेंद्रनाथ बनर्जी प्रभृति देशभक्तों ने भी पश्चिम के अंधानुकरण से उत्पन्न ऐसी कुप्रवृत्तियों की ज़ोरदार शब्दों में बुराई की थी। एक अँगरेज़ अपनी भाषा, अपने साहित्य, देश और समाज की सेवा करता था, ज्ञान-पिपासा शांत करने के विविध साधन खोज निकालता था, उसमें अदम्य शौर्य और उत्साह था। किन्तु अँगरेज़ी शिक्षित भारतवासियों में इन गुणों के बदले अपने देश और समाज में न खपने वाली और अहितकारी बातों की प्रबलता पाई

जाती थी। इन्हीं सब विषयों की ओर लक्ष्य करते हुए भारतेंदु ने कहा है:

लिया भी तो अँगरेजों से औगुन।

अतएव भारतदुर्दैव के बीरों की देश में चारों ओर तूती बोल रही थी और वे अच्छी तरह 'हिन्दुओं से समझ रहे थे।' छोटे-बड़े, अमीर ग़रीब, शिक्षित-अशिक्षित सब पर उनका जाल बिछा हुआ था। वे नवयुग के प्रकाश से अपनी उन्नति का मार्ग नहीं खोज पा रहे थे। यह देख कर भारतेन्दु को भारत के सर्वनाश की निश्चय आशा हो गई थी।

हिन्दी साहित्य में नवीन सुधारवादी आन्दोलन आर्य समाज की स्थापना से पहले ही पाया जाता है। भारतेन्दु के पिता बाबू गोपालचन्द्र और महाराज रघुराजसिंह हिन्दू समाज में धार्मिक और सामाजिक सुधारों के पक्षपाती थे। स्वयं भारतेन्दु अपने समय के प्रगतिशली व्यक्तियों में से थे। आर्य समाज की स्थापना उनके जीवन काल में हो चुकी थी। परन्तु उन्होंने इस मत का अवलम्बन नहीं लिया। वे पक्के वैष्णव बने रहे। इतने पर उनको दक़ियानूसी कहना कुफ्र के बराबर होगा। वे नवीन जागृति के अच्छे आदर्श थे। आर्य समाज भी एक ज़बर्दस्त आन्दोलन था। उससे देश को अत्यन्त लाभ पहुँचा। उसके धार्मिक और सामाजिक विचारों का प्रभाव असमाजी लेखकों की रचनाओं पर भी पड़ा। परन्तु वास्तव में असमाजी लेखक भारतेन्दु को अपना पथ-प्रदर्शक मानते थे। भारतेन्दु के साथ वे सनातन धर्म में ही सुधार करना चाहते थे। अन्य मतों को वे भारत के हित के लिये घातक समझते थे। इस काल में कोई भी प्रसिद्ध आर्य समाजी कवि नहीं हुआ। वह इसलिए नहीं कि आर्य समाज कोई साधारण आन्दोलन था। वरन् इसलिए कि वह प्रचारात्मक आन्दोलन होने की वजह से गद्य की उन्नति के लिये अधिक अनुकूल था। काव्य-क्षेत्र में आर्य समाजी कवि केवल गो-रक्षा, विधवा-विवाह आदि पर भीड़ को ख़ुश करने वाले अकलात्मक भजन, लावनी आदि लिख पाये। कला का अभाव आर्य समाज में ही नहीं, वरन् संसार के सभी सुधारवादी (Puritanical) आन्दोलनों में पाया जाता है। सुधारवादी (Puritans) कुछ तो सौन्दर्य भावना को सुख और दुःख की भावना के आश्रित समझ कर कला से दूर भागते हैं; अथवा सत् और असत् से परे भी कोई अनुभव है, इस विचार को नैतिक उद्देश्य से हीन समझ कर उसमें विश्वास नहीं करते।[1]

---

[1] डॉ० आनन्दकुमारस्वामी: Hindu View of Art: Theory of Beauty (Dance of Siva- New York. 1918), pp. 32-33.

आलाराम सन्यासी की 'गो उपमा प्रकाशक मञ्जरी' (१८९२), 'भजन गो रक्षा उपदेश मञ्जरी' (१८९२), 'भजन प्रतिमा पूजन मण्डन' (१८९४) आदि, महावीरप्रसाद नारायणसिंह की 'भगवत चरित्र चन्द्रिका' (१८८८), काशी के नाथ कवि की 'कलियुग पचीसी' (१८९५) जैसी अनेक साधारण रचनाओं को छोड़ कर इन सुधारवादी विषयों पर अलग प्रमुख और सम्पूर्ण रचनाएँ अधिक नहीं मिलतीं। भारतेन्दु की 'जैन कुतूहल' (१८७३ , और कवि शङ्करप्रसाद दीक्षित की 'विज्ञान-बोध' (१८८८) जैसी रचनाएँ बहुत कम हैं। अधिकांश में स्वतन्त्र रचनाओं में ही सामाजिक और धार्मिक विषयों से सम्बन्ध रखने वाली फुटकर रचनाएं पाई जाती हैं। उनमें जहाँ अन्य विषय हैं वहाँ सुधारों के विषय में भी कवियों ने कुछ कह दिया है। जिन समाचारपत्रों में इन विषयों की कविताएँ छपा करती थीं उनकी फ़ाइलें अप्राप्य हैं। अस्तु, इस विषय के अध्ययन का हमारे पास एक ही सहारा रह जाता है।

वास्तव में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके सहयोगी अँगरेज़ों से अच्छी-अच्छी, जैसे देशभक्ति, समाज-सेवा आदि और उन बातों के लेने के पक्षपाती थे जिनसे देश अधोगति के गर्त से निकल कर उन्नति-पथ की ओर गतिमान् हो सकता था और साथ ही जो बातें भारतीय चिंता-पद्धति और जीवन में खप सकती थीं। उदाहरणार्थ, निज भाषा-ज्ञान और महत्व पर ज़ोर देते हुए भारतेन्दु कहते हैं कि यद्यपि अँगरेज़ी पढ़ने से अनेक गुण प्राप्त होते हैं किन्तु उनका अपनी भाषा द्वारा प्रचार करने से ही कल्याण हो सकता है। घर में अपनी स्त्रियों को लोग उस समय अँगरेज़ी नहीं पढ़ाते थे। गुरुजनों से शिक्षा प्राप्त करने पर भी बालकों की प्रधान शिक्षिका माता ही रहती है। उस माता के ज्ञान के लिए हिन्दी भाषा परमावश्यक थी। अँगरेज़ी शिक्षित और निज-भाषा-ज्ञान-विहीन व्यक्ति घर से बाहर तो अपनी ज्ञान जमा लेते थे किन्तु घर के व्यवहार में वे निपट अज्ञानी बने रहते थे। या तो 'पतलून पहिन कर साहब बन जाते थे' या मौलवी साहब। इससे अपनी स्त्रियों का भला न कर पाते थे। पतिदेव यदि 'देहरा' पूजते तो स्त्री 'भूत' पूजती थी। इसी से जब तक घर-घर में स्त्री और पुरुष 'विद्या-बुद्धि-निधान' न बन जाते थे तब तक उन्नति की कोई आशा नहीं थी।

कुछ प्रतिक्रियावादी और पुराणपंथी कवियों को छोड़कर भारतेन्दु तथा समय की गति समझने वाले अन्य कवि चाहते थे कि ज्ञान-विज्ञान के प्रकाश में अति का परित्याग कर मध्यम मार्ग ग्रहण करते और साथ ही भारतीयता

को बनाए रखते हुए देश राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक, औद्योगिक आदि समस्त क्षेत्रों में उन्नति प्राप्त करे। उनका यही दृष्टिकोण स्वयं भारतीय सुधारवादी आंदोलनों के प्रति था। वे सामाजिक और धार्मिक सुधार चाहते थे, किन्तु अति का परित्याग करते हुए और पश्चिम के चकाचौंध से बच कर भारतीयता की रक्षा करते हुए। क्योंकि वे संगठन और ऐक्य चाहते थे इसलिए अनेक नवीन और सुधारवादी आंदोलन उन्हें पसन्द न थे। उन्हें पूर्ण विश्वास था कि आर्य समाज और ब्राह्म समाज द्वारा तीर्थ-स्थानों, पुराणों, मूर्ति-पूजा आदि के खण्डन से देश का कल्याण नहीं हो सकता। उससे मतैक्य के स्थान पर मत-पार्थक्य और अराजकता का प्रचार होगा। लकीर के फ़कीर भी वे बनना नहीं चाहते थे। प्रत्येक कार्य में विवेक और समाज-हित का उन्होंने सदा ध्यान रक्खा। काल की गति से जो भावनाएँ और संस्थाएँ विकृत हो गई थीं उनका भारत और हिन्दुत्व के नाते बुद्धि-पूर्वक पुनर्निर्माण करना उनका ध्येय था। इसीलिए तो अयोध्या सिंह उपाध्याय ने 'ब्राह्मो समाज आरज समाज मत वालों' को यूरोप के ढँग पर बात करने और कलह फूट फैलाने वाले कहा है। विभिन्न मतों को वे रही-सही जातीयता नष्ट करने वाले, रस में विष घोलने वाले और अपनी मर्यादा नष्ट करने वाले समझते हैं। उन्होंने बड़े ज़ोर के साथ कहा है कि 'हिन्दू रह कर ही भारत के रहते हैं', अन्यथा नहीं। यही रुख अन्य कवियों का भी पाया जाता है। मतों की विविधता और विभिन्नता को वे भारतीय पतन का एक प्रधान कारण मानते थे। अतएव परम्परागत सनातन धर्म में ही काल और परिस्थिति के अनुसार सुधार करने के वे पक्षपाती थे। वे देवी-देवताओं, भूत-प्रेतों की पूजा के विरोधी थे। इनके स्थान पर वे विशुद्ध ईश्वर-ज्ञान का उपदेश देते थे। साथ ही प्राचीन सनातन धर्म के प्रति आर्य समाज की भावना का भी वे ज़ोरदार शब्दों में खण्डन करते थे। सबसे बड़ा दुःख उनको यह था कि 'सब विधि निजता तजि जन समाज सुख सोयो'। पुरातनत्व से एकदम सम्बन्ध न तोड़ कर वे समाज के क्रमिक विकास में विश्वास रखते थे। इस विकास की जड़ भी वे भारत-भूमि में ही रखना चाहते थे। अँगरेज़ी शिक्षितों की सामाजिक और धार्मिक अभारतीयता तो उन्हें बिलकुल न सुहाती थी। भारतेन्दु के शब्दों में :

'भारत में एहि समय भई है सब कुछ बिनहिं प्रमान हो दुइ-रंगी।
आधे पुराने पुरानहि मानें आधे भए किरिस्तान हो दुइ-रंगी।।

क्या तो गदहा को चना चढ़ावैं कि होइ दयानन्द जायँ हो दुइ-रंगी।
क्या तो पढ़ैं कैथी कोठिवलयै कि होइ बरिस्टर धाय हो दुइ-रंगी ॥
एही से भारत नाश भया सब जहाँ तहाँ यही हाल हो दुइ- रंगी।
होउ एक मत भाई सबै अब छोड़हु चाल कुचाल हो दुइ-रंगी ॥'[1]

वास्तव में जो ध्येय उग्रवादियों का था वही ध्येय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का भी था। किन्तु वे उस ध्येय तक एकदम वेगपूर्वक न पहुँच कर धीरे-धीरे-पहुँचना चाहते थे। वैसे भी भारतीय सभ्यता के इतिहास में यहाँ के धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तन देखने में नहीं आते। प्राचीन और नवीन का संसर्ग होने पर यहाँ नवीन प्राचीन को प्रभावित कर प्राचीन में मिलते और फलतः प्राचीन को एक नवीन रूप धारण करते देखा गया है। विकासवाद का यही सिद्धान्त भारत की सामाजिक एवं धार्मिक प्रगति का आधार रहा है। भारतेन्दु भी इसी प्रगति-क्रम का अनुगमन करना चाहते थे, और इसीलिए वे उग्रवादियों से सहमत न हो पाते थे, फिर वे चाहे प्राचीन धर्म का ढोंग रचने वाले कूपमण्डूक ब्राह्मण हों या आर्यसमाजी, ब्राह्मसमाजी हों या ईसाइयत का दम भरनेवाले नवशिक्षित भारतीय। सच्चे और वास्तविक हिन्दू धर्म की पुनर्स्थापना ही उनका मुख्य ध्येय था। आलोच्य काल के कवियों की प्रार्थना है :

'हिय सों नाथ न बीसरै कबहु राम को राज।
हिन्दूपन पै दृढ़ रहै निस दिन हिन्दु समाज ॥'[2]

'अब मात दया कर देहु बर, लगी रहैं तुम्हरे चरन।
हिय सों न बिसारहि हम कबहुँ अपनो साँचो हिन्दुपन ॥'[3]

'सांचो हिन्दुपन' शब्द ध्यान देने योग्य हैं।

भाषा और समाज का अटूट सम्बन्ध है। आलोच्य काल में भाषा की समस्या भी राष्ट्रीय आन्दोलन का एक भाग थी। अदालत की भाषा उर्दू हो

---

[1] 'वर्षा-विनोद' (१८८०), भा० ग्रं० द्वि०, ना० प्र० स०, ४२, पृ० ५००-५०१। साथ ही 'हरिश्चंद्र-चन्द्रिका', खण्ड ६, संख्या १२-१३, जून-जुलाई, १८७६ में प्रकाशित भारतेंदु का 'दयानंद सरस्वती' शीर्षक लेख भी देखिए।

[2] बालमुकुंद गुप्त : 'श्रीराम-स्तोत्र' (१८६६), पृ० ६

[3] ,, ,, : 'लक्ष्मी-स्तोत्र' (१८६७), पृ० २४

चुकी थी। जीविका-निर्वाह के लिए लोगों ने उर्दू पढ़ना-लिखना सीखा और उर्दू साहित्य का मनन किया। सरकार की इस नीति से हिन्दी की उन्नति के मार्ग में एक रोड़ा अटक गया। हिन्दी-भाषियों की संख्या देश में सबसे अधिक रही है। थोड़े-बहुत भेद के साथ वह देश भर में समझी और बोली जाती थी और अब भी वह राष्ट्रभाषा बनी हुई है। इस सार्वदेशिक महत्ता के कारण हिन्दी को राजकीय कार्यों में प्रमुख स्थान मिलना चाहिए था। परन्तु उसे राज्याश्रय प्राप्त न हुआ। इतने पर भी हिन्दी भाषा और साहित्य ने जो उन्नति की है वह उसकी सजीवता की परिचायक है। अँगरेज़ी शिक्षित समुदाय के जन्म से एक और गड़बड़ी उपस्थित हो गई। अँगरेज़ी भाषा शिक्षा का माध्यम थी और अँगरेज़ी साहित्य का अध्ययन बढ़ता जाता था। इससे एक तो भाषा-साहित्य का पठन-पाठन कम हो गया। दूसरे सरकारी नौकरी ढूँढ़ने वाले अपनी भाषा और साहित्य की ओर से उदासीन हो गये। बहुतेरे तो उसे घृणा की दृष्टि से देखने लगे। अस्तु, हिन्दी पर उर्दूपरस्त और अँगरेज़ीदाँ दोनों की कोपदृष्टि थी। हिन्दी-प्रेमी भला अपने घर में यह अपमान कैसे सह सकते थे। मातृभाषा के अनादर से उनके आत्मसम्मान को ठेस पहुँची। सभी राष्ट्रप्रेमियों ने सरकारी नीति का विरोध किया। और वैसे तो भाषा-सम्बन्धी आन्दोलन बहुत पहले ही शुरू हो गया था। परन्तु १८७४ से, जब कि भारतेन्दु ने 'उर्दू का स्यापा' शीर्षक कविता लिखी थी, इस आन्दोलन ने उग्र रूप धारण कर लिया। १८७७ में उन्होंने हिन्दीवर्द्धिनी सभा, प्रयाग की अध्यक्षता में हिन्दी की उन्नति पर पद्य में एक महत्त्वपूर्ण भाषण दिया—'हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान'। मातृभाषा के द्वारा देश और समाज का कल्याण हो सकता था। अँगरेज़ी पढ़ने से अनेक लाभ थे। किंतु उनका प्रचार मातृभाषा के द्वारा ही हो सकता था। स्त्री-शिक्षा का कार्य भी निज भाषा-उन्नति के बिना पूर्ण नहीं हो सकता था। जिस प्रकार अँगरेज़ों ने अनेकानेक विद्याओं और ज्ञान के ग्रन्थ अपनी भाषा में निर्मित तथा दूसरी भाषाओं से अनूदित कर अपनी उन्नति की उसी प्रकार भारतवासियों को उनका अनुकरण करना चाहिए। अँगरेज़ी भाषा में अनेक त्रुटियाँ हैं, किंतु अपनी भाषा जानकर अँगरेज़ उसे नहीं छोड़ते। उसी प्रकार भारतवासियों को अपनी भाषा नहीं छोड़नी चाहिए। प्रत्येक स्थान से गुण ग्रहण कर ही अँगरेज़ 'विद्या के भौन' बने हुए थे। भारतवासियों को भी जो कुछ वे विदेशी भाषा में पढ़ें उसे अपनी भाषा में किए बिना कृतकृत्य नहीं समझना चाहिए। अँगरेज़ तो तुलसीकृत रामायण का आशय भी अपनी

भाषा में किए बिना सन्तुष्ट न हुए। संस्कृत के ज्ञान-भण्डार से लोग मातृभाषा के माध्यम द्वारा ही लाभ उठा सकते थे। तारों से खबरें किस प्रकार आती हैं, रेल किस प्रकार चलती है, मशीन किसे कहते हैं, तोप किस तरह चलती है, कपड़ा किस तरह बनता है, काग़ज़ किस विधि से तैयार होता है, क़वायद किस तरह की जाती है, बाँध कैसे बाँधे जाते हैं, फ़ोटोग्राफ़ी किस प्रकार होती है आदि इन सब बातों का ज्ञान अँगरेज़ी भाषा के माध्यम द्वारा प्राप्त हो सकता था। इसी ज्ञान के अभाव में आर्यगण का दिन-दिन पतन होता जा रहा था। इसी अभाव के कारण विदेशी कपड़े तथा अन्य वस्तुओं का प्रचार होता जा रहा था जिससे देश की निर्धनता बढ़ रही थी। यदि यह ज्ञान, जिस प्रकार अँगरेज़ी में था, अपनी भाषा में भी होता तो शिक्षा का प्रचार होता, देश का धन बचता, लोग राजनीति, अपने देश के आचार-विचार, शिष्टाचार आदि बातें सीखते। वे अपना धर्म पहिचानते। इसलिए भारतेन्दु ने दूसरों के अधीन रहना छोड़कर औरों की भाँति अपनी भाषा द्वारा अपनी उन्नति करने के लिए प्रोत्साहन दिया। अँगरेज़ी ही नहीं संस्कृत, अरबी और फ़ारसी के खुले खजानों से लूट मचाकर निज भाषा भण्डार भरने के वे पक्षपाती थे। वे चाहते थे कि विविध विषयों की छोटी-बड़ी किताबें रची जायँ और बाल, वृद्ध, नर-नारी सब ज्ञान-सम्पन्न हों और भारत में फिर से सुप्रभात हो। इस संबंध में उन्होंने अँगरेज़ों से ही शिक्षा ग्रहण की थी। मातृभाषा का पक्ष ग्रहण कर सरकारी नीति का वे बराबर विरोध करते रहे। राजा शिवप्रसाद अफ़सरों को खुश करने के लिए अपनी भाषा का गला घोंट सकते थे। किंतु भारतेन्दु ऐसा कदापि न कर सकते थे। उनके बाद प्रतापनारायण मिश्र : 'तृप्यन्ताम्' (१८६१); राधाकृष्ण-दास : 'मैकडॉनेल पुष्पाञ्जलि' (१८६७); महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'नागरी! तेरी यह दशा!!' (१८६८), 'आशा' (१८६८), 'प्रार्थना' (१८६८); 'नागरी का विनयपत्र' (१८६६) और 'कृतज्ञता-प्रकाश' (१६००); बालमुकुन्द गुप्त : 'उर्दू को उत्तर' (१६००); श्यामबिहारी और शुकदेवबिहारी मिश्र : 'हिन्दी अपील' (१६००), तथा अन्य अनेक कवि, जैसे पण्डित गौरीदत्त, पण्डित मोहनराय, दीनानाथ पाठकी, पण्डित हरदेवसहाय, दीनदयाल, घासीराम, महेशदत्त, मौलवी बाक़रअली, मिर्ज़ा साहब[1] आदि

---

[1]देखिए, पं० गौरीदत्त द्वारा सम्पादित 'देवनागरी की पुकार' (१८८१)। 'काव्य मञ्जूषा' (१६०१) में महावीरप्रसाद द्विवेदी कृत 'प्रार्थना' की तिथि १२ नवंबर, १८६८ दी है।

मातृभाषा का पक्ष ग्रहण कर सरकार की नीति का बराबर विरोध करते रहे। पश्चिमोत्तर प्रदेश और अवध में यह आन्दोलन बहुत ज़ोरों पर था। प्रायः सभी ने उर्दू भाषा और लिपि की त्रुटियाँ बताई हैं। विदेशी जामा पहने हुए होने के कारण कोई भी राष्ट्रप्रेमी उसको ग्रहण नहीं कर सकता था। और सच पूछा जाय तो हिन्दी-उर्दू का झगड़ा सांस्कृतिक, और भारतवर्ष को अपना देश मानने या न मानने पर है। उर्दू को ज़बर्दस्ती हिन्दियों के गले उतारते देखकर राष्ट्रप्रेमियों का विचलित हो जाना स्वाभाविक ही था। इसीलिए समस्त हिन्दी-प्रेमियों ने डॉ० हंटर के पास प्रार्थनापत्र भेजे थे कि हिन्दी का छीना हुआ पद उसे फिर वापिस दे दिया जाय।

इन कवियों की रचनाओं से साफ़ ज़ाहिर होता है कि हिन्दी और हिन्दी-भाषियों के साथ वास्तव में ज़्यादती की गई थी और उसका उन्हें सच्चा दुःख था। बालमुकुन्द गुप्त की 'उर्दू को उत्तर' शीर्षक कविता में व्यंग्य से भरा हुआ उर्दू को मुँहतोड़ उत्तर है। प्रतापनारायण मिश्र की 'तृप्यन्ताम्' में तीक्ष्ण व्यंग्यपूर्ण और 'मन की लहर' में दुःखभरी बातें सुनकर उर्दूपरस्त शर्म से अपना सिर नीचा किये बिना न रह सकेंगे। और फिर देखा जाय तो उनका उर्दू से कुछ झगड़ा नहीं था। वह जैसी थी उसके वैसी बनी रहने में उनको कोई आपत्ति नहीं थी। वे तो सिर्फ़ यह चाहते थे कि बहुसंख्यक जनता की भाषा होने की वजह से हिन्दी को उसका अधिकार दे दिया जावे। इस सम्बन्ध में उन्होंने अपने मनोभाव दो तरह से प्रकट किये हैं। पहले, उन्होंने उर्दू भाषा की त्रुटियाँ और उसके कुप्रभाव दिखाए हैं। और दूसरे, हिन्दी के दुर्भाग्य पर आँसू बहाए हैं :

'पेट काज सब लोग सिखहि उरदू अँगरेजी।
याते तिन मैं होत तिनहिं की ऐसी तेजी॥
चाहत तेरी ओर लाज तिनको बहु लागत।
हिय मैं पीर न तनिक होत तेरो हित त्यागत॥
हम आँखिन है लख्यो ऐसहू लोगन काहीं।
जो लखि हिन्दी लेख महा आकुल ह्वै जाहीं॥
फारि फूरि कै तुरत देहिं ताको महि डारी।
पै हिन्दू सन्तान होन के बर अधिकारी॥
देसनिवासिन की गति ऐसी परत लखाई।
दया जोग सरकार को न तू परी जनाई॥

ऐसे असमय माहिं अहैं जो बचे बचाये।
इनेगिने द्वै चार हितू तेरो जस छाये ॥

× × ×

अबहीं तो भारत सुधार कछु होन न पायो।
कलह फूट अरु बैर अहै चहुँ दिस बहु छायो ॥
हित अनहित नहिं समझि सकहिं अँगरेजी वारे।
पै संसोधन काज भये डोलहिं मतवारे ॥'....[1]

एक और कवि का कथन है :

'कहीं का ईंट कहीं का रोड़ा इस उर्दू ने कुनबा जोड़ा।
लूट मार के भई अमीर मुफ्त दीन के मारे तीर ॥
है कोई ऐसा राजा बाबू सत्य-सत्य जतलावेगा ॥
मेरा घर छीना उर्दू ने फिर मुझको दिलवावेगा।
इस उर्दू ने घाले घर, इश्क-इश्क कर डूबे नर ॥
बहार दानिश की पढ़ी किताब, इसको पढ़कर बने नवाब ॥
है कोई ऐसा राजा बाबू...
मेरा घर छीना उर्दू ...
चटक मटक उर्दू सिखलावे, लपक झपक उर्दू बतलावे।
जिसकी उर्दू हो गई यार, धर्म कर्म का नहीं विचार ॥
है कोई ऐसा राजा बाबू...'[2]

राय रामगुलाम कहते हैं :

'उर्दू पढ़ि लोगन करी देश की ख्वारी।
की हाय मसनवी मीर हसन की जारी ॥
पढ़ २ के जुलैखा बहार दानिश सारी।
पुरुषार्थ का मूल नसाय भये सब नारी ॥
उर्दू पढ़ हुये निलज्ज लाज नहि आती।
अब देश दुर्दशा देख फटत है छाती।
लड़कों को पढ़ाकर इन्दर सभा नचाते।
पाछे से लगावें ताल न हिया शरमाते ॥

---

[1]उदाहरण के लिये देखिए, अयोध्यासिंह उपाध्याय : 'शोकाश्रु' ('काव्योपवन', १९०९, पृ० १३१)।

[2]पं० गौरीदत्त : 'देवनागरी की पुकार', पृ० ६ से उद्धृत

सब भांति मूर्ख उनका पुरुषार्थ घटाते ।
अपने अरु उनके ऊपर पाप मढ़ाते ॥
हा दई मूर्खता छई न देखी जाती ।
अब देश दुर्दशा देख फटत है छाती ॥
अब शीघ्र यत्न करिये मलिका महरानी ।
हो रही सबै विधि हाय भरत की हानी ॥
कर जोड़े राम गुलाम विनय है सारी ।
भारत की नैया डूबत लेहु उबारी ॥
दिन २ अब छीजत जात भारत हर बाती ।
अब देश दुर्दशा देख फटत है छाती ॥'[1]

भारतेन्दु ने अत्यंत दुःख के साथ कहा है :

'भाषा भई उर्दू जग की अब तो इन ग्रंथन नीर डुबाइये ॥'

परन्तु इतने पर भी हिन्दी-भाषियों में आशा का सञ्चार कम नहीं हुआ था :

'कल्याणि ! नागरि ! इती बिनती सुनीजै
माता ! दयावति ! दया न कमी करीजै ।
ह्वैजै अधीर जनि, यद्यपि होति देरी
सेवा अवश्य करिहैं अब सर्व तेरी ॥२०॥

× × ×

'अहो देवि आशे ! प्रशंसा तिहारी
सकै कै यथावत् न जिह्वा हमारी ।
मही मण्डल व्योम पाताल माहीं
कहां शक्ति न व्याप्त तेरी सदा हीं !

× × ×

'गुणग्राम की आगरी नागरी है
प्रजा की जु सन्मान जो जागरी है ।
मिलै ताहि राजाश्रय क्षेमकारी
यही पूरियो एक आशा हमारी ॥२१'[2]

---

[1]राय राम गुलाम । 'सद्धर्मरत्नमाला' (१८८६), पृ० ११-१४.
[2]महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'नागरी ! तेरी यह दशा !!' (१८९८)

भीषण उद्योग और आन्दोलन के फलस्वरूप पश्चिमोत्तर प्रदेश के लेफ्टिनेंट-गवर्नर सर ऐंटनी मैकडॉनेल ने अदालत में नागरी-प्रवेश की घोषणा प्रकाशित की। लाट साहब के इस कार्य की सभी हिन्दी-प्रेमियों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है :

'धन मेकडानेल लाट प्रजा के दुःख निवारे।
कचहरिया लीला सों सब के प्रान उबारे॥
धन उनइस सौ सन धन धन यह मास एपरिल।
धन तारीख अठारह जन-हिय-कमल गए खिल॥
जब लौं हिंदू हिंदी रहै यह शुभ दिन न बिसारिहैं।
मेकडानेल नाम पवित्र यह नित सादर उच्चारिहैं॥'[1]

परन्तु व्यावहारिक रूप में उनका घोषणा-पत्र नहीं के बराबर रहा है।

अब तक हिन्दी काव्य में संस्कृत की प्रणाली पर प्रकृति-वर्णन होता आ रहा था। परन्तु हिन्दी कवियों में उसकी विशेषताएँ नहीं पाई जातीं। उन्होंने संस्कृत के पिछले कवियों के अनुकरण पर शृङ्गार के अन्तर्गत केवल उद्दीपन की दृष्टि से प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों का उल्लेख किया है। घुमा-फिरा कर सब कवियों ने कुछ प्राकृतिक वस्तुओं के नाम भर गिना दिये हैं। उससे न तो प्रकृति के प्रति कवि के भावों का पता चलता है और न पाठक के सामने प्रस्तुत दृश्य स्पष्ट ही हो पाता है। उनका प्रकृति-वर्णन राजमहलों के बागों और उपवनों तक सीमित है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र मानव-प्रकृति के कवि थे। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल का कहना ठीक है कि प्रकृति की ओर उनका ध्यान आकृष्ट न हो सका। उनकी रचनाओं में जो प्रकृति-वर्णन मिलते हैं वे केवल परम्परा का पालन मात्र हैं। उनमें उनका हृदय स्पष्ट नहीं झलकता। परन्तु हिन्दी काव्य की नई धारा के विकास के साथ कवियों का प्रकृति-वर्णन भी कुछ स्वाभाविक हो चला था। अब वे नायक-नायिकाओं के सुख-दुःख में रँग कर प्राकृतिक वस्तुओं के नाम भर नहीं गिनाते थे। उन्होंने प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण कर उसका अत्यन्त सुन्दर उद्घाटन किया है। प्रकृति-वर्णन का यह स्वतन्त्र रूप बालमुकुन्द गुप्त, प्रतापनारायण मिश्र, ठाकुर जगमोहन सिंह आदि कवियों की रचनाओं में पाया जाता है। परन्तु श्रीधर पाठक की रचनाओं में उसके विशेष रूप से दर्शन होते हैं। उनकी 'वसन्तागमन'

---

[1] राधाकृष्णदास : 'मेकडानेल पुष्पांजलि' (१८६७)

(१८८१), 'वसन्त राज्य' (१८८१), 'वसन्त' (१८८३), 'हिमालय' (१८८४), 'मेघागमन' (१८८५), 'सरस वसन्त' (१८८५), 'धनाष्टक' (१८८६), 'हेमन्त' (१८८७), 'शरदसमागत स्वागत' (१८९९), 'घनविजय' (१८९९), 'गुणवन्त हेमन्त' (१९००), 'नव वसन्त' (१९००) जैसी कविताओं में अत्यन्त सुन्दर प्राकृतिक दृश्य-विधान मिलता है, जैसे,

'उज्जल ऊँचे सिखर दूर देसन लों चमकत
परत भानु-नव-किरन प्रात सुवरन सम दमकत
लता पुहुप बनराजि, सदा ऋतुराज सुहावत
हरी भरी डहडही वृच्छ-माला मन भावत
कोकिल कीर कदम्ब, अम्ब चढ़ि गान सुनावत
स्याम चारु सुगीत मधुर सुर पुनि पुनि गावत
कहुँ हारीत कपोत कहूं मैना लखि परियत
कहुँ खेचर वर चकोर के दरसन करियत
देवदार की डार कहूं लंगूर हिलावत
कहुं मर्कट कौ कटक वेग सों तरु-तरु धावत
विकसित नित नव कुसुम तरुन तरु मुकुलित बौरत
अलबेले अरिवृन्द, कठिन के ढिग ढिग भौरत
झरना जहं तहं झरत करत कल छर छर जलरव,
पियत जीव सो अम्बु, अमृत-उपमा हिम सम्भव
पवन सीत अति सुखद, बुझावत बहु विधि-तापा
बादर दरसत, परसत, बरसत, आपहि आपा।'[1]

अथवा

'बीता कातिक मास शरद का अन्त है
लगा सकल-सुख-दायक ऋतु हेमन्त है
ज्वार बाजरा आदि कभी के कट गये
खल्यान के काम से किसान निबट गये
थोड़े दिन को बैल परिश्रम से थमे
रब्बी के लहलहे नये अंकुर जमे
ज़मींदार को मिली उगाही खेत की
मूल ब्याज सब दैन महाजन की चुकी

[1]श्रीधर पाठक : 'हिमालय'

उसके घर आनन्द हर्ष सुख मच रहा
जिनको कुछ नहीं बचा, काम को टो रहे
क़िस्मत को दे दोष बैठ घर रो रहे
खाने भर को जिस किसान को बच रहा
खरीफ़ के खेतों में अब सुनसान है
रब्बी के ऊपर किसान का ध्यान है
जहां तहां रहट परोहे चल रहे
बरहे जल के चारों ओर निकल रहे
जौ गेंहूं के खेत सरस सरसों घनी
दिन दिन बढ़ने लगी विपुल शोभा सनी
सुघर सौंफ सुन्दर कसूम की क्यारियां
सोआ, पालक, आदि विविध-तरकारियां
अपने अपने ठौर सभी ये सोहते
सुन्दर शोभा से सबका मन मोहते....."[1]

ऐसे वर्णनों में प्रकृति का सूक्ष्म और सुन्दर निरीक्षण पाया जाता है। कवि मानव को भी प्रकृति का अङ्ग मान कर आगे बढ़े हैं। शृङ्गारी कवियों का प्राकृतिक वस्तु-ज्ञान किताबी और परम्परानुगत था। उपर्युक्त जैसे वर्णन सीधे और सुन्दर हैं। उनमें उपमा और उत्प्रेक्षा की भरमार से प्राकृतिक दृश्य अस्पष्ट नहीं हो गया। संस्कृत और अँगरेज़ी काव्य के अध्ययन के फलस्वरूप हिन्दी कवियों ने इस ओर ध्यान देना आरम्भ कर दिया था। श्रीधर पाठक पर गोल्डस्मिथ की 'हरमिट' (Hermit) और 'डेज़रटेड विलेज' (Deserted Village) में दिये गये प्रकृति-वर्णन का बहुत प्रभाव पड़ा है। और यद्यपि उनकी 'मेघागमन' जैसी कुछ रचनाओं से प्रकृति-वर्णन के भीतर छिपी हुई उनकी भावनाओं और उनके निजी व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ता है, जो स्पष्टतः यूरोपीय प्रभाव है, तो भी उनके वर्णन संस्कृत के प्राचीन कवियों की प्रणाली पर प्रकृति के स्वतन्त्र रूप का दर्शन ही अधिकतर कराते हैं और शृङ्गारी कवियों की परम्परानुगत शुष्क और नीरस वस्तु-गणना मात्र से बहुत परे हैं। गोल्डस्मिथ की शैली पर प्रकृति-वर्णन में उन्होंने मानव-अनुभूतियों का भी ध्यान रक्खा है। 'मेघागमन' में मेघों का वर्णन करते समय वे बाल-विधवा के मन के भावों को नहीं भूले :

---

[1] श्रीधर पाठक : 'हेमन्त' ('मनोविनोद', १९१७ सं०, पृ० ७४-७५)।

'नाना कृपाण निज पाणि लिये—वपुनील वसन परिधान किये
गम्भीर घोर अभिमान हिये—छकि पारिजात मधुपान किये
छिन-छिन निज जोर मरोर दिखावत
पलपल पर आकृति कोर झुकावत
बनराह बाट श्यामता चढ़ावत
वैधव्य बाल बामता बढ़ावत
यह मोर नचावत, शोर मचावत, श्वेत-श्वेत बगपांति उड़ावत
सीतल सुगंध, सुन्दर अमंद, नन्दन प्रसून मकरन्द बिन्द
मिश्रित समीर बिन धीर चलावत
अँधियार रात, हाथ न दिखात, बिन नाथ बाल बिधवा डरात
तिन के मन मंदिर आग लगावत
छिन गर्जि-गर्जि पुनि लर्जि-लर्जि, निज सेन सिखावत तर्जितर्जि
दुन्दुभी घर्षाण आकाश लचावत
मल्लार राग गावत विहाग, रस प्रेम पाग, अहो धन्य भाग
सुख पावत आवत मेह महावत'

इस प्रकार आलोच्य-काल में हिन्दी के प्रकृति-वर्णन का फिर से संस्कार होने का पता चलता है।

प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण और सुन्दर दृश्य-विधान के साथ-साथ कविता की नवीन धारा में वर्णनात्मक शक्ति का भी अच्छा परिचय मिलता है। जिस प्रकार एक चित्रकार किसी वनस्थली का सुन्दर चित्रण करता है, उसी प्रकार इन कवियों ने वनस्थली के या अन्य वर्णन बड़े सच्चे और सुन्दर रूप में किये हैं, जैसे,

'कोसों तक का जंगल है और हरी घास लहराती है।
हरियाली ही दीप पड़ै है दृष्ट जहां तक जाती है॥
कहीं लगी है झड़बेरी और कहीं उगी है ग्वार।
कहीं खड़ा है मोठ बाजरा कहीं घनी सी ज्वार॥
कहीं पै सरसों की क्यारी है कहीं कपास के खेत घने।
जिसमें निकलें मनों बिनौले अथवा घड़ियों खली बने॥
मूंग मोंठ की पड़ी पतोरन और चने का खार।
कहीं पड़े चौले के डंठल कहीं उड़द का न्यार॥
कहीं सैंकड़ों मन भूसा है कहीं पे रक्खी सानी है।

कच्चे तालाबों में आधा कीचड़ आधा पानी है ॥
धरी है वां भीगे दाने से भरी सैकड़ों नांद ।
करते हैं भैंसे और भैंसें उछल कूद और फांद ॥'[१]

इसी प्रकार एक साधारण सी बात का कवि इस प्रकार वर्णन करता है :

'क्या ज़ोर जुल्म जालिम बृजराज तेरे बंदर ॥
शैहतान सबसे आला हैं मधुपुरी के बंदर ॥१॥
पगड़ी उतार टोपी कपड़ों को फाड़ते हैं ॥
बासन वनात पोथी बटूआ कौं दौड़ते हैं ॥
कर खूब ज़ोर दस्ती होते हैं घर के अन्दर ॥ क्या० २
एक नाज़नी मकां पर सोती पलंग् बिछायैं ॥
बेहोश थी विचारी जिसको न कुछ भी भायैं ॥
वाली उतार भागे हल्ला हूआ इकंदर ॥ क्या० ३
गर दस्त देखैं खाना खाने पे टूटते हैं ॥
हाकिम हजूरे वोही बाजार लूटते हैं ॥
इज्जत उतार लेवैं करते हैं होश मंदर ॥ क्या० ४
परदे को फोड़ उसकी ईटैं निकाल पटकैं ॥
छज्जे को फो उसके टोढ़े को फोड़ सटकैं ॥
छपरा बचें न खपरा वो टापरा न मन्दर ॥ क्या० ५
चाहै जिसे गिरादें हर किस्म काट खाते ॥
तौड़े हैं फल वाडि पत्ते चमन फलंदर ॥ क्या० ६
पहलै तौ इन् को तूने नवनित यार पाले ॥
रहने के मधुपुरी में अब पड़ रहे हैं लाले ॥
सुनले अरज इंनौ की छूटे न ये वतन दर ॥' क्या० ७[२]

अनेक अन्य विषयों के भी ऐसे ही वर्णन मिलते हैं। शृङ्गारी कवियों की रचनाओं में ऐसे मनोरम दृश्य कहाँ! नई धारा के कवियों के समीप समस्त जीवन-क्षेत्र काव्य का विषय बन गया था। इसीलिए उसमें स्फूर्ति है, सजीवता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि हिन्दी की काव्य-धारा पुरानी परिपाटी को छोड़ कर देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार नये

---

[१]बालमुकुन्द गुप्त : 'भैंस का स्वर्ग' ('स्फुट कविता', १९१६, पृ० १०६-१०७)।

[२]माथुर नवनीत : 'प्रेमरत्न' (१८८९), पृ० १९

क्षेत्रों और विषयों की ओर मुड़ रही थी। विषयों का चयन बिल्कुल नया है। राजनीतिक जागृति और सामाजिक एवं धार्मिक सुधारों के उत्साह की अभिव्यक्ति तथा नवीन काव्य-शक्ति के परिचय के अतिरिक्त हमें कविता के नये रूप में और भी अनेक नये-नये विषय मिलते हैं। उसमें विस्तृत दृष्टिकोण के फलस्वरूप नवीन भावों का विशेष प्राबल्य मिलता है। काव्य के इस नवीन युग के आरम्भ में ही श्रीधर पाठक की 'जगत सचाई सार' (१८८७), रत्नसहाय और वजहन कृत 'अलिफ़नामा' (१८८८) और माधवदास द्वारा उसका उत्तर 'निर्भय अद्वैत सिद्ध' (१८६६), रामचन्द्र त्रिपाठी की 'विद्या के गुण और मूर्खता के दोष'[1] शीर्षक कविता आदि रचनाओं में दार्शनिक विवेचन, भारतेन्दु कृत 'दग़ाबाज़ी का उद्योग'[2] आदि में ऐतिहासिक सत्य की खोज, श्रीनिवासदास कृत 'ब्रसेल्स की लड़ाई'[3] में अन्तर्राष्ट्रीय, राधा चरण गोस्वामी कृत 'दामिनी दूतिका' (१८८२) में वैज्ञानिक(तार) जैसे उच्च विषयों से लेकर श्रीधर पाठक कृत म्युनिसिपेलिटी-ध्यानम्' (१८८४), बालमुकुन्द गुप्त कृत 'प्लेग की भूतनी' (१८६७) और 'ज़नाने पुरुष' (१८६८), महावीरप्रसाद द्विवेदी कृत 'मांसाहारी को हंटर' (१६००)। और अयोध्या सिंह उपाध्याय कृत 'बन्दर', 'कोयल'[4] आदि जैसे हास्य और व्यंग्यपूर्ण, सरल, साधारण और बालोपयोगी कविता के आलम्बन और विषय हमारे सामने आने लगते हैं। कविगण राज-दरबारों के विलासपूर्ण वातावरण से बाहर निकल कर और काव्य की पुरानी प्रणाली छोड़कर जीवन-व्यापी भिन्न-भिन्न विषयों, व्यापारों और प्रणालियों का अनुसरण करने लगे। ऐतिहासिक और सामाजिक परिस्थितियों का उन्होंने पूरा ध्यान रक्खा है। ज्ञान-सञ्चय की प्रबल आकांक्षा लेकर वे आगे बढ़े। सत्य और नीर-क्षीर-विवेक ग्रहण कर उन्होंने देश की मानसिक प्रगति के मार्ग और उसके भावी जीवन की प्रशस्त आधार-शिला का निर्माण किया।

अन्त में यह भी सूचित कर देना आवश्यक जान पड़ता है कि कुछ रचनाओं को छोड़ कर, जिनमें स्थायित्व गुण है, आलोच्य काल में सामयिक कविताओं की ही धूम रही। कवियों ने अपनी रचनाओं में राजनीतिक और

---

[1] दे० वीरेश्वर चक्रवर्ती द्वारा सम्पादित 'साहित्य संग्रह' (१८८१)

[2] वही

[3] दे० 'इण्डियन ऐंटिक्वेरी', १९११

[4] दे० 'काव्योपवन'

सामाजिक आन्दोलनों का अधिकतर अनुसरण किया है। उनमें तत्कालीन भावों और विचारों के प्रचार का प्रबल उद्योग है। हमारे कवि स्वयं विविध आन्दोलनों में सक्रिय रूप से भाग लेते थे। फलतः उनमें कवित्व-शक्ति या काव्यानुभूति का पूरा विकास नहीं पाया जाता। और विकास के प्रथम चरण में यह संभव भी नहीं था। परन्तु इससे इस काव्य-साहित्य का महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं हो जाता। उसका महान् ऐतिहासिक महत्त्व है, उसमें नवयुग की झलक है और उसी ने काव्य को आधुनिक विचारधारा की ओर प्रवृत्त किया।

अँगरेज़ी शिक्षा का देश में प्रचार हो चुका था। हिन्दी के साहित्यिक अँगरेज़ी भाषा के ग्रन्थ पढ़-पढ़ कर हिन्दी की श्रीवृद्धि करने में लग गये। श्रीधर पाठक का नाम इस ओर विशेष आदर के साथ लिया जा सकता है। उन्होंने सोचा कि अब राधा-कृष्ण के कल्पना-संभूत विलास-वैभव की गाथा गाने के बजाय जीवन-सम्बन्धी मानव-अनुभूतियों को साहित्य में व्यक्त करना अधिक श्रेयस्कर होगा। उन्होंने स्वयं ऐसे काव्य की रचना की जिसमें नायक-नायिका की प्रेम-लीला नहीं, वरन् मानव-जाति का दुःख, दारिद्र्य, प्रेम और सहानुभूति है। हिन्दी में सुन्दर और कलापूर्ण रचनाओं का अभाव देखकर उन्होंने पाठकों के सामने ऐसी रचनाएँ रखनी चाहीं जो सरल, सुन्दर और यथार्थ जीवन का चित्रण करने वाली हों, जिनमें वे अपने हृदय की समस्त भावनाएँ देख सकें। अतः उन्होंने अँगरेज़ी के कवि गोल्डस्मिथ के 'हरमिट' (Hermit) का 'एकान्तवासी योगी' (१८८६) और 'डेज़रटेड विलेज' (Deserted Village) का 'ऊजड़ ग्राम' (१८८६) के नाम से हिन्दी में अनुवाद किया। विषय और शैली की दृष्टि से उन्होंने ये दो बड़े अच्छे नमूने हिन्दी साहित्यिकों के सामने रक्खे। अनुवाद अत्यन्त सुन्दर हुए हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने 'गड़रिया और आलिम' (१८८४), लौंगफेलो कृत 'इवंजलाइन' (Evangeline, १८८६) और पारनेल कृत 'हरमिट' (१८९५) का भी अँगरेज़ी से अनुवाद किया। वास्तव में काव्य के क्षेत्र में श्रीधर पाठक की रचनाओं में नवीन अध्ययन के फलस्वरूप उत्पन्न नवीन साहित्यिक दृष्टिकोण का सर्वोत्तम उदाहरण मिलता है। १८७६ में मानपुरा, ज़िला मुज़फ़्फ़रपुर के बाबू लक्ष्मीप्रसाद ने गोल्डस्मिथ के 'हरमिट' का खड़ीबोली में अनुवाद किया जिसे बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री ने अपने 'खड़ीबोली का पद्य' (१८८८ का लन्दन संस्करण) नामक संग्रह में बड़ी खुशी के साथ सम्मिलित किया। कवि ने कथा को भारतीय आवरण दे दिया है। १८९७ में आबू के 'विद्यारसिक'

ने ग्रे की 'एलेजी' (Elegy) का 'ग्रामस्थ-शवागार-लिखित-शोकोक्ति' के नाम से अनुवाद किया। 'रत्नाकर' ने पोप की रचना का 'समालोचनादर्श' के नाम से हिन्दी अनुवाद (१८९७ की नागरीप्रचारिणी पत्रिका में) प्रकाशित किया। ग्रे की 'एलेजी' की प्रणाली पर हिन्दी में भी शोकपूर्ण कविताएँ लिखी जाने लगीं। हरिश्चन्द्र, श्रीधर पाठक, प्रतापनारायण मिश्र और अम्बिकादत्त व्यास की मृत्यु पर क्रमशः श्रीधर पाठक, महावीरप्रसाद द्विवेदी, अयोध्या सिंह उपाध्याय और बालमुकुन्द गुप्त, और श्रीनगर के राजा कमलानन्द सिंह ने सुन्दर शोकपूर्ण कविताएँ लिखी हैं।

फ़ोर्ट विलियम कॉलेज ने हिन्दुस्तानी या उर्दू को आश्रय दिया था। १८३७ में फ़ारसी के स्थान पर उर्दू अदालती भाषा हो गई। उससे उर्दू भाषा और साहित्य की काफ़ी उन्नति हुई। लेकिन हिन्दी के लिये कुछ नई समस्याएँ पैदा हो गईं। जीविका-निर्वाह के लिये लोग उर्दू सीखने-पढ़ने लगे। उर्दू के साथ-साथ खड़ीबोली हिन्दी ने विशेष उन्नति कर ली थी और वह गद्य की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। परन्तु उसको राज्याश्रय प्राप्त न हो सका। इधर साहित्य में खड़ीबोली का प्रचार हो जाने पर भी ब्रजभाषा का आधिपत्य जमा हुआ था। साहित्य में दो-दो भाषाओं के व्यवहार से एक बड़ी भारी झंझट पैदा हो गई। दोहरी मेहनत बचाने के लिये मदरसों में लड़के हिन्दी की जगह उर्दू पढ़ने लगे। इससे हिन्दी की प्रगति को धक्का पहुँचा और भविष्य में अधिक पहुँचने की आशंका थी। भारतेन्दु के समय में जिस प्रकार साहित्य में नये-नये विषयों का प्रवेश हुआ उसी प्रकार काव्य क्षेत्र में खड़ीबोली और ब्रजभाषा का प्रश्न भी उठा। स्वयं भारतेन्दु का ध्यान इस ओर गया था और खड़ीबोली में उन्होंने कुछ कविताएँ लिखीं भी :

'कहां हो, ए हमारे राम प्यारे !
किधर तुम छोड़ मुझको सिधारे !
बुढ़ापे में य' दुख भी देखना था !
इसी के देखने को मैं बचा था !
छिपाई है कहां सुन्दर वह मूरत !
दिखा दो सांवली सी मुझको सूरत !
छिपे हो कौन से परदे में बेटा !
निकल आओ कि अब मरता है बुड्ढा।' ....

—'दशरथ विलाप'

'फागुन के दिन बीत चले अब ऋतु बसंत आई,
बदला समा चली झोंके से झकीपुरवाई।
गर्मी के आगम दिखलाये रात लगी घटने
कुहू कुहू कोयल पेड़ों पर बैठ लगी रटने।
पक चले धान, पान, पेड़ पीले, आम भी बौराने,
हुई पतझार, लगे कोंपल पत्ते फिर आने।
ठंढा पानी लगा सुहाने, आलस तन आई;
फूले सरिस फूल की खुशबू कोसों तक छाई'....

—'बसंत'

'बादल की पालैं, धुएं की जालैं छोड़े दौड़ा जाता है,
पावस नभ सागर, सब गुन आगर, जोर जहाज दिखाता है।
घन उक्ति सुहाई, कवि मन भाई, अर्थ बोजली भाती है,
जल रस बसांती, सदा सुहाती, वर्सा कविता आती है।
रंग रंग के बादल जोड़ जोड़ दल चल गरजते आते हैं,
नारंगी पीले लाल औ नीले, सावन सांझ दिखाते हैं।'...

—'बर्सात'

या

नई भाषा की कविता

'भजन करो श्री कृष्ण का मिल करके सब लोग।
सिद्ध होयगा काम औ छूटेगा सब सोग।'

उनका कहना है :

'पश्चिमोत्तर देश के कविता की भाषा ब्रजभाषा है यह निर्णीत हो चुकी है और प्राचीन काल से लोग इसी भाषा में कविता करते आते हैं....मैंने आप कई बेर परिश्रम किया कि खड़ीबोली में कविता बनाऊँ पर वह मेरे चित्तानुसार नहीं बनी इससे यह निश्चय होता है कि ब्रजभाषा ही में कविता करना उत्तम होता है और इसी से सब कविता ब्रजभाषा ही में उत्तम होती है।'

('हिन्दी भाषा', पृ० २)

अन्त में कविता लिखने के बाद वे कहते हैं :

'अब देखिए यह कैसी भौंड़ी कविता है मैंने इसका कारण सोचा कि खड़ीबोली में कविता मीठी क्यों नहीं (होती) तो मुझको सबसे बड़ा यह कारण जान पड़ा कि इसमें क्रिया इत्यादि में प्रायः दीर्घमात्रा होती हैं इससे कविता अच्छी नहीं बनती।

'आप लोगों को ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा कि कविता की भाषा निस्सन्देह ब्रजभाषा ही है और दूसरे भाषाओं की कविता इतना चित्त को नहीं पकड़ती ।'....

इसलिए व्यक्तिगत कारणों से काव्य के लिये ब्रजभाषा ही उन्हें रुची। उनका प्रभाव इतना ज़बर्दस्त था कि उनके जीवन-काल में किसी को भी उनके विरुद्ध आवाज़ उठाने का साहस न हुआ। १८६८ के लगभग से खड़ीबोली आन्दोलन शुरू हुआ मानना चाहिए।[1] लेकिन भारतेन्दु से पहले, उनके सामने और उनके बाद तक कोई भी कवि केवल खड़ीबोली का कवि नहीं कहा जा सकता। सबने काव्य में ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों का प्रयोग किया है। स्वयं भारतेन्दु ने १८७६ में उपर्युक्त पहली तीन कविताएँ लिखी थीं। उसी वर्ष बाबू लक्ष्मी प्रसाद ने खड़ीबोली में भारत की दुरवस्था पर दस छन्द लिखे और गोल्ड स्मिथ कृत 'हरमिट' का 'योगी' के नाम से अनुवाद किया। १८८१ में पटना के बाबू महेश नारायण ने 'स्वप्न' शीर्षक एक लम्बी कविता लिखी जिसमें उन्होने देशवासियों को तत्कालीन अधोगति से ऊपर उठने के लिए प्रोत्साहित और राष्ट्रीयता की ओर प्रेरित किया है। राय सोहनलाल और सत्यानन्द अग्निहोत्री ने भी खड़ीबोली में रचनाएँ कीं। १८८५ में भारतेन्दु की मृत्यु के बाद खड़ीबोली आन्दोलन ने निश्चित रूप से ज़ोर पकड़ा। १८८६ में श्रीधर पाठक ने 'एकान्तवासी योगी' की रचना खड़ीबोली में की। १८८८ में अयोध्याप्रसाद खत्री ने 'खड़ीबोली आन्दोलन' नाम की एक पुस्तिका छपवाई। १८८७-८९ में उन्होंने 'खड़ीबोली का पद्य' नामक संग्रह दो भागों में प्रकाशित किया जिसमें भारतेन्दु के साथ अन्य कवियों की विविध 'स्टाइलों' में लिखी गईं खड़ीबोली की कविताएँ हैं। बस फिर क्या था। एक ओर श्रीधर पाठक, अयोध्याप्रसाद खत्री और महावीर-प्रसाद द्विवेदी खड़ीबोली का पक्ष लेकर और दूसरी ओर प्रतापनारायण मिश्र तथा उनके अन्य साथी ब्रजभाषा का पक्ष लेकर खड़े हो गये। यद्यपि खड़ीबोली के पक्षपातियों ने ब्रजभाषा (श्रीधर पाठक कृत 'ऊजड़ ग्राम', १८८९ ब्रजभाषा में है) और ब्रजभाषा के पक्षपातियों ने खड़ीबोली (प्रताप नारायण मिश्र कृत 'सांगीत शाकुन्तल' खड़ीबोली में है) का बराबर व्यवहार किया है, तो भी दोनों ने अपने-अपने पक्ष के समर्थन म पत्रों को अपने प्रौढ़

---

[1] भारतेन्दु ने 'कालचक्र' में लिखा है कि १८७३ ई० से 'हिन्दी नये चाल में ढली'।

लेखों से हिला डाला। खड़ीबोली के पक्षपाती गद्य और कविता दोनों की भाषा एक ही भाषा—खड़ीबोली—चाहते थे, गद्य की भाषा खड़ीबोली हो ही चुकी थी। ब्रजभाषा के पक्षपाती गद्य लिखते समय खड़ीबोली का और काव्य-रचना करते समय ब्रजभाषा का प्रयोग करते थे। अयोध्याप्रसाद खत्री ने खड़ीबोली के पक्ष में बड़ा भारी आन्दोलन किया और १८८८ में 'खड़ीबोली का पद्य' नामक काव्य-संग्रह हिन्दी भाषियों के सामने रक्खा। इन दो दलों के अतिरिक्त एक तीसरा दल और था जिसके प्रतिनिधि राधाकृष्णदास थे। उनका विचार था कि खड़ीबोली और ब्रजभाषा का झगड़ा फ़िज़ूल है। विषय के अनुसार कवि जिस भाषा को उपयुक्त समझे उसी का प्रयोग करे। जो बात कवि कहे वह रसात्मक और अनूठी होनी चाहिए, भाषा कोई भी हो। उनका कहना है:

'जामें रस कछु होत है पढ़त ताहि सब कोय।
बात अनूठी चाहिए, भाषा कोऊ होय॥'

(भारतेन्दु कृत 'कर्पूर मंजरी' से)

वे तो यहाँ तक तैयार थे कि खड़ीबोली में ब्रजभाषा के उपयुक्त शब्दों और ब्रजभाषा में खड़ीबोली के उपयुक्त शब्दों का प्रयोग हो तो कोई हानि नहीं। और वास्तव में देखा जाय तो इस काल में राधाकृष्णदास का मत ही समस्त कवियों ने ग्रहण किया। उन्होंने खड़ीबोली और ब्रजभाषा दोनों में रचनाएँ की हैं और स्वतन्त्रतापूर्वक एक के शब्दों का प्रयोग दूसरे में किया है। श्रीधर पाठक, प्रतापनारायण मिश्र, 'प्रेमघन', अयोध्या सिंह उपाध्याय आदि जिन कवियों ने जब कभी भी खड़ीबोली में रचना की उसमें ब्रजभाषा-शब्दों का प्रयोग किया है। भारतेन्दु, महावीरप्रसाद द्विवेदी और 'रत्नाकर' की भाषा में यह मिश्रण प्रायः शून्य है। ब्रजभाषा जैसी प्राचीन भाषा का प्रभाव एकदम तो जानेवाला नहीं था। परन्तु यह मानी हुई बात है कि ब्रजभाषा की पूर्ववत् अखण्ड और एकछत्र राजसत्ता न रह गई थी। खड़ीबोली का प्रचार उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा था।[1] उसकी काव्योपयुक्त शक्ति का

---

[1] १९०७ में अयोध्या सिंह उपाध्याय का कहना है:

'दश वर्ष के भीतर इस प्रान्त के लोगों की रुचि में विचित्र परिवर्तन हुआ है। इस समय ब्रजभाषा का पूर्ववत् अखण्ड दोर्दण्ड प्रताप नहीं है, आज कविता-क्षेत्र में अपनी एकछत्र राजसत्ता प्रवर्तित करने में वह अक्षम है। दिन-दिन वह स्थान-च्युत हो रही है—और शनैः-शनैः उसका स्थान खड़ी-

पता श्रीधर पाठक की 'एकान्तवासी योगी' और 'जगत सचाई सार', महेश-नारायण की 'स्वप्न' और लक्ष्मीप्रसाद की 'योगी' आदि अनेक रचनाओं से लगाया जा सकता है। वह नीति-सम्बन्धी, वर्णनात्मक, करुणरस-पूर्ण आदि सभी प्रकार की काव्य-रचनाओं के उपयुक्त था। 'खड़ीबोली का पद्य' में संग्रहीत खड़ीबोली रचनाओं के विषय में हेनरी पिन्काट का कहना है: 'The pieces are, all of them, excellent in tone, and they manifest a love of nature, a reverence for sacred things, and a desire for the best interests of humanity, the whole of which affords good evidence of progress India is now making.' अपने शैशव-काल में ही खड़ीबोली काव्य ने काव्योपयुक्त गुणों और अपनी भावी शक्ति का परिचय दिया। परन्तु इस काल में खड़ीबोली का भी एकछत्र राज्य न हो पाया। यह कार्य बीसवीं शताब्दी में महावीरप्रसाद द्विवेदी के नेतृत्व में सम्पन्न हुआ। भाषा में अनेक अँगरेज़ी शब्द प्रचलित हो गये थे। देशी मुहावरों और कहावतों का भी प्रचुर प्रयोग हुआ है।

छन्दों की दृष्टि से आलोच्य काल में कविता के नए आन्दोलन के फलस्वरूप कोई विशेष महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं पाया जाता। दोहा चौपाई, कवित्त, सवैया, रोला, सोरठा, छप्पय, चौपई, मालिनी, द्रुतविलम्बित आदि मात्रिक और वर्णिक छन्दों का प्रधान रूप से प्रयोग होता रहा। किन्तु एक परिवर्तन तो यह पाया जाता है कि दोहा, चौपाई, कवित्त, सवैया, सोरठा आदि के स्थान पर कवियों ने रोला, छप्पय, अष्टपदी, लावनी[1], ग़ज़ल,

---

बोली ग्रहण करती जाती है। सामयिक पत्रों में ब्रजभाषा के उच्छेद साधन के लेख आज भी लिखे जा रहे हैं—परन्तु उसका प्रतिवाद करने वाला कहां है। एक दिन वह था जब प्रातःस्मरणीय स्वर्गीय पं० प्रतापनारायण मिश्र ने ब्रजभाषा के पक्ष पर खड़े होकर अपने प्रौढ़ लेखों से दैनिक हिन्दोस्थान पत्र और सहृदय पं० श्रीधर पाठक को हिला डाला था, परन्तु यह सब बातें अब कथानक में परिणत हो गईं, क्योंकि समय का प्रवाह ब्रजभाषा के अनुकूल नहीं है।'

[1] 'लावनी' (१८८४) के रचयिता काशीगिरि बनारसी परमहंस आशुकहकानी लावनी की उत्पत्ति के विषय में लिखते हैं:

'कोई इसको लावनी कहते हैं और कोई मरहटी वा ख्याल कहते

रेखता, और संस्कृत के छन्द द्रुतविलम्बित, शिखरिणी आदि पर अधिक ध्यान दिया और श्रीधर पाठक ने संस्कृत के अनुकरण पर अतुकान्त छन्दों का प्रयोग किया। साथ ही ईसाई पादरियों ने भी अपने कुछ गीतों में अँगरेज़ी लय के अनुकरण पर तुकों का प्रयोग नहीं किया, जैसे,

'गीत और गान

ईश्वर हम पर दया करे और हमें आशीस दे और
अपना मुख हम पर चमकावे। सिलाह। जिसमें तेरा मार्ग
पृथिवी में जाना जाय सारे गणों में तेरी मुक्ति। हे ईश्वर
जाति गण तेरी स्तुति करेंगे सारे जातिगण तेरी स्तुति करेंगे,
जातिगण आनन्दित होंगे और जय जय करेंगे क्योंकि तू
धर्म्म से लोगों का विचार करेगा और पृथिवी पर जाति गणों
की अगुआई करेगा। सिलाह।...'[1]

ऐसे गीत गिरजाघर के 'ऑरगैन' बाजे के साथ गाए जाने के लिए थे। किन्तु इस प्रकार की रचना-शैली का हिन्दी कवियों में प्रचार न हो सका। दूसरे, खड़ीबोली की 'मुशियाना स्टाइल' की कविता में उर्दू बह्रों का प्रयोग हुआ है। 'खड़ीबोली का पद्य' नामक संग्रह में ऐसी कविताओं का संकलन है जिनमें से एक का उदाहरण पीछे दिया जा चुका है। संस्कृत-छन्दों या हिंदी के प्रधान-प्रधान प्रचीन छन्दों की भाषा संस्कृत मिश्रित

हैं असल में इसका बनाना और गाना दक्षिण से उत्पन्न है और इसके दो कर्त्ता हुये एक का नाम तुकनगिर और दूसरे का नाम शाहअली था उन्होंने दो मत खड़े किये तुर्रा और कलँगी तुकनगिर तुर्रे को बड़ा कहते थे और शाहअली कलँगी को बड़ा रखते थे आपस में विवाद किया करते थे और अपना अपना पन्थ उन्होंने चलाया यहां तक कि आज ताईं उनके मतवाले बहुत से लोग इस देश में भी बनाके गाते हैं उनमें पढ़े-लिखे भी हैं परन्तु बड़ा अफ़सोस है कि गाली ही गुफ़्ता बकते हैं इस क़दर से कि आपुस में लड़ भी पड़ते हैं इसी सबब से इसको कोई भला आदमी पसन्द नहीं करता है...'

—भूमिका

फ़रवरी, १६१० के 'इण्डियन ऐंटिक्वेरी' में पण्डित रामग़रीब चौबे का 'Popular Singers in Saharanpur' पर नोट भी देखिए।

[1] 'गीतों की पुस्तक' (१८८६), पृ० ७१

तथा लावनी, रेख़ता, और उर्दू बह्रों की भाषा अरबी-फ़ारसी शब्दों से मिश्रित और उन्हीं के अनुरूप ढली हुई है। उर्दू बह्रों की लय की रक्षा के लिए शब्दों में आवश्यक परिवर्तन कर दिया गया है। संस्कृत छन्दों में समास-युक्त भाषा-शैली का भी प्रयोग हुआ है, जैसे, महावीरप्रसाद द्विवेदी कृत नागरी पर कविताएँ। साथ ही ईसाई पादरियों ने अपने कुछ गीतों में अंगरेज़ी लय के उपयुक्त भाषा-शैली का प्रयोग किया।

उपर्युक्त परिवर्तन के साथ कवित्त, सवैया जैसे कुछ पुराने छन्दों में नये भावों और विचारों का समावेश भी पाया जाता है। उनमें भी कवियों ने राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों का अनुसरण किया है। ये कविताएँ अधिकतर काशी के कवि समाज और कानपुर के रसिक समाज के अधि-वेशनों में पढ़ी जाती थीं। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :

> 'आयो बिकराल काल भारी है अकाल पर्यो पूरै नाहिं
> खर्च घर भर को कमाई में। कौन भाँति देवैं टैक्स
> इनकम लैसन औ पानी की पियाई लैटरन की सफ़ाई में ॥
> कैसे हैल्थ साहब की बात कछू कान करैं पड़े न सुसील
> भूमि पौढ़ें चारपाई में। किमि कै बचावैं स्वाँस और
> कौन ओर घुसैं सोवैं साथ चार चार एक ही रजाई में ॥'[1]

> 'बहु द्यौस सों अन्न भयो महंगो मिलै दूने औ चौगुने
> दामन में। पढ़बो लिखिबो गयो छूटि सबै लगे पेट के हेत
> जु धामन में। बरसौ बहु अन्न बढ़ै धरनी तौ लगैं सुख
> सौं तुव पामन में। सब भारत आरत ह्वै बिनवे धुरवान
> की धावन सामन में ॥'[2]

> 'द्रव्य को देखि धरा में चहूं दिसि खान खुदायो
> समस्त मही है। वायु के मण्डल तार लगाय गुब्बारो उड़ाय
> के कित्ति लही है। सोच बनायो जहाज यही अँगरेजन

---

[1] बाबू पन्नलाल : रामकृष्ण वर्मा द्वारा सम्पादित 'समस्यापूर्ति' (१८६६), दसवाँ भाग, पृ० २६

[2] 'रत्नेश' : रसिक समाज, कानपुर के द्वितीय अधिवेशन में पढ़ी गई कविताओं का संग्रह 'रसिक-वाटिका', पहली क्यारी (१८६१), पृ० ६

बीर बिचार कही है। रत्न को आकर है रत्नाकर हिन्दी
सागर बीच रही है।'[1]

'उन्नति या अँगरेजन की अरु भारत की या घटा
करिबो को। संस्कृत पारसी औ अरबी थल में अंगरेजी
डटा करिबे को। ब्राह्मन बैस औ छत्रिन की लखि
हीनता सूद्र छटा करिबे को। आप सुसील कहै मुखतें
समै ईस रच्यो है बटा करिबे को।'[2]

पहले कहा जा चुका है कि नई धारा के कवियों के सामने मुख्य कार्य साहित्य को नये-नये विषयों और क्षेत्रों को ओर मोड़ना था। भाषा की ओर उनका अधिक ध्यान नहीं गया। छन्दों का सवाल आने पर प्राचीन छन्दशास्त्र का अक्षय भाण्डार उनके सामने मौजूद था। आवश्यकता पड़ने पर वे चाहे जिस छन्द को बेखटके चुन सकते थे। यही कारण है कि इस काल में नये-नये छन्दों की उद्भावना न हो सकी।

काव्य की नई धारा के विकास की इस संक्षिप्त समीक्षा से यह प्रकट हो गया होगा कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र उसके गुरु थे। उन्होंने निश्चित और पूर्ण रूप से हिन्दी साहित्य में नवीनता को जन्म दिया। इस कार्य में उनको अपने सहयोगियों से बहुत सहायता मिली। इन कवियों की विचार-धारा ने राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक आन्दोलनों का अनुसरण किया। परन्तु आलोच्य काल में कविता की पुरानी परम्परा का ही प्राधान्य बना रहा। राधाकृष्ण की प्रेमलीला और भक्ति के घने जगल में नवीनता स्वच्छ और चमकती हुई पतली जलधारा के समान है। उसमें प्रचारात्मकता रहते हुए भी सरलता, स्पष्टता, स्वाभाविकता, हृदय की सच्ची अनुभूति, शैली की मनोहरता या आधुनिक विचारधारा की जन्मदात्री होने की दृष्टि से हिन्दी साहित्य के इतिहास में उसका स्थान सदैव ऊँचा रहेगा।

---

[1] रामकृष्ण वर्मा : उनके द्वारा संपादित 'समस्या-पूर्ति' (१८९६), पृ० ६७

[2] बाबू पत्तनलाल : रामकृष्ण वर्मा द्वारा संपादित 'समस्या पूर्ति' (१८९६), पाँचवाँ भाग, पृ० ६

उपसंहार

पीछे जो कुछ कहा गया है वह नवीन हिन्दी साहित्य की आरम्भिक कहानी है। अब तक जो कुछ लिखा जा रहा था उसमें परम्परानुगत और काव्य-शास्त्र की रूढ़ियों से ग्रस्त कविता का राज्य था। इसी सम्पदा को लेकर हम पश्चिमी दुनिया के सम्पर्क में आये थे। पहली बार हमारे साहित्य को अपने प्राचीन निर्धारित मार्ग से विचलित होना पड़ा। यह ठीक है कि कविता में अभी तक प्राचीनता का अंश ही अधिक था, लेकिन वह अंश सड़-सड़ कर गिर रहा था और उसके स्थान पर नवयुग से प्रभावित नवीन काव्य-साहित्य का निर्माण हो रहा था। कविता की बात छोड़ कर हम पाते हैं कि गद्य-साहित्य निश्चय ही नवयुग की देन थी। इस क्षेत्र में हिन्दी साहित्य ने अपनी अभूतपूर्व तीव्र गति का परिचय दिया। साथ ही क़ानूनी, वैज्ञानिक, दार्शनिक, तार्किक, धार्मिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक, यात्रा-सम्बन्धी, गणित-सम्बन्धी, शासन-प्रणाली सम्बन्धी, भाषा-शास्त्र सम्बन्धी, भूगोल सम्बन्धी, अर्थ-शास्त्र सम्बन्धी, कृषि-सम्बन्धी, दस्तकारी और कला सम्बन्धी, शिक्षा-सम्बन्धी आदि विविध प्रकार के उपयोगी साहित्य की सृष्टि हुई। संस्कृत के प्राचीन उपयोगी ग्रन्थों में से स्मृतियाँ, पुराण, आयुर्वेद, ज्योतिष, शिल्प, भाषा, आदि के हिन्दी रूपान्तर भी प्रकाशित हुए। प्राचीन ग्रन्थों के रूपान्तरों को छोड़ कर अन्य उपयोगी साहित्य उच्च कोटि का नहीं है, यह अवश्य मानना पड़ेगा। किन्तु उससे आयोच्य काल की मानसिक एवं बौद्धिक क्रियाशीलता का परिचय मिलता है। १८६८ में नागरी प्रचारिणी सभा ने एक वैज्ञानिक कोष प्रकाशित करने का कार्य भी प्रारम्भ कर दिया था। लेखकों और पाठकों का अभाव होने पर भी यह कार्य साधारण नहीं था। इन सब बातों के साथ गद्य की भाषा में अनेक परिवर्तन हुए। शब्द-कोष की वृद्धि हुई और नवीन शैलियों का आविर्भाव हुआ। जीवन की नवीन परिस्थितियों से उत्पन्न भावों और विचारों ने साहित्य में प्रवेश किया। जीवन का फिर से संस्कार किया जाने लगा। धार्मिक रूढ़ियों की जड़ हिलने लगी। मानव की सहायता और उसके प्रति सहानुभूति की प्रतिष्ठा हुई। साहित्य के चाहे जिस क्षेत्र को लीजिए उसी में परिवर्तन और नया प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता

है। लेकिन इतने पर भी यह मानना पड़ेगा कि लेखकों और कवियों ने नई दुनिया को देखा और समझा ज़रूर, पर आसानी से न छूटने वाले पुरातनत्व के मोह-वश उन्हें संदेह बना रहा। जीवन की नवीन परिस्थितियों से वे पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित न कर सके। और जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उस समय शायद यही सम्भव भी था। यही कारण है कि आलोच्यकाल में हमारा साहित्य यदि बिल्कुल पुराना नहीं है तो बिल्कुल नया भी नहीं है।

इधर बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशाब्दों में काव्य में इतिवृत्तात्मकता का प्राधान्य रहा और 'रोमांटिक' काव्य का जन्म हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के अनेक लेखक अपनी पुरानी प्रवृत्ति लेकर आधुनिक शताब्दी में अवतरित हुए। अँगरेज़ी और बँगला की प्रभावशाली और उच्च कोटि की रचनाओं के अनुवादों की ख़ूब भरमार रही। भाषा, रूप और विषय की दृष्टि से यह काल एक तरह से प्रयोगात्मक काल था। ज्ञान सञ्चय के साथ ही साथ आलोचना, नाटक, आख्यायिका, उपन्यास आदि साहित्य के अन्य रूपों का भी विविधि प्रकार से विकास हुआ।

लेकिन सन् १९१४-१८ के यूरोपीय युद्ध और विशेषतः असहयोग आन्दोलन के बाद हिन्दी साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में उसके प्राचीन रूप से नितान्त अलगाव पाया जाता है। आधुनिक युग के विचारों के प्रभाव-वश वाह्य रूप ही नहीं वरन् आन्तरिक रूप भी बदल गया है। 'लिरिक' ने अँगरेज़ी का अनुकरण किया। राजनीतिक एवं आर्थिक कारणों से कवि की भावनाएँ अन्तर्मुखी हो उठीं। फलतः समाज-हित के स्थान पर वैयक्तिकता ने स्थान ग्रहण कर लिया है। साथ ही भावुकता और असंयम की मात्रा अत्यधिक बढ़ गई है, साहित्य के लिये यह मङ्गल की बात नहीं है हाल ही में हमारे कवियों ने समाजवादी सिद्धान्तों के अनुकूल किसानों और मज़दूरों का गान आरम्भ किया है। उसमें वर्ग-युद्ध, सङ्घर्ष और असन्तोष की ध्वनि प्रधान है। उससे मालूम होता है कि आज का व्यक्ति शोषण-नीति का शिकार बन कर कितना पिस गया है। असन्तोष और सङ्घर्ष बढ़ता ही जा रहा है। इस प्रवृत्ति के साथ आशा की जाती है कि हमारे लेखकों की विश्व की पीड़ित मानवता के प्रति सहानुभूति बढ़ती ही जायगी और राजनीतिक क्रान्ति के साथ सामाजिक क्रान्ति के गीत गा कर अन्त में वे सन्तोष, सुख, स्वतन्त्रता और सामञ्जस्य की स्थापना करने में सफल हो सकेंगे। लेकिन क्या साहित्यिक मूल्य का भी ध्यान रक्खा जायगा?

परिशिष्ट

कविता

पुरानी धारा

हिन्दी साहित्य के विकास के समय हमारे पास जो पूँजी थी वह पुराने ढंग की कविता थी। कविता की यह परम्परा वीरकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल से बराबर चली आ रही थी। आलोच्य काल में उसी का प्राधान्य था। यहाँ उस पर भी संक्षेप में विचार कर लेना उचित होगा।

दूसरे अध्याय में यह दिखाया जा चुका है कि अँगरेज़ी राज्य की स्थापना के बाद देश में अनेक सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक परिवर्तन हुए। देश में एक प्रकार से शान्ति थी और देश-काल के अनुसार नई-नई परिस्थितियों का जन्म हुआ। इन परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार पुराने ढंग की कविता की आवश्यकता न रह गई थी। परन्तु ब्रिटिश नीति ने अपने हित-साधन के लिये राजाओं और ज़मींदारों वाली सामन्तवादी प्रथा को बनाये रक्खा। वहाँ प्रगति का प्रवेश मुश्किल से हो पाता था। अस्तु, इन दरबारों के आश्रित कवियों ने परिपाटीविहित रचनाओं को ही प्रधानता दी। ब्रिटिश भारत में नई धारा के तथा अन्य कवियों में भी पुराने ढंग की कविता होती रही। इस प्रकार की रचनाओं के हम दो कारण मान सकते हैं। एक तो दरबारों की अप्रगतिशील प्रवृत्ति और दूसरा साहित्यिक परम्परानुकरण। जैसे-जैसे दरबारों में नवीन प्रभाव प्रवेश करते जा रहे थे और दरबारी और अदरबारी दोनों प्रकार के कवि नवीन परिस्थितियों से सामञ्जस्य स्थापित करते जा रहे थे, पुराने ढंग की रचनाएँ भी कम होती जा रही थीं। आज बीसवीं शताब्दी में प्राचीनता से हमारा सम्बन्ध बिल्कुल टूट गया है।

पुराने ढंग की कविता पर विचार करते समय पहले हम शृङ्गार-काव्य लेंगे।

शृङ्गारात्मक रचनाओं से हमारा तात्पर्य हिन्दी की उन रचनाओं से है जो ईसा की सत्रहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी और कुछ अंशों तक बीसवीं शताब्दी तक रचित रीति और अलंकृत काव्य के अन्तर्गत आती हैं और जिनका विषय नायक-नायिका के विलासपूर्ण जीवन का चित्रण है। नायिका को प्राधान्य देकर शृङ्गारी कवियों ने उसके अंग-प्रत्यंग —नखशिख—

उसके विरह, आलिङ्गन, चुम्बन, रति आदि का जी भर कर वर्णन किया है। कामशास्त्र विषयक प्रायः सभी बातें उनमें आ जाती हैं। भारतवर्ष जैसे देश में कवियों द्वारा स्त्री के समस्त शरीर का खुल्लमखुल्ला वर्णन तथा अन्य रचनाएँ हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी के लिये एक विचित्र उलझन पैदा कर देती हैं। ग्रियर्सन महोदय ने उसका उत्तरदायित्व यहाँ की जलवायु पर रक्खा है। अन्य इतिहास-लेखकों ने कवियों के आश्रयदाताओं की कुत्सित रुचि बताकर परोक्ष रूप में सारा दोष कवियों के मत्थे मढ़ दिया है। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि समाज में ऐसी अवस्था का उदय ही क्यों हुआ और उसका उत्तरदायित्व कहाँ तक कवियों पर है। साहित्य के प्रत्येक विद्यार्थी का कर्त्तव्य है कि वह इस गम्भीर विषय पर विचार करे। यह ठीक है कि मुग़लकालीन भोग-विलास-पूर्ण दरबारी जीवन और उन दरबारों के आधीन और अनुकरण करने वाले हिन्दू राजाओं के दरबारों से उसको प्रश्रय मिला। परन्तु शृङ्गारपूर्ण रचनाओं की इतनी प्रचुरता का कारण खोजने के लिये हमें वाह्य कारणों की ओर ही न जाकर तत्कालीन समाज के मानसिक तत्व की ओर भी जाना पड़ेगा।

हिन्दी साहित्य में वीरगाथा-काल के समाप्त होने पर भक्ति की नई धारा प्रवाहित हुई। हिन्दू राजाओं का भारतीय राजनीतिक रङ्गमञ्च से लुप्तप्राय हो जाने से चारणों का अस्तित्व ही मिट गया। अब कोई कवि राजाओं का यशगान कर साहित्य का भण्डार नहीं भर रहा था। परन्तु साहित्यिक दृष्टि से यह काल अत्यन्त प्रौढ़ काल माना जाता है। इस काल के साहित्य की उत्पत्ति की कहानी भी बड़ी दिलचस्प है।

भारतवर्ष में अब तक जितने आक्रमणकारी आये थे वे प्रायः राज्यशक्ति के लालच से आये थे। उनकी शत्रुता राजा से थी न कि समाज से। वे या तो लूट मार कर अपने देश को वापिस लौट गये या बाहर निकाल दिये गये या थोड़े दिन यहीं रह कर हिन्दू समाज में मिल गये। मुसलमानों ने आकर न केवल राज्य प्राप्त किया, वरन् उन्होंने समाज से भी हाथ लगाया। लगातार धर्म पर इस प्रकार का आघात होने से भारतीय जनता का आत्म-विश्वास विचलित हो उठा। दूसरे, स्वयं भारतीय समाज में विच्छिन्नता का दौरदौरा था। दोहरे आघातों का धक्का पड़ने पर देश में इस बात की आवश्यकता हुई कि समाज सङ्गठित हो कर वाह्य आघात और आन्तरिक विच्छिन्नता का साहसपूर्वक सामना करने में समर्थ हो। जाति की इसी चेतनता के फलस्वरूप भक्ति-आन्दोलन ने ज़ोर पकड़ा जो मूलतः भारत की प्राचीन काल से चली आ रही विचारधारा के स्वाभाविक

तौर पर विकसित रूप में मौजूद था। रामानन्द और वल्लभाचार्य ने रामानुज, निम्बार्क और विष्णु स्वामी महात्माओं के विचारों की नींव पर एक बड़ा भारी प्रासाद खड़ा किया जिसमें समस्त हिन्दू जनता ने आश्रय पाकर योग-सूत्र स्थापित करने का प्रयत्न किया। इन्हीं धार्मिक परम्पराओं के अनुयायी कबीर, तुलसी, सूर आदि महान् कवि हुए जिन्होंने अपनी रचनाओं से समाज को विनाशोन्मुख होने से बचा लिया।

प्रश्न यह उठता है कि इस धार्मिक आन्दोलन का परिणाम क्या हुआ। क्या समाज विनाशोन्मुख होने से बच कर आगे बढ़ सका। पहले कहा जा चुका है कि इस आन्दोलन के नेताओं ने समाज को धर्म से विमुख होने से बचा लिया। उसके लिये हिन्दू समाज उनका चिरकृतज्ञ रहेगा। परन्तु इससे आगे क्या हुआ, यह समझने के लिये हमें पहले धर्म की प्रकृति पर विचार करना पड़ेगा।

जिस प्रकार एक बच्चा अपने को असहाय पाकर अपने पिता का आश्रय लेता है, ठीक उसी प्रकार आदिम मनुष्य की दशा थी। वर्षा, तूफ़ान, भूकम्प, बिजली आदि से अपना बचाव करने में वह असमर्थ था। और वास्तव में देखा जाय तो मनुष्य की इसी असमर्थता के सहारे सभ्यता और संस्कृति का इतना बड़ा प्रासाद खड़ा हुआ है। आदिम अवस्था में कुछ प्रतिभावान् व्यक्तियों ने एक ऐसी शक्ति की रचना की जो आपत्ति के समय उनकी रक्षा कर सकती थी। उन्होंने तत्कालीन समाज को बताया कि यदि वह उनके बताये हुए मार्ग पर चलेगा तो उसकी मुसीबतों से रक्षा हो सकेगी। कहना न होगा कि उस शक्ति का नाम ईश्वर था। जनता को बताया गया कि हमारे ऊपर एक ऐसी शक्ति का निवास है जिसे हम अपनी प्रार्थना, अर्चना आदि से प्रसन्न कर सकते हैं। और यदि वह शक्ति प्रसन्न हो जाय तो हम धनधान्यपूर्ण बन सकते हैं। अगुआ लोगों ने अपने त्याग और तपस्या से जनता में अपनी बातों का प्रचार कर लिया।

धर्मोत्पत्ति की इस सूक्ष्मातिसूक्ष्म समीक्षा से यह ज्ञात हो गया होगा कि धर्म की उत्पत्ति उस समय हुई जब मनुष्य अपनी आदिम अवस्था में था और विश्व में घटित होनेवाली बातें समझने के लिये उसके पास ज्ञान का अधिक प्रकाश नहीं था। उस महाशक्तिवान् पुरुष की रचना में उसने भ्रम से काम लिया। यह भी यहाँ बता देना ठीक होगा कि मनुष्य की कथित अवस्था में यह भ्रम अति आवश्यक था। मनुष्य को जीवन में

चारों ओर जब दुःख ही दुःख दिखाई पड़ने लगा तो उसने एक ऐसे काल्पनिक जगत् की रचना की जहाँ एक सर्वशक्तिमान् व्यक्ति बैठा रहता था। वह दण्ड देने के साथ सम्पन्न भी बना सकता था। उसके लिये उन्होंने उपयुक्त साधन निकाले। यदि इस जन्म में सफलता न हुई तो दूसरे जन्म की आशा दिलाई गई।

भक्ति काल में हिन्दुओं ने इसी भ्रमात्मक वस्तु का अधिकाधिक सहारा लिया। यह तो ठीक है कि धर्म ने तत्कालीन समाज के अस्तित्व को बनाये रक्खा। परन्तु ठीक और स्वाभाविक होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि धार्मिक आन्दोलन समाज को आगे न बढ़ा सका। उसका मुख्य ध्येय समाज के दूषित और विकृत अङ्गों को दूर करना था। उसके बाद वह जैसा था वैसा ही बना रहा। उसे अवतारवाद का पाठ पढ़ाया गया। सन्तों ने अनहद का राग अलापा, तुलसी ने अवतारवाद की शिक्षा दी और सूर ने बच्चों से जी बहलाया। उसको बताया गया कि पाप का घड़ा भर जाने पर 'रामत्व' का जन्म होगा। जिन कथाओं और चरित्रों के आधार पर यह पाठ पढ़ाया गया उसकी महती शक्ति के होते हुए भी अन्त में उसका परिणाम रुचिकर न हुआ। समाज में निष्क्रियता बढ़ती गई। वह 'रामत्व' की प्रतीक्षा में बैठा रहा। लेकिन जैसा वह चाहता था वैसा न हुआ।

अपनी सारी प्रार्थनाओं को विफल होते देखकर जनता में नैराश्य बढ़ता ही गया। विदेशी आये और उन्होंने लूट मार की, अत्याचार किये। वाञ्छित सहायता न आते देखकर जनता अधिकाधिक नैराश्य के गर्त में डूबती गई। इस नैराश्यजनित अवस्था में समाज को किसी आश्रय की ज़रूरत थी। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि निराशा के घोर अन्धकार में मनुष्य या तो समाज से विमुख हो जाता है या नशे में चूर होकर अपने को भूल जाना चाहता है या धर्म जैसी किसी भ्रमात्मक वस्तु का सहारा लेता है। इन बातों के अतिरिक्त वह ज़िन्दगी का मज़ा उठाने में कालयापन करना भी श्रेयस्कर समझता है। वाह्य जगत् की भौतिक वस्तुओं पर अपना अधिकार कर लेना ही वह अपना ध्येय समझने लगता है। फिर वह आध्यात्मिकता की ओर नहीं झुकता। प्रेम करना और कराना उसके जीवन में प्रमुख स्थान ग्रहण कर लेता है। वह प्रेम पार्थिव होना चाहिए। और यह मानी हुई बात है कि विलासिता से भरे हुए शृङ्गारी प्रेम की ओर ही मनुष्य अधिक आकृष्ट होता है। धर्म की अपेक्षा समाज इसी आश्रय की ओर झुका।

समाज यहाँ पर एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। समाज के दो भाग थे—एक तो उच्चस्तर का शिक्षित समुदाय और दूसरा अपढ़ और साधारण श्रेणी का समुदाय। शिक्षा का प्रचार हो जाने के कारण अब तो जनसाधारण का साहित्य लिखा जाने लगा है। तत्कालीन अवस्था में यह सम्भव नहीं था। अस्तु, हम उसके विचारों के विषय में कुछ नहीं कह सकते। दूसरे, शिक्षा के अभाव में हम उसमें समाज के निर्धारित मार्ग के विरुद्ध चलने का साहस पाने की आशा भी नहीं कर सकते। उच्च और शिक्षित समुदाय ही ऐसा कर सकता था। उपर्युक्त 'समाज' इसी समुदाय का द्योतक है। सामान्यतः आगे भी उसका इसी अर्थ में प्रयोग किया गया है।

अब समाज इन्द्रियजनित सुख की ओर बढ़ा। उस समय पारिभाषिक रूप में भक्तिकाल आखिरी साँसें लेने लगा था। उसके समाप्त होते ही भारतीय समाज का ध्यान मुग़लों की शानशौकत और विलासपूर्ण जीवन की ओर अधिकाधिक खिंचता गया। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि समस्त समाज को—ऊँचे और नीचे दोनों वर्गों को—धर्मप्राण बनाये रखने के लिये, उसको ऐहिक जीवन से विमुख कर परलोकोन्मुख बनाये रखने के लिये प्राणपण से चेष्टा की गई और उस पर नाना प्रकार के नियन्त्रण लगाये गये। जीवन को अनुशासित और नियन्त्रित बनाने की चेष्टा में स्वभावोचित सीमा का उल्लंघन किया गया। ऐहिक जीवन की मूल स्त्री पर प्रहार पर प्रहार किये गये। उसे समस्त व्याधियों की खान और साँपिन बताया गया। उसके डसे का कोई इलाज भी नहीं था। इस बात पर इतना ज़ोर दिया गया कि प्राणिशास्त्र के मूल नियम भी भुला दिये गये। धार्मिकता और परलोक की धुन में प्रकृति का एक महत्वपूर्ण नियम तोड़ देने और मनुष्य की जन्मगत भावनाओं को कुचल देने का प्रयत्न किया गया। परिणाम यह हुआ कि उपर्युक्त वातावरण पाकर समाज की कुचली हुई भावनाएँ एकदम उमड़ पड़ीं। समाज धार्मिक नियन्त्रणों से स्वतन्त्र नहीं था। ठीक है, परम्परागत संस्कारों को दूर करना आसान खेल नहीं था। तो भी भावनाएँ दबी नहीं रह सकती थीं। शिक्षित और उच्चश्रेणी के समाज के आश्रित कवियों ने अपनी रचनाओं द्वारा इच्छा-पूर्ति (Wish fulfilment) का एक अच्छा साधन निकाल लिया। इससे उस समाज की दबी हुई भावनाओं के लिये अच्छा निकास मिल गया। स्त्री-पुरुष के अनेक सम्बन्ध होते हैं, पर उन्होंने केवल रतिपूर्ण सम्बन्ध ही अपनाया।

और उसी की ज़रूरत भी थी। मुग़ल दरबारों के विलासपूर्ण जीवन ने उसको आश्रय दिया।

उसके लिये उन्हें सामग्री भी प्रस्तुत मिल गई। हिन्दी साहित्य का प्रासाद अधिकतर रामायण, महाभारत और भागवत पर खड़ा हुआ है। राम और कृष्ण जनता द्वारा सम्मानित हो चुके थे। पीड़ित और निराश जनता राम की ओर न जाकर कृष्ण के रङ्ग में मस्त हो गई। भागवत में कृष्ण के शृङ्गारपूर्ण वर्णन मिलते हैं। उन्हें पुरुषोत्तम की लीला कहा गया है। यह बात शृंगारी कवियों के हक़ में अच्छी ही साबित हुई। वे बिना रोक-टोक कृष्ण की लीलाओं को मनचाही कल्पना से रञ्जित कर जनता के सामने रख सकते थे। उन्होंने सोचा कि कृष्ण के नाम पर दी गई सामग्री ग्रहण करने में जनता को कोई सङ्कोच न होगा। ऊँच और नीच, शिक्षित और अशिक्षित, सभी के आदर्श चरित्रनायक की जीवनी में उन्हें उपयुक्त सामग्री मिली। दूसरे, ऐहिकतामूलक शृङ्गार-चेष्टाओं और प्रेम की रसमयी क्रीड़ाओं के वर्णन की संस्कृत वाली परम्परा विद्यमान ही थी। बस फिर क्या था। जी भर कर उन्होंने रति का वर्णन किया। वास्तव में कृष्ण की आड़ में उन्होंने लौकिक नायक का वर्णन किया है। भागवत में राधा का उल्लेख नहीं है। निम्बार्क स्वामी ने कृष्ण के साथ राधा जोड़ दी। कवियों को राधा के रूप में एक नायिका भी मिल गई। पण्डित शुकदेवबिहारी मिश्र ने पटना विश्वविद्यालय के रामदीन लेक्चर्स (१६३२-३३)—'हिन्दी साहित्य और इतिहास'—में कहा है कि 'कृष्ण के साथ राधावाली भक्ति जोड़ कर आप ही (निम्बार्क स्वामी) ने शुद्ध वैष्णव मत को वाममार्ग के मेल से कलुषित किया।...उसमें कहने को तो धर्म-कथन है किन्तु अश्लीलता अथवा उसके आलम्बन उद्दीपन के द्वारा उसमें कलुषता जुड़ी है। बहुत लोग शुद्ध भाव से भी उसे धर्म मानते हैं, किन्तु वास्तव में धर्म के नाम से वह जानते या न जानते हुए नीच प्रकृतियों का पोषण करता है। रामानुज द्वारा प्रतिष्ठित सेव्य-सेवक वाली भक्ति में आपने मलिन शृङ्गारात्मिकता जोड़ दी।' वास्तव में यह जानते या न जानते हुए धार्मिक नियन्त्रणों और निरोधों का ही परिणाम था। शृङ्गारी कवियों के निकट राधा एक लोकोत्तर सुन्दरी नायिका का प्रतीक बन गई। जिस प्रकार एक मनुष्य जीवन के प्रभात में किसी दिव्य और अनिंद्य काल्पनिक सुन्दरी को हृदय के सिंहासन पर प्रतिष्ठित करता है उसी प्रकार तत्कालीन जनसमुदाय ने राधारानी को प्रतिष्ठित किया। भिखारीदास ने कहा तो है :

'आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताई
नत, राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है।'

ये दो पंक्तियाँ शृङ्गार-काव्य के ऐहिकतामूलक होने की साक्षी हैं। हिन्दी साहित्य में ऐसी रचनाएँ प्रचुर मात्रा में हुईं।

आधुनिक काल में अनेक विद्वान् शृङ्गार के नाम पर नाक-भौं चढ़ाते देखे गये हैं। वे उससे घृणा प्रकट कर तरह-तरह की आलोचना करने लगते हैं, जो सरासर अनौचित्य है। हम शृङ्गार साहित्य के कुछ अंगों पर प्रकाश डाल कर यह प्रकट करेंगे कि इन रचनाओं में मनोवैज्ञानिक तथ्य का कहाँ तक समावेश है।

शृङ्गारी कवियों का नायक-नायिका-भेद बड़े विवाद का विषय है। यह पहले कहा जा चुका है कि स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध का वर्णन करते हुए उन्होंने पार्थिव जीवन का वर्णन किया है। नायक-नायिका-भेद मूल में स्त्री-पुरुष के वास्तविक पारस्परिक सम्बन्ध का विशद विवेचन है। जो लोग उससे घृणा प्रकट करते हैं वे अपने को मानव-प्रकृति से अनभिज्ञ सिद्ध करते हैं। संस्कृत साहित्य में नायक-नायिका का वर्णन था ही। वह काव्य के शृङ्गाररस के अन्तर्गत था। शृङ्गारी कवियों ने उसे सहर्ष अपनाया।

नायिकाओं में सबसे अधिक घृणा की दृष्टि से परकीया नायिका देखी जाती है। प्रायः उसको व्यभिचार या वैवाहिक दुराचरण की अपराधिनी ठहराया जाता है। परन्तु ऐसा कहते समय आलोचक स्त्री-पुरुष दोनों को बहुवैवाहिक प्रवृत्ति को भूल जाते हैं। मनुष्य तो प्रसिद्ध बहुवैवाहिक प्राणी है। उसकी बहुवैवाहिकता उतनी ही पुरानी है जितना कि मानव-इतिहास। अनुकूल और दक्षिण नायक धर्मशास्त्र-संगत हैं। कृष्ण स्वयं दक्षिण नायक थे। साथ ही समाज में धृष्ट और शठ नायकों का भी अभाव नहीं है। स्त्री भी आदिकाल में एक प्रेमी के बाद दूसरे प्रेमी की इच्छुक रहती थी। विवाह का इतिहास इस बात का साक्षी है। आगे चल कर एक पति के शासन में रहना तो सभ्यता की देन है। मनोविज्ञान के आधुनिक विद्वानों की सम्मति में भी स्त्री एक प्रेमी के बाद दूसरा प्रेमी चाहती है। यह स्मरण रखना चाहिए कि इस प्रेम में विलासिता का अंश ही अधिक रहता है। सामाजिक भय और नियन्त्रण के कारण वह व्यावहारिक रूप में उसे प्रकट न कर सकती हो यह दूसरी बात है, परन्तु यह है एक मनोवैज्ञानिक तथ्य। न्यूयॉर्क यूनिवर्सिटी के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक ए० ए० ब्रिल का कथन है :

'I might say that this is one of those fanciful emotions that particularly all moral women sometimes secretly desire to taste. We have named it the "being for naughty desire" or "prostitution complex." So many respectable women have very often told me that they do wish they could have the experience of being prostitute for an hour so that they might know just what it means. They were shocked at the very thought but it is pleasing and thrilling nonetheless'

इसी बात का समर्थन प्रसिद्ध विचारक और दार्शनिक बर्ट्रेंड रसेल ने किया है :

'I think that uninhibited civilized people, whether men or women, are generally polygamous in their instinct. They may fall deeply in love and be for some years entirely absorbed in one person but sooner or later sexual familiarity dulls the edge of passion and they begin to go else-where for the revival of the old thrill.'

और फिर जिस समाज में अपनी विवाहिता स्त्री का मुख देखना भी दुर्लभ हो उस समाज का कवि परकीया की ओर आकृष्ट हो तो क्या पाप है। इसलिए साहित्यिक परकीया को क्रूर दृष्टि से देखना उचित नहीं।

परकीया के बाद दूती के नाम पर भी प्रायः लोग मुँह सिकोड़ने लगते हैं। परन्तु वे भूल जाते हैं कि दूती हिन्दू सामाजिक व्यवस्था की उत्पत्ति है। तत्कालीन समाज प्रेमी-प्रेमिकाओं को स्वतन्त्रता-पूर्वक मिलने की आशा नहीं देता था। समाज के भय से वे या तो चोरी से छिप कर मिलते थे या किसी तीसरे विश्वासपात्र व्यक्ति को मध्यस्थ बना कर अपना काम निकालते थे। यह व्यवस्था बहुत अंशों में अब भी बनी हुई है। ऐसी हालत में दूती ही वह तीसरी व्यक्ति है। उसके द्वारा प्रेमी-प्रेमिका एक दूसरे के पास सन्देश भेज

सकते थे। वह ही उनका सहेट में मिलान करा सकती थी। और भी सैकड़ों कार्य उसके द्वारा सम्पन्न हो सकते थे। स्त्रियाँ इस कार्य में होती भी निपुण हैं। यदि शृङ्गारी कवियों ने एक सत्य हमारे सम्मुख रख दिया है तो उसमें क्रोध-प्रदर्शन की तो कोई बात नहीं है।

नायिकाओं के वर्णन में परकीया नायिका का वर्णन ही सर्वोत्तम और भावुकतापूर्ण होता है। हमारे रसशास्त्रियों ने बहुत ठीक ही कहा है कि परकीया के वर्णन में भावावेग सबसे अधिक रहता है। इस बात का मनोवैज्ञानिक कारण भी है। प्रेमी-प्रेमिका का जब तक विवाह नहीं हो जाता तब तक पुरुष के लिये स्त्री संसार की अनिंद्य सुन्दरी बनी रहती है और स्त्री के लिये पुरुष संसार का सर्वश्रेष्ठ पुरुष बना रहता है। विवाह होते ही प्रेम का आवेग मन्द पड़ जाता है। उस समय संसार की अनिंद्य सुन्दरी एक साधारण स्त्री रह जाती है और संसार का सर्वश्रेष्ठ पुरुष एक महत्वहीन स्थान ग्रहण कर लेता है। इस मनोवैज्ञानिक सत्य के प्रकाश में परकीया व्यभिचारिणी नहीं ठहरती। वैसे भी 'व्यभिचारिणी' कही जाने वाली किसी स्त्री को घृणा और क्रोध की दृष्टि से देखना स्त्री जाति की मूल प्रकृति से अनभिज्ञता प्रकट करना है।

अस्तु शृङ्गारी कवियों की रचनाओं को घृणा और उपेक्षा की दृष्टि से देखना, जैसी कि आधुनिक काल में प्रथा चल पड़ी है, सर्वथा अनुचित है। वास्तव में इन कवियों ने रस की सृष्टि की है। रसों में शृङ्गार ही प्रधान रस है। मूल रूप में प्रेम और शृङ्गार सदैव विलासपूर्ण होते हैं। परिस्थिति विशेष में वे चाहे जैसा रूप धारण करलें, यह दूसरी बात है। तत्कालीन समाज के इतिहास का अभाव है। सम्भव है शृङ्गार साहित्य में वर्णित अनेक शिष्टाचारों और रीतियों का उस समय समाज में प्रचार रहा हो। उसको आधुनिक दृष्टि से देखना कवियों के प्रति अन्याय और अत्याचार करना है। शृङ्गारी कवियों का अपनी रचनाओं में अलङ्कार, छन्द आदि घसीट लाना केवल संस्कृत-शैली का अनुकरण और पाण्डित्य-प्रदर्शन मात्र है, जैसी कि तत्कालीन कवियों में प्रथा चल पड़ी थी।

वस्तुतः शृङ्गारी कवि एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था के शिकार बन गये थे जो भ्रमात्मक थी और जिसने समाज के ऐहिक जीवन के मूल को ही काट डालना चाहा था, पर शृङ्गारी कवि जीवन के अधिक निकट हैं। उन्होंने सीमा का उल्लंघन अवश्य किया है, परन्तु वह स्वाभाविक था। नैराश्यजनित अवस्था में वे धार्मिक नियन्त्रणों और निरोधों (inhibitions and

repressions) को अधिक काल तक न सह सके। अत्यधिक आध्यात्मिकता की प्रतिक्रिया के रूप में शृङ्गार साहित्य इन्द्रियों की पुकार है।

यहाँ पर यह सङ्केत कर देना भी अनुचित न होगा कि आधुनिक काल में शृङ्गार साहित्य का अध्ययन कम हो चला है और साहित्य के विद्यार्थी उससे कुछ अपरिचित जान पड़ते हैं। वास्तव में उसके अध्ययन के लिये काव्यशास्त्र, कामशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, वैद्यकशास्त्र, ज्योतिष, सौन्दर्य-विज्ञान, लोक-व्यवहार आदि में पूर्ण दक्षता प्राप्त कर लेने की अत्यन्त आवश्यकता है ऐसा किये बिना इस साहित्य का पूर्ण रसास्वादन नहीं किया जा सकता। आधुनिक काल में ज्ञान के विविध विषयों के विविध अंगों का अध्ययन करने की सुलभता प्राप्त होने पर भी यदि हम ऐसा न कर सकें तो इससे अधिक दुःख की बात और कौन होगी। उचित यह है कि विद्वज्जन् शृङ्गार साहित्य का वैज्ञानिक रीति से अध्ययन कर पाठकों को उसकी बारीकियों से परिचित करा कर उसे सरल और सुबोध बनावें। इतने बड़े कलापूर्ण साहित्यागार का दरवाज़ा बन्द होते देख कर प्रत्येक साहित्य-रसिक को मर्मान्तिक पीड़ा होगी।

सम्भव है कुछ सज्जन मुझे इस मत के प्रतिष्ठापित करने में महत्वाकांक्षा का अपराधी ठहरावें और अपने धर्मगत रूढ़ संस्कारों से चालित होकर इस मत को विनाशकारी और भयावह समझें। किन्तु विज्ञान उसे आश्रय देता है, बुद्धि उसका समर्थन करती है और मानव-प्रकृति उसे उत्तेजना देती है।

शृङ्गार साहित्य के उद्भव आदि की संक्षिप्त समीक्षा के बाद अब हम आलोच्य काल के शृङ्गार साहित्य का विवेचन करेंगे।

अंगरेज़ी राज्य के विस्तार के साथ-साथ कवियों को राजाश्रय की प्राप्ति में कमी होती जाती थी। पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव और देश की दीन-हीन दशा के कारण विद्वानों और सुहृद समाज का ध्यान कृष्ण के 'केलि-कुञ्जों' की ओर से हट कर भारत की पतितावस्था और पेट भर भोजन न पाने वाली पीड़ित और दरिद्र जनता की ओर गया। तो भी रीवाँ, अयोध्या, सुठालिया, रामपुर (ज़िला मथुरा), काशी, हरिहरपुर आदि राज-दरबारों और काशी, मथुरा, प्रयाग, कानपुर, आदि साहित्यिक केन्द्रों में शृङ्गार साहित्य की रचना नवीन प्रभावों से बाहर रहने के कारण और कुछ साहित्यिक परम्परा के रूप में बराबर हो रही थी। कवि-समाज (काशी) और रसिक समाज (कानपुर) जैसी संस्थाओं ने भी प्राचीन परम्परा बनाए रखने की चेष्टा की। स्वतंत्र रूप

से तथा समस्या-पूर्तियों के रूप में कवि अपनी रचनाएँ करते थे। हिन्दी साहित्य के इस संक्रान्ति-काल में प्राचीन साहित्यिक परम्पराओं से एकदम विमुख हो जाना आसान भी न था।

रीति काल में श्रृङ्गार का विशद विवेचन हो चुका था। उस समय के कवियों ने अपनी प्रौढ़ और स्तुत्य रचनाओं से साहित्य के इस अङ्ग की सर्वाङ्ग-पूर्ति कर दी थी। इसलिए इस काल में कवियों को अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाने का कम अवसर रह गया था। प्राचीन साहित्य का जो कुछ प्रभाव शेष रह गया था उसी के अन्तर्गत अब के कवि उसका पिष्टपेषण करते रहे। परन्तु इस पिष्टपेषण में भी वे कोई विशेष और महत्वपूर्ण कला-कौशल न दिखा सके। पूर्ववर्ती कवियों ने कलापूर्ण मुक्तक रूप में शृङ्गारिक रचनाएँ की थीं। विविध अलङ्कारों से सुसज्जित उनकी सुन्दर कृतियाँ संसार के किसी भी साहित्य को गौरव प्रदान कर सकती हैं। उनमें शृङ्गारोपयुक्त यौवन की मनोरम छटाओं और प्रेम-व्यापार का सूक्ष्म और मर्मस्पर्शी दिग्दर्शन अत्यन्त ललित भाषा में कराया गया है। राधा-कृष्ण के जीवन-सम्बन्धी मनोहर अंगों को लेकर उन्होंने हृदयस्पर्शी और सुन्दर दृश्यों का सृजन किया है। परन्तु अब के कवियों ने राधा-कृष्ण की रति-केलि और दानलीला, धोबिनलीला, चुरहारिनलीला, कुँजड़िनलीला, छद्मवेषलीला आदि लीलाओं और 'अष्टयाम' के रूप में उनका प्रातःकाल से लेकर सन्ध्या तक के कार्यक्रम का ही अधिकांश में वर्णन किया है। लीलाओं की भी उपलीलाओं का वर्णन किया गया है। इनके अतिरिक्त उन्होंने विस्तृत नख-शिख-वर्णन, रूप, सुकुमारता, चुम्बन, परिरम्भण आदि और नायक नायिका-भेद का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। परन्तु कुछ सुन्दर रचनाओं को छोड़ कर यह साहित्य अपने प्राचीन गौरव के अत्यन्त हीन और क्षीण रूप में हमारे सामने आता है। कृष्ण-सम्बन्धी पौराणिक कथाओं की जैसी छीछालेदर इस काल के शृङ्गार साहित्य में मिलती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। वैष्णव मन्दिरों के कर्म-काण्ड का प्रभाव भी इन रचनाओं पर कम नहीं पड़ा। इस प्रभाव को चरम सीमा हमें शाह कुन्दनलाल 'ललितकिशोरी' की रचनाओं में मिलता है। फलतः कवियों ने मुख्य विषय को भुला कर गौण विषयों को ही प्रधानता दी है। इससे इस साहित्य का मूल्य बहुत कम हो गया है। चण्डीदास, विद्यापति आदि वैष्णव कवियों की भाँति इन रचनाओं में आध्यात्मिकता ढूँढ़ने का प्रयत्न करना उपहासास्पद होगा। धार्मिकता के बहाने इन कवियों ने नग्न श्रृङ्गार का वर्णन किया है। उनकी रचनाओं में ऐहिक प्रेम का वर्णन है,

जो परम्परानुसार ही है। उनके नायक-नायिकाएँ सामाजिक प्राणी हैं। उनको धार्मिक रूप में मानना उचित नहीं।

इस ऐहिक प्रेम में हम सच्चे भारतीय आदर्श का दिग्दर्शन पाते हैं। प्रेमी-प्रेमिकाएँ सभ्य और शिष्ट हैं। मार-काट, द्वेष-वैमनस्य और किसी का किसी को भगाकर ले जाना, इन बातों का संकेत तक नहीं मिलता। नायिकाओं के वर्णन में नायिका की सहिष्णुता और सहन-शक्ति वास्तव में प्रशंसनीय है। असूया की प्रवृत्ति अवश्य पाई जाती है, परन्तु वह अत्यन्त सुन्दर और मानव-स्वभावगत है। उसमें सीमा का उल्लंघन नहीं होता।

साहित्यिक दृष्टिकोण से हम इन रचनाओं को उच्चश्रेणी की रचनाएँ नहीं कह सकते। सेवक ('वाग्विलास'), भारतेन्दु, 'द्विजदेव' आदि कुछ कवियों के अतिरिक्त अन्य कवियों की रचनाओं में साहित्यिक सौष्ठव बहुत कम है। शताब्दियों से जिस विषय में बड़े-बड़े कवियों ने अलङ्कार और रस-निरूपण की सृष्टि की थी उसमें अब कवियों के लिये गुंजायश न रह गई थी। उन्होंने अधिकतर कवित्त और सवैया छन्दों का प्रयोग किया है। उनमें भी केवल अन्तिम पंक्ति में कवि के उक्ति-वैचित्र्य के दर्शन होते हैं। एक ही विषय पर लगातार रचना होते-होते अब के कवियों की रचनाओं में पुनरावृत्ति का समावेश पाया जाता है। एक कवि के वाक्यांश, उपमा, रूपक आदि दूसरे कवि की रचना में भी मिलते हैं। खञ्जन, नागिन, चकोर, कामदेव के नगाड़े, काम के गुम्बद, सेवार, त्रिवेणी, कदली, मृणाल, कामनसेनी, काम-सरोवर, तारे, चन्द्रमा, सूर्य, भँवर, भौंरा, प्रवाल, हंस आदि का सभी ने समान रूप से व्यवहार किया है। अलंकार ठूँस-ठूँस कर भरने के कारण काव्य में अस्वाभाविकता और कृत्रिमता आ गई है। उसमें मुख्य विषय दब गया है। वर्ण्य विषय का असली रूप सामने न आकर कोई दूसरा रूप सामने आ जाता है। यमक, उपमा, श्लेष और अनुप्रास आदि का अत्यन्त भद्दा रूप मिलता है :

'कौल कलिताके मञ्जुछाये मुक्तताके गुनगन गनताके हेतु रिद्धि सिद्धि ताके हैं। पानिप पताके छोरदार छबिता के शिर भूष कर ताके हेम रंग फबिताके हैं॥ तीन गुनताके जाके एक रेखताके नैन गनपाल ताके साके बाढ़ै बल ताके हैं। प्रेम फल ताके भक्ति रस भलि ताके बोध बुधि बलि ताके पद मातु ललिता के हैं ॥१०१॥'[१]

---

[१] ठा० गणेशबख्श सिंह 'गनपत' और ठा० महेश्वरबख्श सिंह : 'प्रिया प्रीतम विलास' (१८९१ तृ० सं०), पृ० ५१

'कितने मनी को नीको कितने पनी को नीको कितने गनी को नीको कहत अनी को है। कितने कनी को नीको कितने रनी को नीको केते रजनी को नीको कहै रमनी को है। कितने गुनी को केते मुनी कौ पुनी को कितने धुनी को केते कहत चुनी को है। गुन्यौ जननी को नीको नेकऊ न नीको नीको नीको जन नीको नाम जग जननी को है ॥१०॥'[1]

अलंकार-प्रयोग के विषय में शङ्करसहाय अग्निहोत्री (१८३५-१६१०) की निम्नलिखित उक्ति थोड़े हेर-फेर के साथ सामान्य रूप से लागू हो सकती है :

'प्रबाल से पाँय चुनी-से लला नख दंत दिपैं मुकतान समान;
प्रभा पुखराज-सी अंगनि मैं विलसैं कच नीलम से दुतिमान।
कहै कवि संकर मानिक से अधरारुन हीरक-सी मुसकान;
विभूषन पन्नन के पहिरे बनिता बनी जौहरी की सी दुकान।'[2]

अलंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, सन्देह, भ्रम, अपन्हुति, मीलित, उन्मीलित, यमक, श्लेष, अनुप्रास आदि का अधिक प्रयोग हुआ है। उनसे कवि की कला-दक्षता प्रकट नहीं होती। परन्तु अनेक त्रुटियाँ और काव्य-शैथिल्य होने पर भी काव्य-कौशल-पूर्ण पंक्तियों का नितान्त अभाव नहीं है, ऐसी पंक्तियाँ कम अवश्य हैं :

'बूझतु हौ कहा वाकी दशा भुवनेश जू बात वृथा बहि जायगी।
साँची कहे पतियाहु नहीं नहिं काची कछू हम सों कहि जायगी॥
आश नहीं बचिवे की अबै पर प्यारी जऊ रहते रह जायगी।
वीश बिसे बन फूले पलाशन देखि अँगारन सों दहि जायगी ॥१४॥''[3]

वास्तव में पूर्ववर्ती और इस काल के शृङ्गारी कवियों की रचना-शैली में अधिक भेद नहीं है, भेद केवल मूल्य (Quality) का है। इस काल में मार्मिक और मनोहर पद्यों की संख्या अत्यन्त न्यून है। इन कवियों के लिये कोई बन्धन नहीं था। जिसने जैसे चाहा वैसे ही लिख दिया।

---

[1] दिलीपपुर के महाराज कुमार बाबू नर्मदेश्वरप्रसाद सिंह : 'शिवाशिव शतक' (१८७१), पृ० ३-४

[2] 'विनोद, (१६८२ वि० सं०), पृ० ११२४

[3] बाबू त्रिलोकीनाथ सिंह 'भुवनेश' : 'भुवनेश भूषण' (१८८०)

इस काल का छन्द-चयन भी अधिकांश में परम्परानुसार है। कवियों ने कवित्त, सवैया, बरवै, घनाक्षरी, दोहा, सोरठा, चौपाई, छप्पय, मत्तगयन्द, तोटक, ताटंक, भुजङ्गप्रयात, रोला आदि का अधिक प्रयोग किया है। ये छन्द ही शृङ्गार-रचनाओं के उपयुक्त ठहरते हैं। शृङ्गारी कवियों ने मुक्तक-काव्य की रचना की है। मुक्तक-काव्य के लिये भी उपर्युक्त छन्द उपयुक्त ठहरते हैं। परन्तु इस काल में कुछ नये छन्दों का भी प्रयोग किया गया, जैसे, बिरहा, मलार (बारहमासा), रेख़ता, ग़ज़ल और कजली।[1] उर्दू साहित्य के अधिकाधिक सम्पर्क में आने से रेख़ता और ग़ज़ल का चलन हो गया था। रेख़ता और ग़ज़ल लिखने वालों में भारतेन्दु और शाह कुन्दनलाल विशेष उल्लेखनीय हैं। १६०० में रामकृष्ण वर्मा ने बिरहा छन्द में 'नायक-नायिका-भेद' लिखा। कजली, मलार और ग़ज़ल का जितना प्रचार था उतना बिरहा का नहीं था। नये-नये छन्दों के इस चुनाव से यह प्रकट होता है कि इस मृतप्राय शृङ्गार साहित्य में जीवन का

---

[1] भारतेन्दु ने कजली की उत्पत्ति इस प्रकार लिखी है:

'कन्तित देश में गहरवार क्षत्री दादूराय नामक एक राजा हुए और माण्डा बिजैपुर इत्यादि देश में उनका राज था बिन्ध्याचल देवी के मन्दिर के नाले के पास उनके टूटे गढ़ का चिन्ह अब तक मिलता है उन्होंने चार भैरवों के बीच में अपना गढ़ बनाया था और वह अपने राज में मुसल-मानों को गंगाजी नहीं छूने देते थे, उसके देश में अनावृष्टि हुई और उसने उसके निवारणार्थ बड़ा धर्म किया और फिर वृष्टि हुई इसी में उसकी कीर्ति को कन्तित की स्त्रियों ने उसके मरने और उसकी रानी नागमती के सती होने पर एक मनमाने राग और धुन में बाँधकर गाया इसी से उसका नाम कजली हुआ। कजली नाम के (दो) कारण हैं एक तो उस राजा का बन था उसका नाम कजली बन था दूसरे उस तृतीया का नाम पुराणों में कज्जली तीज लिखा है जिसमें यह कजली बहुत गाई जाती है।

उसकी कीर्ति में ग्रामीणों ने उसी काल में ये छन्द बनाए थे।'

'इण्डियन एँटिक्वेरी' (दिसम्बर, १६१०) में विलियम क्रुक कृत 'Religious Songs from Northern India' में कजली पर एक नोट इस प्रकार मिलता है:

कुछ-कुछ सञ्चार बाक़ी था। महाराजाधिराज कुमार लाल खड्गबहादुरमल्ल ने ('सुधाबुन्द' में) अति उत्तम कजलियाँ लिखी हैं।

KAJALI SONGS

The origin of the kajali songs

The Kajali is a kind of song, which according to the well informed on such subjects, owes its origin to Mirzapur. It is said that there was one Danu Rai, a Gaharwar Thakur and ancestor of the present Raja of Kantit, who founded a very powerful kingdom on the banks of the Ganges with its capital at Pampapur. Danu had such an overwhelming hatred for the Musalmans, who were then new-comers, that he allowed no Musalmans to touch the Ganges. Mohemmadans could not, like others who have manly blood in their viens, brook this insult with impunity. They attacked Danu and some say that he fell in the fight with them.

Danu was held in great esteem by his subjects, partly on account of his religious enthusiasm and partly on account of his love for them. On his death, the women of his kingdom retired into a forest known as Kajjal Ban (Black Forest, properly near Hardwar) and mourned his loss by singing mournful songs in his honour, These songs afterwards came to be named Kajali. Though they were originally rhymes expressive of sorrow and grief, yet in after times, people began to compose love songs to the tune of Kajali. They too took the same name accordingly.

The Kajali song is sung throughout the month of Srawan (July-August) by men and women in Mirzapur and on the last day of that month there is a festival of the same name.

In Mirzapur City, and in every village of that district, there is a tank or reservoir which is termed Kajrahawa Pokhra. On Kajali Day women and girls of every Hindu family go to this tank to bathe. After

शृङ्गार-पूर्ण रचनाओं में ब्रजभाषा का प्रयोग किया गया है। परन्तु इस काल में ब्रज प्रमुख साहित्यिक केन्द्र न रह गया था। पूर्वी कवियों का ब्रजभाषा-ज्ञान केवल साहित्यिक था। वे ब्रज-प्रदेश में जाकर कभी नहीं रहे थे। इसलिए ब्रजभाषा पर पूर्वी हिन्दी का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

---

bathing they wash certain plants of Barley, which they grow in this month for the purpose of tying round the top-knot on their heads. Then four or five of them stand in a circle and perform what is called by the people of Mirzapur, Dhun Muniya. This consists in each woman moving in a circle without breaking it, and at short intervals of bending the back and then stretching out the hands and closing the fists. They walk round this circle at least five times, singing Kajali. Then they return home and tie the plants of barley in the 'choti' of their brothers, for which they get some reward in return.

On the night preceding the Kajali day, women of every Hindu family keep awake the whole night and sing Kajali. In short, there is now a religious festival where there was none before.

Another version

In the Kantit Country (Mirzapur District) there was a Gharwar Rajput named Dadu Rai. He was a powerful Raja and ruled over Manda and Bijaipur. Near the temple of Bindhyabasini Devi at Mirzapur (Vindhyachal is three miles from Mirzapur) by the stream, the imprints of his fort are still to be seen. He sorrounded his fort with four Bhairons, or guardian-gods of a sacred place, and he never allowed any Musalmans in his dominions to touch the Ganges. Once when the annual rains held off for a very long while and great distress prevailed, he performed charitable acts on a large scale, and then the rain-god Indra was propitiated, shedding showers of rain in abundance. When Dadu Rai died his wife Nagmati became 'sati', the women of Kantit, who held their Raja and the Rani in great esteem, sang their praises in a melody of a their own, now called Kajali

खड़ीबोली का प्रचार हो जाने से उसका प्रभाव भी पड़े बिना न रह सका। बिरहा और कजली में पूर्वी हिन्दी का ही प्रयोग हुआ है। रेख़ता और ग़ज़लों की भाषा अरबी-फ़ारसी के शब्दों से मिश्रित खड़ीबोली है। वैसे भी सर्वप्रचलित अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग बराबर हुआ है।

इस काल में प्राचीन और तत्कालीन शृङ्गार साहित्य का वैज्ञानिक रीति से अध्ययन भी शुरू हो गया था। इस अध्ययन के फलस्वरूप अनेक संग्रह-ग्रन्थ प्रकाशित हुए। उनमें शृङ्गार-पूर्ण कविता के अतिरिक्त कुछ भक्ति के पद्य भी सम्मिलित हैं। संग्रहकर्त्ताओं में सरदार : 'शृङ्गार-संग्रह' (१८४८) और 'षट्ऋतुप्रकाश' (१८६४); भारतेन्दु : 'सुन्दरी तिलक' (१८६६ में प्रकाशित)[१] और 'पावस-कवित्त-संग्रह'; हफ़ीज़ुल्लाख़ाँ : 'हज़ारा', 'नवीन

The name owes its origin to a forest, owned by the Raja, in which the women mourned his loss. The third day of the month, in which this song is sung, is named in the Puranas or local records, Kajali Tij, or the Black Third' pp. 325-326,

'Indina Antiquary', December 1910.
'Religious Songs From Northerm India.
—William Crooke

[१] 'सुंदरी तिलक' का बाँकीपुर संस्करण भारतेन्दु कृत कहा गया है। किन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि इस ग्रंथ का संपादन भारतेंदु के कहने से 'द्विज' कवि मन्नालाल ने किया था। राधाकृष्ण दास ने इसे 'संपादित, संगृहीत व उत्साह देकर बनवाए' ग्रंथों के अंतर्गत रक्खा है। उन्होंने स्वयं संपादन किया या किसी दूसरे से संपादित कराया, यह बात यहाँ स्पष्ट नहीं होती। अन्यत्र उन्होंने लिखा है : "उसी समय (१८७२ से पहले) 'सुन्दरी तिलक' नामक सवैयों का एक छोटा सा संग्रह छपा। तब तक ऐसे ग्रंथों का प्रचार बहुत कम था। इस ग्रंथ का बड़ा प्रचार हुआ, इसके कितने ही संस्करण हुए, बिना इनकी आज्ञा के लोगों ने छापना और बेचना आरम्भ किया, यहाँ तक कि इनका नाम तक टाइटिल पर से छोड़ दिया। परन्तु इसका उन्हें कुछ ध्यान न था। अब एक संस्करण खड्गविलास प्रेस में हुआ है जिसमें चौदह सौ के लगभग सवैया हैं; परन्तु इन सवैयों का चुनाव भारतेन्दुजी की रुचि के अनुसार हुआ या नहीं यह उनकी आत्मा ही जानती होगी।"

संग्रह' (१८८२), 'षट्ऋतु-काव्य-संग्रह' (१८८६), और 'प्रेम-तरंगिणी' (१८६०); द्विज कवि मन्नालाल : 'पञ्चाशतक', 'शृङ्गार-सुधाकर', 'प्रेमतरंग' (१८७७), 'शृङ्गार सरोज' (१८८०) और 'सुन्दरीसर्वस्व' (१८८५); नकछेदी तिवारी 'अजान कवि' : 'मनोजमञ्जरी', ४ भाग (१८८६); साहबप्रसाद सिंह : 'काव्यकला' (१८८५); और बंगालीलाल सुत परमानन्द सुहाने : 'पावस कवित्त रत्नाकर' (१८६३) के नाम प्रमुख हैं। इन ग्रन्थों में नायक-नायिका-भेद और उसी के अन्तर्गत रस-निरूपण और षट्ऋतु-वर्णन-सम्बन्धी हिन्दी साहित्य के चुने-चुने सर्वोत्तम छन्द दिये गये हैं।

शृङ्गार साहित्य के संक्षिप्त परिचय के बाद इस काल के शृङ्गारी कवियों का परिचय दे देना उचित होता। परन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि अधिकतर कवियों का पूरा या अधूरा भी विवरण अप्राप्य है। उनके रचना-काल तक ज्ञात नहीं हैं, और जो ज्ञात भी हैं वे अनिश्चित रूप से। उनकी सब रचनाएँ भी नहीं मिलतीं। इसलिए कुछ प्रसिद्ध कवियों का संक्षेप में नीचे उल्लेख किया जाता है।

इस काल की पुरानी परिपाटी के प्रसिद्ध कवियों में प्रमुख अयोध्यानरेश महाराज मानसिंह 'द्विजदेव' (१८२०-१८७०) हैं। उनके 'शृङ्गार लतिका' (१८४६) और 'शृङ्गार बत्तीसी' (१८५६) दो ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। 'शृङ्गार बत्तीसी' कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। उसमें 'लतिका' के बत्तीस छन्द संग्रहीत है। शृङ्गारी कवियों की परम्परा में 'द्विजदेव' के कवित्त अत्यन्त मनमोहक और चित्ताकर्षक हैं। उनकी रचनाओं में सरसता और भाव-प्रवणता मिलती है। उनकी भाषा में स्वच्छता और सौष्ठव है और व्यर्थ के अलंकारों की झनझनाहट नहीं मिलती। 'शृङ्गार लतिका' में षट्ऋतु-वर्णन अच्छा हुआ है। उनकी रचना का एक नमूना नीचे दिया जाता है :

'चित-चाँहि अबूझ कहैं कितने, छबि-छीनी गयंदन की टटकी।
कवि केते कहैं निज बुद्धि उदै, यदि सीखी मरालन की मटकी॥
'द्विजदेव' जू ऐसे कुतरकन मैं, सब की मति यौं हीं फिरै भटकी।
वह मंद चलै किन भोरी भटू! पग लाखन की अँखियाँ अटकी॥'[१]

सरदार कवि काशीनरेश ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह के आश्रित रहते थे। ललितपुर के हरिजन कवि के पुत्र थे। 'अजान कवि' (१८६२ में

---

[१] 'शृङ्गार लतिका सौरभ', २७२, पृ० २७२

जन्म) ने 'कविकीर्तिकलानिधि' (१८६२) में सन् १८७७ ई० उनका वर्ष (?) दिया है। खोज रिपोर्ट (१६०६-१६११) में उनका रचना-काल १८४५ माना है। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने उसे १८४५ से १८८३ तक माना है। खोज रिपोर्ट के अनुसार सरदार कवि १८८३ में जीवित थे। उन्होंने नायक-नायिका-भेद, रस आदि पर ग्रन्थ-रचना कर अपनी साहित्य-मर्मज्ञता का परिचय दिया है। 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया', 'बिहारी सतसई', 'सूर के दृष्टि-कूट', 'मानस-रहस्य' आदि पर उनकी टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। उनके संग्रह-ग्रन्थों में 'शृङ्गार-संग्रह' और 'षट्ऋतुप्रकाश' अत्यन्त विख्यात हैं। 'षट्ऋतुप्रकाश' का सरदार और उनके शिष्य नारायणदास कवि ने संग्रह किया है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त उन्होंने 'साहित्य सरसी', 'हनुमतभूषण', 'तुलसीभूषण', 'मानसभूषण', 'व्यंग्य-विलास', 'रामरत्नाकर' 'रामरसजंत्र' 'साहित्य-सुधाकर', 'रामलीला प्रकाश' और 'वाग्विलास' ग्रन्थों की रचना भी की। 'शृङ्गार-संग्रह' (सरदार), 'सुन्दरी तिलक' (भारतेन्दु), 'साहित्य रत्नाकर' और 'साहित्य-प्रभाकर' संग्रह-ग्रन्थों में उनके कवित्त मिलते हैं।

पुरानी परिपाटी के अनुसार रचना करनेवाले अन्य प्रमुख कवियों में लाल त्रिलोकीनाथ सिंह 'भुवनेश', गौरीप्रसाद सिंह, गोविन्द कवि गिल्ला-भाई (१८४८ में जन्म), दासापुर के द्विज बलदेवप्रसाद (१८४०-१६०४ के लगभग), महन्त जानकीप्रसाद उपनाम रसिकबिहारी रसिकेश (१८४४ में जन्म), सन्तोष सिंह शर्म, ठाकुर जगमोहन सिंह, नकछेदी तिवारी 'अजान कवि', द्विज बेनी, गदाधर कवि (कवि पद्माकर के पौत्र और १८६८ में मृत्यु), असनी के लाल कवि, राय शिवदास कवि, शाह कुन्दनलाल 'ललित-किशोरी' (१८७३ में मृत्यु), शिवनाथ द्विवेदी, लछिराम (१८५६-१८६८ र० का०), चन्द्रशेखर वाजपेयी, गोकुलनाथ (रघुनाथ कवि के पुत्र), ठाकुर गणेशबख्श सिंह और जगन्नाथदास 'रत्नाकर' के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। अन्य छोटे-छोटे कवियों में हम पडरौना के ईश्वरप्रतापनारायण राय, राम जू उपाध्याय, श्रीकृष्ण लालाजी, कवि नन्दराम, महाराजकुमार नर्मदेश्वर-प्रसाद सिंह 'ईश' (जगदीशपुर के), द्विज कवि, हरिशंकर सिंह, दिवाकर भट्ट, गजाधरप्रसाद शुक्ल शर्मा 'द्विज शुक्ल', बलभद्र मिश्र (ओरछा), गंगाधर उप-नाम 'द्विजगंग' शर्मा (दासापुर के द्विज बलदेव के पुत्र), सुखदेव मिश्र, श्यामसुन्दर 'श्याम' (कवि मन्नालाल के पुत्र), अयोध्यानाथ 'अवधेश', अम्बाशंकर, गोस्वामी किशोरीलाल, गोस्वामी कन्हैयालाल जी, छेदी कवि, जगन्नाथप्रसाद 'सागर', महाराजकुमार गुरुप्रसाद सिंह, मन्नूलाल, सिद्ध कवि,

हनुमानप्रसाद, सर रावणेश्वरप्रसाद सिंह, शिवनन्दन सहाय, बचई चौबे उपनाम 'रसीले', शिवप्रसाद 'शिव' (रामनगर), रामकृष्ण वर्मा आदि की गणना कर सकते हैं। इनमें से कुछ कवियों की तो स्वतन्त्र रचनाएँ प्राप्त हैं, परन्तु अधिकांश के केवल स्फुट कवित्त-सवैए संग्रह-ग्रन्थों में मिलते हैं। उन्हीं से उनका काव्य-कौशल ज्ञात होता है। पुरानी परिपाटी के और भी अनेक शृङ्गारी कवियों के नाम मिलते हैं। परन्तु उनके विवरण या उनकी रचनाओं के नाम नहीं मिलते। इन कवियों ने पुरानी परिपाटी को बनाये रक्खा। बहुत खोजने के बाद इस साहित्य-सागर में कुछ रत्न भी हाथ लग जाते हैं। वास्तव में ये कवि दिनभर मधु-सञ्चय करने के बाद थकी हुई मक्खियों के जमघट के समान हैं।

अब तक हमने केवल उन्हीं कवियों का अति सूक्ष्म परिचय दिया है जिन्होंने पुरानी परिपाटी की ही कविता की। लेकिन जैसा कि पहले कहा जा चुका है एक श्रेणी उन कवियों की भी थी जिन्होंने एक ओर तो साहित्य की नवीन प्रगति में योग दिया और दूसरी ओर प्राचीन काव्य-परम्परा का भी निर्वाह किया। वैसे भी यदि देखा जाय तो ऐसा कवि कोई न मिलेगा जिसने प्राचीन काव्य-परम्परा बनाये रखने में थोड़ा-बहुत योग न दिया हो। बिल्कुल ही नवीन परिपाटी के कवि का कोई उदाहरण नहीं मिलता। हाँ, बालमुकुन्द गुप्त अपवाद स्वरूप अवश्य माने जा सकते हैं। ऐसे कवियों का संक्षेप में नीचे उल्लेख किया जाता है।

इस काल में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एक महान् साहित्यिक सङ्गम के समान हैं जहाँ साहित्य की प्राचीन धाराएँ मिल कर एक नवीन साहित्यिक धारा को जन्म देती हैं। उनमें जगनिक, कबीर, सूर, मीरा, देव और बिहारी आदि सभी मूर्तिमान दृष्टिगोचर होते हैं। उनका जन्म एक वैष्णव वंश में हुआ था। उनके पिता की अपने काल के बड़े कवियों में गणना की जाती थी। कवि-समाज उनके यहाँ प्रतिदिन लगा रहता था। ऐसी दशा में प्राचीनता से मोह तोड़ देना भारतेन्दु के लिये कोई आसान काम नहीं था। साथ ही वे उसके गुलाम भी नहीं थे। वे दिन-रात कवियों की सङ्गति में बैठे रहते थे। उन्होंने अनेक कवि-समाज स्थापित किये जहाँ प्राचीनता को लिये हुए समस्या-पूर्ति हुआ करती थीं। उन्होंने शृङ्गार रस के बड़े ही मनोहर कवित्त और सवैए कहे हैं जिनमें विलासिता की बू नहीं है। 'प्रेम-माधुरी' (१८७५), 'प्रेम-तरङ्ग' (१८७७), 'प्रेम-प्रलाप' (१८७७), 'प्रेम-फुलवारी' (१८८३)

आदि में उनके अत्यन्त सुन्दर कवित्तों, सवैयों और पदों का संग्रह है। 'भारतेन्दु ग्रन्थावली' (ना० प्र० स०), द्वितीय खण्ड, में सम्मिलित 'स्फुट कविताएँ' में भी उनके अच्छे कवित्त और सवैया मिलते हैं। वास्तव में यदि 'द्विजदेव' और भारतेन्दु इस काल के सर्वश्रेष्ठ कवि कहे जायँ तो कोई अत्युक्ति न होगी। भारतेन्दु की ब्रजभाषा अत्यन्त शुद्ध और स्वच्छ है। उसमें प्रादेशिक प्रयोग, शब्दों की तोड़-मरोड़ आदि दोष नहीं मिलते। उन्होंने 'अपने रसीले सवैयों में जहाँ तक हो सका बोलचाल की ब्रजभाषा का व्यवहार किया। इसी से उनके जीवनकाल में ही उनके सवैए चारों ओर सुनाई देने लगे।' उनकी भाषा मधुर और प्रसादगुणपूर्ण है। उनकी सुन्दर कविता के कुछ उदाहरण नीचे उद्धृत किये जाते हैं :

'एक ही गाँव में बास सदा घर पास इहौ नहि जानती हैं।
पुनि पाँचएँ सातएँ आवत जात की आस न चित्त में आनती हैं।
हम कौन उपाय करैं इनको 'हरिचन्द' महा हठ ठानती हैं।
पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अँखियाँ दुखियाँ नहिं मानती हैं ॥४२॥'[1]

'उमड़ि उमड़ि दृग रोअत अबीर भए
मुख-दुति पीरी परी बिरह महा भरी।
'हरीचन्द' प्रेम-माती मनहुँ गुलाबी छकीं
काम झर झाँकरी-सी दुति तन की करी।
प्रेम-कारीगर के अनेक रंग देखौ यह
जोगिआ सजाए बाल बिरिछ तरे खरी।
आँखिन में साँवरी हिए मैं बसे लाल वह
बार बार मुख तें पुकारत हरी हरी ॥१२१॥'[2]

'तू केहि चितवत चकित मृगी सी।
केहि ढूँढ़त तेरो कह खोयो क्यों अकुलात लखाति ठगी सी।
तन सुधि करि उघरत ही आँचर कौन व्याध तू रहति खगी सी।
उत्तर देत न खरी जकी ज्यों मद पीये कै रैनि जगी सी।
चौंकि चौंकि चितवति चारिहु दिसि सपने पिय देखति उमँगी सी।
भूलि बैखरी मृग सावक ज्यों निज दल तजि कहुँ दूरि भगी सी।

[1] 'प्रेम-माधुरी' (भा० ग्रं०), पृ० १२५
[2] वही, पृ० १०३-१०४

करति न लाज हाट-बारन की कुल-मर्यादा जाति डगी सी।
'हरीचन्द' ऐसेहि उरझी तो क्यों नहिं डोलत संग लगी सी ॥५६॥'[१]

उनके कवित्त और सवैए प्रायः सभी प्राप्य संग्रह-ग्रन्थों में मिलते हैं। भारतेन्दु के अतिरिक्त इस श्रेणी के शृङ्गारी कवियों में रामकृष्ण वर्मा 'बलवीर' या 'बीर कवि', उपाध्याय बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास और ठाकुर जगमोहन सिंह के नाम प्रमुख रूप से लिये जा सकते हैं। इन कवियों ने ब्रजभाषा में शृङ्गार की सरस, हृदयग्राहिणी और मार्मिक कविताएँ की हैं। समस्या-पूर्ति भी ये कवि अच्छी करते थे। श्रीधर पाठक भी ब्रजभाषा में प्राचीन ढंग की कविता किया करते थे[२]।

यह पहले कहा जा चुका है कि प्राचीन परिपाटी के शृङ्गारी कवियों ने रस, अलंकार, छन्दशास्त्र आदि की आड़ में शृङ्गार का ही वर्णन किया है। उनका रीति का सहारा लेना केवल परम्परा का अनुकरणमात्र है। अतः उनको रीति के आचार्य न मानकर शृङ्गारी कवि मानना अधिक संगत होगा। उदाहरण के लिये हम शुकदेव कवि कृत 'श्रीरसार्णव' (१८६०) और गोकुलनाथ कवि कृत 'चेतचन्द्रिका' नामक दो ग्रन्थ ले सकते हैं। उनमें शृङ्गार-वर्णन की उमङ्ग और उत्साह में आचार्यत्व दिखाई ही नहीं देता। मुख्य विषय, क्रमशः रस और अलंकारों का निरूपण, पिछड़ गया है। यही दशा अन्य अनेक रीति-विषयक कहे जाने वाले ग्रन्थों की है।

परन्तु तो भी काव्य-शास्त्र-विषयक शास्त्रीय ढंग पर रचे गये ग्रन्थों का नितान्त अभाव नहीं रहा। उनमें काव्यत्व को प्रमुख स्थान नहीं दिया गया। ये ग्रन्थ विवेचनात्मक और प्रौढ़ हैं। रस-ग्रन्थकारों में से अयोध्या के महाराज प्रतापनारायण सिंह : 'रसकुसुमाकर' (१८६२); अलङ्कारशास्त्रियों में कविराजा मुरारिदान : 'जसवन्तभूषण' (१८६३); गङ्गाधर 'द्विजगङ्ग' : 'महेश्वरभूषण' (१८६५); और कन्हैयालाल पोद्दार : 'अलङ्कारप्रकाश' (१८६६) और पिंगल-ग्रन्थकारों में गदाधर भट्ट : 'छन्दोमञ्जरी', के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन ग्रन्थों में संस्कृत की शैली पर वर्ण्य विषय का सर्वाङ्गीण और आचार्यत्व की दृष्टि से विवेचन किया गया है। कविराजा

---

[१] 'स्फुट कविताएँ' (भा० ग्रं०), पृ० ८४४

[२] दे०, 'मनोविनोद'

मुरारिदान और. 'द्विजगङ्ग' को छोड़ कर अन्य ग्रन्थकारों ने लक्षण देकर हिन्दी साहित्य से चुने हुए उदाहरण दिये हैं। लक्षण अधिकतर पद्य में ही दिये गये हैं। परन्तु गद्य का विकास हो जाने के कारण अनेक बातें गद्य में भी स्पष्ट कर दी गई हैं। केवल 'द्विजगङ्ग' ने ऐसा नहीं किया। अपने-अपने विषय-निरूपण में उन्होंने मम्मट, रुद्रट, पण्डितराज जगन्नाथ, रुय्यक आदि संस्कृत के आचार्यों में से किसी एक का आधार लिया है। अलङ्कार-विषयक ग्रन्थ अधिकतर मम्मट और पण्डितराज जगन्नाथ के आधार पर लिखे गये हैं। पूर्व वर्णित प्रसिद्ध ग्रन्थकारों के अतिरिक्त गिरिधरदास कविराज : 'भारती-भूषण' (१८८०); जाजगऊ के दत्त कवि 'लालित्यलता'-अलं० ; रामचन्द्र दास शर्वरी कायस्थ : 'नवरसतरङ्ग' (१८८६, रस); कवि रघुवरदयाल दुर्ग : 'छन्दरत्नमाला' (१८५५); राम जू उपाध्याय : 'काव्य-संग्रह पञ्चाङ्ग' (१८७७, छन्द); जगन्नाथप्रसाद दुबे : 'गणप्रदीप' (१८८५), और महाराजकुमार रामकिङ्कर सिंह : 'छन्द-भास्कर' (१८९१) के नाम भी उल्लेखनीय हैं। परन्तु इन ग्रन्थकारों की रचनाएँ सर्वांगीण नहीं हैं। वे प्राथमिक ढंग की छोटी और कामचलाऊ हैं। रीति-ग्रन्थकारों में प्रताप-नारायण सिंह, कविराजा मुरारिदान और कन्हैयालाल पोद्दार ने अवश्य खड़ीबोली गद्य का प्रयोग किया है जिसमें ब्रजभाषा का पुट भी है। नहीं तो अन्य रीतिकारों ने भाषा और छन्द के चुनाव में शृङ्गारी कवियों का अनुसरण किया है। अच्छे और वैज्ञानिक ढंग पर लिखे गये रीति-ग्रन्थों की रचना के लिये अध्ययन और परिश्रम की आवश्यकता थी। शृङ्गार की उमङ्ग में यह कब सम्भव था। इसीलिए इस काल में रीति-ग्रन्थों की रचना का अधिक प्रचार न हो सका।

भक्ति-काव्य—

भक्ति-काव्य के विषय में पहले से यह कह देना उचित जान पड़ता है कि वह भक्तिकाल की रचनाओं का अनुकरणमात्र और उनकी अपेक्षा अत्यन्त शिथिल और हीन है। यद्यपि अब भी अनेक नये धार्मिक सम्प्रदाय जन्म ले रहे थे, तो भी वैष्णव और शैव सम्प्रदायों का ही अधिक ज़ोर था। राम और कृष्ण की भक्ति के अतिरिक्त अब के कवियों ने दास्य और विनय भावनाओं से प्रेरित होकर अन्य देवी-देवताओं, जैसे, भैरव, दुर्गा, काली, आदि तथा लीलाओं और तीर्थक्षेत्रों, जैसे, वृन्दावन, मथुरा, अयोध्या और गंगा, सरयू आदि पवित्र नदियों को लेकर संस्कृत की स्तोत्र-शैली पर स्तोत्र, स्तवन आदि

की रचना करना आरम्भ कर दिया था। भक्ति के इसी रूप की इस काल में विशेषता रही। विभिन्न देवी-देवताओं की स्तुति करते हुए कवियों ने पञ्चक, अष्टक, पचीसी, बत्तीसी, चालीसी आदि की रचना की है। इन रचनाओं में भक्तिकाल के आध्यात्म-दर्शन का परिचय नहीं मिलता। उनमें गाम्भीर्य नहीं हैं। वे फुटकर पदों के रूप में केवल सम्प्रदाय विशेष की नियमावली के शुष्क रूपान्तर प्रतीत होते हैं। मार्मिकता और हृदय की सच्ची अनुभूति का उनमें अभाव है। मन्दिरों की कर्मकाण्ड-प्रथा का भी उन पर यथेष्ट प्रभाव है।

कृष्ण-भक्ति के अन्तर्गत मन्दिरों में प्रचलित कर्मकाण्ड का सबसे गहरा प्रभाव इन रचनाओं में वस्तुओं के विस्तृत वर्णनों में मिलता है। वैसे तो सूर भी इस प्रभाव से नहीं बच सके, पर इस काल में इस प्रभाव ने बड़ा भद्दा रूप ग्रहण कर लिया। मन्दिरों में भोग, रूपों का शृङ्गार आदि जो कृत्य होते थे उनका इन रचनाओं में सविस्तार वर्णन मिलता है। कवियों ने लीलाओं, नखशिख, षट्ऋतु आदि का इतना विस्तृत वर्णन किया है कि तबियत ऊब जाती है। इसी प्रकार नामकरण, छठवीं, अन्नप्राशन, बधावा आदि संस्कारों, घोड़ों की सैकड़ों जातियों, तरह-तरह की वेशभूषाओं, सैकड़ों मिठाइयों, पकवानों और मेवों का वर्णन मिलता है। 'रामस्वयंवर' में महाराज रघुराजसिंह ने राम-विवाह की साधारण से भी साधारण बात नहीं छोड़ी। यह पद्धति परिमार्जित साहित्यिक रुचि के सर्वथा विरुद्ध है। महाराज रघुराजसिंह और बाबा रघुनाथदास रामसनेही में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से पाई जाती है।

कृष्ण की लीलाओं और उनके विहार ने कवियों का मन इतना मोह रक्खा था कि उनको और कुछ सूझता ही न था। लीलाओं में भी धोबिन, पनिहारिन, चुड़हारिन, मनहारिन, दर्जिन, जलविहार, मनविहार, दानलीला, मानलीला, झूलालीला, होली, कलेवा आदि हीन लीलाओं का अधिक वर्णन है। भक्त और शृङ्गारी कवियों में ये वर्णन समान रूप से पाये जाते हैं। परन्तु शृङ्गारी कवियों ने शृङ्गार भावना को प्रधानता दी है। भक्त कवियों ने राधा-कृष्ण के स्वरूप का वर्णन पौराणिक कथाओं को लेकर मथुरा और वृन्दावन के मन्दिरों में अभिनीत लीलाओं के अनुकरण पर किया है। राम के वर्णन में अनुशासन और नियन्त्रण की आवश्यकता पड़ती है। इसीलिए कवि राम के निकट जाने में घबड़ाये हैं। कृष्ण-भक्ति के रूप का इतना प्रचार था कि अनेक कवियों ने राम को 'कन्हैया' बना कर अयोध्या की गलियों में

घुमा दिया है। गोपियों का स्थान सीता तथा अन्य राजवधुओं और उनकी सखी-सहेलियों ने ले लिया है।

मुक्तक, खण्ड और प्रबन्ध सभी काव्यों में मन्दिरों में प्रचलित तत्कालीन कर्मकाण्ड और लीलाओं का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। परन्तु प्रबन्ध-काव्यों में, और कुछ हद तक मुक्तक और खण्ड-काव्यों में भी, तत्कालीन सामाजिक जीवन का प्रभाव स्पष्ट रूप से व्यक्त है। हिन्दुओं ने मुसलमानों के अत्याचारों से पीड़ित होकर उन्हें राक्षस के नाम से पुकारना शुरू कर दिया था। साहित्य में भी इसी नाम का प्रयोग किया गया है। महाराज रघुराजसिंह ने 'रुक्मिणी परिणय' में कालनेमि के सभासदों का वर्णन मुसलमानों के रूप में किया है। वे सिर हिला-हिला कर क़ुरान पढ़ रहे हैं और उनके दाढ़ियाँ हैं। इसी प्रकार बाबा रघुनाथदास रामसनेही ने हिन्दू-मुसलमानों में छूआछूत के भेद का उल्लेख किया है। कृष्ण-सम्बन्धी गाथाओं का वर्णन करते समय इस प्रकार के काल-प्रभाव से अलग न रह सकना महाराज रघुराजसिंह और रामसनेही जैसे विद्वानों के विषय में कभी क्षम्य नहीं कहा जा सकता।

यह साहित्य भारतीय नवोत्थान से प्रभावित हुए बिना न रह सका। सबसे पहले तो स्वामी दयानन्द के खण्डन-मण्डन से जनता की रुचि तथा विचारधारा बहुत कुछ बदल गई थी। भक्ति के प्राचीन रूप का प्राचुर्य और प्राबल्य न रह गया था। इस काल के भक्ति-साहित्य के शिथिल और शोचनीय होने के कारणों में आर्य समाज आन्दोलन सबसे बड़ा कारण माना जा सकता है। दूसरे, धार्मिक और सामाजिक सुधारों के प्रति ये कवि बिल्कुल उदासीन नहीं रहे। उन्होंने बाल-हत्या, बाल-विवाह, सती-प्रथा आदि क्रूर प्रथाओं का खण्डन किया है। वे इन प्रथाओं को कलिकाल के प्रभावान्तर्गत बतला कर सर्वसाधारण को इनसे बचने और इन्हें दूर करने का आदेश देते हैं। इस विषय में महाराज रघुराजसिंह का नाम आदर के साथ लिया जा सकता है।

मुस्लिम संस्कृति और शिष्टाचार के नियम राजा-महाराजाओं के उच्चवर्गीय हिन्दू-समाज में प्रविष्ट हो चुके थे। इसका परिचय हमें अधिकांश में महाराज रघुराजसिंह की रचनाओं में मिलता है। 'रुक्मिणी परिणय' के कृष्ण-रुक्मिणी-विलास के प्रसंग में कमरे की सजावट शाही रंगमहलों के शयनागारों जैसी है। 'रामस्वयंवर' में उन्होंने नमस्कार या प्रणाम के स्थान पर 'सलाम' का प्रयोग भी किया है। राम और कृष्ण के प्रसङ्ग में यह काल-प्रभाव उसी

प्रकार असङ्गत मालूम देता है जिस प्रकार आधुनिक काल में राम या कृष्ण का बिजली के पंखे के नीचे चाय पीने बैठना। उच्चश्रेणी की साहित्यिक रचनाओं में यह बात असह्य है।

अब के राम-कृष्ण-भक्त कवियों और शृङ्गारी कवियों की रचना-शैली में कोई विशेष अन्तर नहीं है। छन्दों में दोहा, चौपाई, सोरठा, सवैया, कवित्त, मनहरण, घनाक्षरी, भुजङ्गप्रयात, मत्तगयन्द, तोटक, ताटङ्क, छप्पय, बरवै आदि छन्दों का ही अधिकतर प्रयोग हुआ है। नये छन्दों में ख्याल वा लावनी, कजली, रेख़ता, ग़ज़ल और मलार (बारहमासी) का व्यवहार होने लगा था। कजली में राम-कृष्ण की शृङ्गारमयी लीलाओं का वर्णन किया गया है। विविध राग-रागनियों में कवियों ने पद भी लिखे हैं। धार्मिक वाद-विवादों में लावनी का रिवाज़ चल पड़ा था। वैसे प्रतापनारायण मिश्र तथा अन्य कवियों ने भी लावनियाँ लिखी हैं, पर उनका प्रचार अधिकतर निम्नश्रेणी के अर्द्धशिक्षित लोगों तक ही सीमित था। लावनियों और ग़ज़लों को इसीलिए बहुतेरे लोग घृणा और उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगे थे। उनमें साहित्यिक सौष्ठव और सरसता का अभाव है। इस काल के सबसे प्रसिद्ध लावनी-लेखक काशीगिरि बनारसी आशक़ेहक़ानी थे। भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, श्यामाचरण मुखोपाध्याय जैसे लेखकों ने लावनी को सर्वसाधारण में प्रचलित उसके विकृत और घृणित रूप से बहुत कुछ बचाये रक्खा।

जैसा कि पहले कहा चुका है भक्त कवियों ने कृष्ण की सरस लीलाएँ लेकर मुक्तक-काव्य की रचना ही अधिक की है या उन्होंने देवी-देवताओं, पवित्र स्थानों, जन्मस्थानों और लीलाक्षेत्रों की (स्तवन, स्तोत्र, पञ्चक, अष्टक आदि के रूप में) महिमा का गान किया है। साथ ही राम-कृष्ण की आड़ में सवैया वाली शैली में उन्होंने अपनी शृङ्गारिक मानसिक वृत्तियों और भावनाओं का प्रदर्शन भी किया है। वर्णनात्मक प्रबन्धकथाकारों में रीवाँ के महाराज रघुराजसिंह और बाबा रघुनाथदास रामसनेही अधिक प्रसिद्ध हैं। इन दोनों में महाराज रघुराजसिंह का स्थान ऊँचा है। राम-भक्त कवियों ने भी मुक्तक-काव्य की रचना के अतिरिक्त प्रबन्ध-काव्य लिखे हैं। अन्य कवियों ने भी पुराणों या रामायण या महाभारत के आधार पर प्रबन्ध-कथाओं की रचना की। ऐसे कवियों में लखनऊ के बालमुकुन्द वैश्य, जालौन के हज़ारीलाल, पण्डित बैजनाथ, गङ्गाराम मिश्र 'रामगङ्ग', 'राम कवि', पण्डित ललनपिया और कवि दलपतराम डाहिया 'ब्रज' ही उल्लेखनीय

ठहरते हैं। खण्ड-काव्य के रचयिताओं में ठाकुर महेश्वरबख्श सिंह, श्यामबिहारी मिश्र 'शिरमौर' और ईश्वरी द्विज की रचनाएँ विशेष आदरणीय हैं। पौराणिक चरित्रों और कथाओं के अतिरिक्त ऐतिहासिक चरित्रों, जैसे, गौराङ्ग, जयदेव, शङ्कर, दयानन्द आदि के विषय में भी रचनाएँ हुईं। परन्तु उनमें कोई साहित्यिक विशेषता नहीं पाई जाती। मुक्तक, खण्ड और प्रबन्ध-काव्य के कवियों ने चौपाई, दोहा, सोरठा, कवित्त, सवैया, पद, भुजङ्गप्रयात, मत्तगयन्द, शिखरिणी, द्रुतविलम्बित, तोटक आदि का प्रयोग किया है। प्रबन्धकारों का कृष्ण की अपेक्षा राम की ओर अधिक ध्यान गया। राम का समन्वयकारी जीवन ही प्रबन्ध-रचनाओं के उपयुक्त ठहरता है। परन्तु उनमें साहित्यिक पटुता बहुत कम मिलती है।

भक्त-कवियों की भाषा ब्रज है जिसमें पूर्वी हिन्दी, फ़ारसी, और अरबी के शब्द भी पाये जाते हैं। केवल बाबा रघुनाथदास ही एक ऐसे कवि हुए हैं जिन्होंने पूर्वी हिन्दी (अवधी) में सफलतापूर्वक रचना की है। नहीं तो, कुछ ऊँची श्रेणी के कवियों को छोड़ कर, अन्य सभी कवियों की भाषा में पूर्वी, खड़ीबोली, अरबी, फ़ारसी आदि का अजीब मिश्रण मिलता है। लावनी, ग़ज़ल, रेख़ता आदि की भाषा यद्यपि अरबी-फ़ारसी शब्दों से मिश्रित खड़ीबोली है, तो भी उसमें प्रादेशिक बोलियों का पुट पाया जाता है। भाषा और व्याकरण के वैज्ञानिक रीति से अध्ययन की अनुपस्थिति में भाषा-विषयक गड़बड़ी होना अनिवार्य था।

इस समय आर्य समाज के अतिरिक्त भारतवर्ष में और भी अनेक धार्मिक वर्ग अथवा सम्प्रदाय थे। उनमें से अधिकांश प्राचीन काल से चले आ रहे थे या कुछ दिन पहले ही स्थापित हुए थे और उनकी स्थापना अब्राह्मणों द्वारा हुई थी। अठारहवीं शताब्दी में जगजीवन दास ने सतनामी पन्थ चलाया था। उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग मध्य में अन्धे सन्त तुलसीदास ने हाथरस में अपने पन्थ (कुदा) की स्थापना की थी। परन्तु ठीक इसी काल में स्थापित सबसे बड़ा पन्थ राधास्वामी सतसङ्ग था। उसकी स्थापना १८६१ में तुलसीराम अथवा शिवदयाल साहब (१८१८-१८७८) के द्वारा आगरे में हुई थी। वे बैङ्कर और जाति के क्षत्रिय थे और वैष्णवमत के अनुयायी थे। उनके गुरु का नाम तुलसी साहब था। दयाल साहब की मृत्यु हो जाने पर द्वितीय गुरु राय सालिगराम साहब बहादुर (१८२८-१८९८) १८७८ में गद्दी पर बैठे। १८९८ में ब्रह्माशंकर मिश्र

(१८६१-१६०७) गद्दी पर विराजे। 'राधास्वामी' शब्द परब्रह्म का द्योतक है जो सन्त सतगुरु के रूप में अवतरित होता है। इस मत में गुरु और शब्द की महिमा विशेष रूप से गाई गई है। अनेक बातों में यह मत कट्टर हिन्दू धर्म से अलग है। परन्तु साथ ही बहुतेरी बातें हिन्दू धर्म से ही अपनाई गई हैं। राधास्वामी मत में जाति का भेदभाव नहीं है। भौतिकता से आध्यात्मिता की ओर अग्रसर होना उसका मुख्य ध्येय है। इन सब पन्थों ने गुरु की महिमा का वर्णन किया है, यह बात ध्यान में रखने की है।

इन पन्थों के गुरुओं और अनुयायियों ने हिन्दी में परम्परा के अनुसार काव्य-रचना की है। जगजीवनदास और तुलसीदास की रचनाएँ प्रसिद्ध ही हैं। सत्संग के प्रथम गुरु ने 'सार बचन' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। दूसरे गुरु ने 'प्रेमपत्र' और 'प्रेमवाणी' नामक ग्रन्थों की रचना की। कहते हैं तीसरे गुरु ने भी हिन्दी में कविता की थी। गुरु नानक के सहज-गम्भीरीय सम्प्रदाय के अन्तर्गत स्वामी विष्णुदास ने 'श्री गहिरगम्भीर-सुखागार ग्रन्थ' (१८६७ के लगभग) की रचना की जिसमें सम्प्रदाय के नियमों आदि का सविस्तार उल्लेख है। ये सब रचनाएँ ज्ञानाश्रयी भक्ति या सन्त-काव्य के अन्तर्गत आती हैं। परन्तु इनमें साहित्यिक सौन्दर्य का अभाव है। इनकी भाषा मिश्रित है और इन कवियों ने दोहा, कवित्त, सवैया, पद (राग-रागनियाँ) आदि का व्यवहार किया है।

वैसे तो प्रायः सभी भक्त कवियों ने नीति और भक्ति के स्वरूप के विषय में कुछ न कुछ कहा है, पर कुछ कवियों ने नीति और भक्ति पर स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना भी की। उन्होंने अत्यन्त सरल और सुबोध रीति से भक्ति का स्वरूप समझाया है और वृन्द, रहीम आदि कवियों की रीति पर नीति-वाक्य भी कहे हैं। ऐसी रचनाओं में महाराज रघुराजसिंह कृत 'भक्ति-विलास' (१८७१) और काशी के रसमयसिद्ध कृत 'सिद्धमनोरञ्जन' और 'सिद्धिरहस्य' विशेष आदरणीय हैं। महाराज रघुराजसिंह ने कवित्त, घनाक्षरी, सवैया और कहीं-कहीं दोहों का और रसमयसिद्ध ने दोहा और चौपाई छन्दों का प्रयोग किया है। महाराज रघुराजसिंह का नीति और भक्ति के विषय के लिये छन्द-चयन उपयुक्त नहीं ठहरता। राजा शिवप्रसाद ने भी चाणक्य-नीति का 'नीतिसार' के नाम से हिन्दी दोहों में अनुवाद किया। उसके पहले सोलह दोहे राजा साहब द्वारा सम्पादित 'गुटका', भाग २, में मिलते हैं। वैसे भी चाणक्य-नीति, भर्तृहरि-नीति, लोकनीति, राजनीति आदि के अनुवाद या

उन पर स्वतन्त्र रचनाएँ होती रहती थीं। उनमें साहित्यिक सौष्ठव की आशा करना दुराशामात्र है।

भक्ति-काव्य की सूक्ष्म समीक्षा के बाद हम इस काल के मुख्य-मुख्य भक्त कवियों का संक्षिप्त परिचय दे देना आवश्यक समझते हैं।

कृष्ण-काव्य : मुक्तक—

कृष्ण की सरस लीलाओं को लेकर अनेक कवियों ने मुक्तक-काव्य की रचना की। परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उसमें बहुत कम रचनाएँ ऐसी हैं जिनकी हम साहित्यिक कोटि से गणना कर सकते हैं। प्रायः सभी में एक ही बात का पिष्टपेषण पाया जाता है। तो भी महाराज रघुराजसिंह कृत 'रघुराजविलास' (१८६० में लखनऊ से प्रकाशित) और 'भ्रमरगीत' आदरणीय रचनाएँ ठहरती हैं। उन्होंने राम और कृष्ण में कोई भेद न रख कर 'रघुराजविलास' की रचना की है। उसमें उन्होंने पदों में कृष्ण की लीलाओं का वर्णन किया है और वर्ण्य विषयों में झूलना, हिंडोला, बाल्यावस्था, होली, नखशिख आदि विषय रक्खे हैं। राम भी कृष्ण के रूप में हमारे सामने आते हैं। इस रचना में शृङ्गार कविता का प्रभाव स्पष्ट है। उनका 'भ्रमरगीत' भागवत के दशम स्कन्ध के अनुवाद 'आनन्दाम्बुनिधि' (१८५३) का एक भाग है।

भक्ति-सम्बन्धी मुक्तक-काव्य के रचयिताओं में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का नाम भी आदरपूर्वक लिया जा सकता है। 'सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधारानी के' कहनेवाले इस परम भक्त कवि की भक्ति संकुचित और सीमित नहीं थी। वे अन्य मतों और सम्प्रदायों का भी समान रूप से आदर करते थे। उन्होंने राधा-कृष्ण की भक्ति के अनेक सरस और मनोहर पद और कवित्त-सवैए लिखे हैं जिनका परिचय हमें 'भक्त-सर्वस्व' (१८७०), 'प्रेम-मालिका' (१८७१), 'प्रेमाश्रु-वर्षण', (१८७३), 'प्रेम-प्रलाप' (१८७७) 'रागसंग्रह' (१८८०), 'मधु-मुकुल' (१८८०), 'विनय-प्रेम-पचासा' (१८८१) आदि ग्रन्थों से मिलता है। सन्त और वैष्णव कवियों की शैली पर उनके भक्ति-विषयक बड़े ही रसीले पद मिलते हैं। उनकी रचनाओं में गाम्भीर्य के साथ-साथ हृदय की सच्ची अनुभूति और भावावेश मिलता है। उनमें परम भक्त का परम हृदय प्रतिविम्बित है। और उन्नीसवीं शताब्दी के वे ही एक ऐसे कवि हैं जिनकी रचनाओं में वैष्णव-काव्य का गीति-तत्व स्वाभाविक और सुन्दर रूप में पाया जाता है। भारतेन्दु आर्य समाज के

अनेक विचारों से सहमत नहीं थे। लेकिन वेदों को शायद वे किसी भी आर्य समाजी से अधिक श्रद्धा और आदर की दृष्टि से देखते थे। साथ ही उन्होंने पौराणिक मत का भी विरोध नहीं किया। मूर्ति-पूजा, गङ्गा-माहात्म्य, तीर्थ-माहात्म्य आदि पर भी उन्होंने रचनाएँ कीं, जैसे, 'वैशाख-माहात्म्य' (१८७२ ?), 'कार्तिक-स्नान' (१८७२), 'श्री राम-लीला' (१८७६) आदि। भारतेन्दु जैसे रसिक व्यक्ति के लिये शुष्क और नीरस आर्य समाज में आकर्षण ही क्या था।

कृष्ण-काव्य : प्रबन्ध—

प्रबन्धों में महाराज रघुराजसिंह कृत 'रुक्मिणी परिणय' (१८५०) स्तुत्य रचना है। वह महाकाव्य है और उसकी रचना का आधार भागवत पुराण है। उसमें कृष्ण-जन्म से लेकर रुक्मिणी-विवाह तक की कथा का वर्णन है। भागवत के अनुकरण पर राधा-कृष्ण का विलास, विरह, षट्ऋतु, नखशिख, होली, जल-विहार आदि का वर्णन भी किया गया है। अन्त में भागवत पुराण की कथा का संक्षिप्त परिचय भी है। कथा का वर्णन कवित्त, सवैया, झूलना, बरवै, रोला, बसन्ततिलका, गीत, घनाक्षरी, गीतिका आदि छन्दों में किया गया है। रौद्र और भयानक के साथ शृंङ्गार, शान्त और वीर रसों का अच्छा परिपाक हुआ है। नायक धीरोदात्त है। प्रकृति-वर्णन भी अच्छे मिलते हैं।

राम-काव्य : मुक्तक—

राम-कथा लेकर कवियों ने मुक्तक-शैली में कम रचनाएँ की हैं। राम का जीवन प्रबन्ध या महाकाव्य के अधिक उपयुक्त है। महाराज रघुराजसिंह कृत 'रघुराजविलास' में राम-सम्बन्धी मुक्तक पद मिलते हैं। परन्तु उसमें राम को कृष्ण का रूप दे दिया गया है। 'रघुराजविलास' के राम मानस के राम से भिन्न हैं। वे कृष्ण की तरह अयोध्या और मिथिला की गलियों में विविध रागरंग मचाते फिरते हैं। कृष्ण की आड़ में रची गई शृङ्गार रचनाओं का राम-भक्ति पर प्रभाव पड़े बिना न रह सका या कहिए मर्यादा पुरुषोत्तम राम के जीवन का संयम भारत के दुर्दिनों में असह्य हो उठा था।

राम-काव्य : प्रबन्ध—

राम-प्रबन्ध-काव्यों में महाराज रघुराजसिंह कृत 'रामस्वयंवर' बहुत प्रसिद्ध है। दो वर्ष के परिश्रम के बाद १८७७ में वह सम्पूर्ण हुआ था।

उसकी रचना काशी के महाराजा ईश्वरीप्रसाद सिंह की इच्छानुसार रामनगर में होनेवाली रामलीला में गाये जाने के लिये वाल्मीकि रामायण के आधार पर हुई थी। रचना-शैली तुलसी कृत रामायण के समान है। उसके अधिकांश भाग में राम और उनके भाइयों का विवाह-वर्णन है। इसीलिए उसका नाम 'रामस्वयंवर' रक्खा गया है। करुणरस अरुचिकर मालूम होने के कारण कवि ने राम-बनवास, सीताहरण आदि प्रसङ्गों का अति संक्षेप में वर्णन कर दिया है। रसों में शृङ्गार और वीर रस प्रधान हैं। वीर रस अच्छा लगने की वजह से ही लंका के प्रसङ्ग विस्तारपूर्वक कहे गये हैं और 'राम-शिकारशतक' एक छोटा-सा ग्रन्थ भी जोड़ दिया गया है। क्योंकि इस ग्रन्थ की रचना रामलीला में गाये जाने के लिये हुई थी, इसलिए उसमें चौबोला छन्द को प्रधानता दी गई है। उसके अतिरिक्त चौपाई, दोहा, घनाक्षरी सोरठा आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है। विवाह का वर्णन करते समय कवि षट्ऋतु, नखशिख आदि विषय भूला नहीं है। इस ग्रन्थ से महाराज की वर्णनात्मक शक्ति का अच्छा परिचय मिलता है। राम का बाल-वर्णन, जनक-वाटिका, हनुमान का समुद्र लाँघना, लंका-दहन, मृगया, पावस, वसन्त आदि के अति सुन्दर, उपयुक्त और मार्मिक वर्णन हुए हैं।

'रुक्मिणी परिणय' और 'रामस्वयंवर' दोनों में घोड़ों, भोजन, अस्त्र-शस्त्र, कपड़ों आदि वस्तुओं के बड़े विस्तृत वर्णन मिलते हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है, सुन्दर साहित्यिक कृतियों में यह प्रवृत्ति अवाञ्छनीय है।

बाबा रघुनाथदास रामसनेही रामानुज सम्प्रदाय के अनुयायी थे। उन्होंने १८५४ में 'विश्रामसागर' नामक विशद और सुन्दर ग्रन्थ की रचना की। यह तीन खंडों में विभाजित है। प्रथम खंड में पौराणिक कथाओं, नवधा भक्ति, शास्त्रीय बातों और वाल्मीकि, गज, यवन, ध्रुव, प्रह्लाद, अम्बरीष, चन्द्रहास आदि भक्तों का वर्णन है। द्वितीय खंड में कृष्ण-चरित्र, कृष्ण-जन्म से रुक्मिणी-विवाह और प्रद्युम्न के जन्म तक की कथा और तृतीय खंड में तुलसी के आधार पर राम-चरित्र वर्णित है। इस काल में अवधी भाषा में लिखा गया एक यही अच्छा ग्रन्थ मिलता है।

भक्ति के इस पुरातन स्वरूप के साथ-साथ भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, श्रीधर पाठक, अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', बालमुकुन्द गुप्त और राधाकृष्णदास की रचनाओं में यत्रतत्र विनय और भक्ति का एक नवीन रूप भी मिलता है। अब तक भक्तों में

व्यक्तिगत कल्याण-भावना ही प्रमुख रहती थी। परन्तु उपर्युक्त कवि दुर्गा, राम, कृष्ण, भवानी आदि की स्तुति में देश के कल्याण और हित की भीख माँगते हैं। यह नवोदित राष्ट्रीय भावना की देन थी।

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त शाह कुन्दनलाल 'ललितकिशोरी' ('अभिलाषमाधुरी'), संकेतअली 'शंकर' ('संकेतलता'), हरिविलास ('हरिविलास ग्रन्थ'), द्विज बलदेवप्रसाद और गङ्गाधर अवस्थी 'द्विजगङ्ग' ('प्रेमतरंग'), धाभाई गोविन्ददास ('गुर्जरगीतमङ्गल' और 'गुणाकरवृन्द,), पण्डित नन्दलाल ('उद्यानमालिनी'), गोकुलनाथ कवि ('जुगलकिशोर-विलास'), नरायन गिरि ('जयराम-रत्नावली'), 'हरिऔध', महाराज प्रताप-नारायण सिंह ('मानदूत'), अयोध्या के महन्त रघुनाथदास ('सरयूलहरी'), बेनीमाधव उपनाम चीकू मिश्र ('दरदर क्षेत्र माहात्म्य'), राम कवि ('दरदर क्षेत्र माहात्म्य'), नकछेदी तिवारी ('सरयूलहरी'), काशी के लोकनाथ द्विवेदी ('श्रीनाथ-संग्रह' और 'नाथ-संग्रह'), महन्त जानकीप्रसाद ('विरह दिवाकर', रसरङ्गमणि ('सरयूलहरी' और 'अवधपञ्चक'), दिलीपपुर के बाबू नर्मदेश्वर-प्रसाद सिंह ('शिवाशिवशतक'), महाराज उमापति त्रिपाठी ('दोहावली रत्नावली'), सहजराम ('प्रह्लाद चरित्र'), देवदास ('अद्भुत वृन्दा-वन'), विश्वरूप स्वामी ('हरिहर निर्गुण सगुण पदावली'), औरीलाल कायस्थ ('शैवीनिधि') और जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' ('कलकाशी') के नाम उल्लेखनीय हैं। अधिकांश में उन्होंने मुक्तक-काव्य की रचना की है। भाषा, भाव, विषय और रचना-शैली में उन्होंने प्राचीन परिपाटी का ही अनुसरण किया है।

अनुवाद-ग्रन्थ—

यहाँ पर शृङ्गार और भक्ति विषयक संस्कृत रचनाओं के अनुवादों का उल्लेख कर देना भी परमोचित होगा। कवियों ने संस्कृत-ग्रन्थों, रामायण, महाभारत आदि का या तो अनुवाद किया या उनका भावाशय लेकर अपनी स्वतन्त्र रचनाएँ कीं। पुराणों का भी भाषा में अनुवाद किया गया ताकि संस्कृत न जानने वालों को पुराणों का अध्ययन करने में सुविधा हो। अनुवादकों में सीताराम 'भूप कवि' : 'मेघदूत' (१८८३), 'कुमारसम्भव' (१८८४) और 'रघुवंश' (१८८६); राजा लक्ष्मणसिंह : 'मेघदूत' (१८८२-८४); तोताराम वर्मा : 'राम रामायण' (वाल्मीकि कृत रामायण, बालकांड १८८८ अयोध्याकांड १८९८); महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'विहार

वाटिका' (१८६०, मूल लेखक जयदेव), 'ऋतु तरङ्गिणी' (१८६१, मूल लेखक कालिदास) और 'गङ्गालहरी' (१८६१, मूल लेखक पंडितराज जगन्नाथ); और ठाकुर जगमोहन सिंह : 'ऋतु-संहार' (१८८६ में द्वितीय-वार, मूल लेखक कालिदास), ने अच्छे अनुवाद किये हैं। सभी ने ब्रजभाषा और परम्परागत तथा संस्कृत छन्दों का प्रयोग किया है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'सतसई सिंगार' (१८७८) और अम्बिकादत्त व्यास ने 'बिहारी बिहार' (१८९८) के नाम से बिहारी के दोहों पर कुण्डलियाँ बाँधी हैं। सुधाकर द्विवेदी ने 'तुलसी-सुधाकर' (१८६६ में और अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने 'कबीर कुण्डल' ('काव्योपवन') में क्रमशः तुलसी और कबीर के दोहों पर कुण्डलियाँ लिखी हैं। 'हरिऔध' ने कुसुमदेव की संस्कृत रचना 'दृष्टान्त कलिका' का भी हिन्दी में अनुवाद किया है। इससे हिन्दी-कवियों के चौमुखी साहित्यिक कार्य का भली भाँति परिचय मिलता है।

वीरगाथा-काव्य—

अँगरेज़ी राज्य के स्थापित होजाने से देश में एक प्रकार से शान्ति हो गई थी। राजनीतिक व्यवस्था और सामाजिक सङ्गठन में परिवर्तन हो जाने के फलस्वरूप वीर-काव्य की रचना की कोई आवश्यकता न रह गई थी। आल्हा-शैली तो अवश्य प्रचलित थी, परन्तु आल्हा की वीरगाथा का नितान्त अभाव था। तो भी छुटे-छोटे दरबारों में अब भी कवि रहा करते थे। बूँदी के महाराज रामसिंह के यहाँ गुलाबसिंह कविराज 'गुलाब' (१८३०-१९०१) का निवास था। महाराज मानसिंह 'द्विजदेव' के दरबार में पंडित प्रवीण (१८५० र० का०) एक प्रसिद्ध कवि रहा करते थे। उन्होंने तथा द्विज बलदेव और 'द्विजगङ्ग' आदि कुछ अन्य कवियों ने अपने-अपने आश्रय-दाताओं की तारीफ़ के पुल बाँध दिये हैं। इन आश्रयदाताओं का कोई ऐतिहासिक महत्त्व नहीं है। मुक्तक-काव्यान्तर्गत इन रचनाओं में कोई साहित्यिक सौन्दर्य भी नहीं है। उन्हें हम साहित्य की स्थायी सम्पत्ति नहीं कह सकते। वैसे भी उन्हें वीर-काव्य कहना अनुचित है। वीर-काव्य की परम्परा भक्तिकाल के बाद शिथिल हो चली थी। इस काल में आकर वह लुप्तप्राय हो गई।

अस्तु, प्राचीन परम्परा को बनाये रखने और नवीन प्रभावों से बाहर रहने के कारण कविता की पुरानी धारा की सृष्टि होती रही। जैसा पहले

बताया जा चुका है, यह नियम सभी कवियों पर समान रूप से लागू नहीं होता। समय की तीव्र गति से मानसिक प्रगति सदैव पिछड़ी हुई रहती है। यह भी इस साहित्य की रचना का एक कारण है। समाज के मध्यम वर्ग ने उसे बनाये रखने की चेष्टा की। प्राचीन गौरवशील साहित्य की परम्परा में होने के कारण उसका महत्व अवश्य है, परन्तु वह मृतप्राय हो चुका था। उसका अन्त हिन्दी साहित्य की एक महान् ऐतिहासिक घटना है।

अनुक्रमणिका

१—ग्रंथकार

२—ग्रन्थ